

ओ३म् ॥

मानवधर्ममीमांसाभूमिका ॥

लोकोपकारमनीषया संस्कृतभाषया लोकभाषया च

भीमसेनशर्मणा

व्याख्याता

राष्ट्रीयपालके मुद्रापयित्वा प्रकाशिता

प्रयाग

इस की रजिस्ट्री कराई गयी है किसी को छापने का अधिकार नहीं

सं० १९४९ उ०००

प्रथमवार १९००

मूल्य २)

डाकखर्च = ॥

मानवधर्ममीमांसाभूमिकायाविषयसूचीपत्रम् ॥

पृ० से पृष्ठ तक विषय ।

१—७—भाष्यबनाने का प्रयोजनरूप प्रस्ताव ।

८—१३—मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा ।

१४—२४—वे मनु कौन थे जिन्होंने इस धर्मशास्त्र का उपदेश किया ।

२५—३६—कब और किस ने इस मनुस्मृति को पुस्तकाकार में बनाया ।

३७—४२—सामान्यकर शास्त्र के विषय का विचार ।

४३—५२—धर्मशब्द के अर्थ का विचार ।

५३—६१—विधि, निषेध, अर्थवाद और सिद्धानुवाद का विचार ।

६२—७६—धर्म के लक्षणों की परस्पर उत्तमता निरुद्धता और मध्यमता का विचार ।

७७—८८—सृष्टिप्रकरण का सामान्य विचार ।

८९—९९—सृष्टिप्रसङ्ग में विरोध कहने वालों का समाधान ।

१००—१०६—मानसी और मैथुनी सृष्टि का भेद ।

१०७—११५—रचना के क्रम का विचार ।

११६—१२५—प्रथमाध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों का विचार ।

१२६—१३०—गर्भाधानादि संस्कारों का विचार ।

१३१—१३८—द्वितीयाध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों का विचार ।

१३९—१५०—विवाहनियोग और पुनर्विवाहों का विचार ।

१५१—१९४—पञ्चमहायज्ञ और आहुतर्पण का विशेष विचार ।

१५३—१६४—आहुत में पूज्य देव और पितर कौन हैं ? आहुत नित्य कर्म है वा नैमित्तिक ?

१६५—१८६—आहुतर्पणविषय में अनेक शङ्काओं का समाधान ।

१८७—१९४—पिण्डदान और अन्य के किये कर्म का फल अन्य को पहुँचता है वा नहीं इत्यादि विचार ।

१९५—१९९—तृतीयाध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों का विचार ।

२००—२०३—अनध्याय का विचार ।

२०४—२०९—दानधर्म का विवेचन ।

२१०—२१२—मूर्तिपूजा का विचार ।

२१३—२२२—चतुर्थाध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों का विचार ।

२२३—२३४—भक्त्याऽभक्त्य का विचार ।

मानवधर्ममीमांसाभूमिकायाविषयसूचीपत्रम् ॥

- २३५-२४७-मांस के खाने न खाने का विचार ।
२४८-२५४-सूतकशुद्धि और द्रव्यशुद्धि का विचार ।
२५५-२६४-पञ्चमाध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों का विचार ।
२६५-२६८-वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का विचार ।
२६९-२७७-राजधर्म विचार ।
२७८-२८२-सप्तमाष्टमाध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों की समीक्षा ।
२८३-२८९-दायभाग विचार ।
२९०-२९७-सपिण्डता और स्त्रीदाय का विचार
२९८-३०६-नवमाध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों का विचार ।
३०७-३३१-ब्राह्मणादि वर्ण जन्म से वा कर्मों से किस प्रकार मानने चाहिये इत्यादि का विचार ।
३३२-३३५-वर्णसङ्करों का विचार ।
३३६-३४१-आपदुर्म का विचार ।
३४२-३४६-दशर्वे अध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों की समीक्षा ।
३४७-३५२-प्रायश्चित्त का विचार ।
३५३-३५८-ग्यारहर्वे अध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों की समीक्षा ।
३५९-३६४-कर्मफल और मुक्ति का विचार ।

इति विषयसूचीपत्रम् ॥



प्रस्तावना ॥

प्रथम सब सज्जन महाशयों को यह जता देना उचित समझा गया कि इस मनुस्मृति पर भाष्य बनाने की क्या आवश्यकता थी क्योंकि पहिले तो इस पुस्तक की बनावट ही ऐसी कठिन नहीं है जिस को बड़े २ पण्डित ही समझते हों और साधारण लोग न जान सकते हों द्वितीय यदि थोड़ा भी संस्कृत न जानने वालों के लिये कुछ कठिन भी माना जावे तो संस्कृत के सात टीका आज कल प्रचरित हैं उन का नागरी, फारसी, अङ्गरेजी, और बँगलादि में भी अनुवाद हो गया है जिस से सब कोई इस का आशय जान सकते हैं फिर एक नया भाष्य और बना कर पोथा बढ़ाना व्यर्थ है ॥

इस का उत्तरदेने से पहिले यह अवश्य ध्यान में रखने योग्य है कि संसार की दशा सदा लौट पौट होती रहती है और सब प्राणीमात्र सदा अपने २ लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के हठाने का उपाय करते रहते हैं परन्तु अविद्या वा अज्ञान ऐसा व्याप्त है कि वह पण्डितों और अच्छे २ नामी विद्वानों को भी नहीं छोड़ता । अनेक लोग अपने वा अन्य सर्वसाधारण के लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के हठाने का उपाय समझ कर जिस काम का प्रारम्भ करते हैं वही कभी २ कहीं २ सुख का नाशक और दुःख का बढ़ाने वाला हो जाता है ॥

अर्थात् संसार में दुःखप्राप्ति का उपाय कोई नहीं करता तो भी दुःख अवश्य भोगने पड़ते हैं इस का मूल कारण अविद्या है । अज्ञान बड़ा प्रबल है इस का प्रवेश दूर तक होता वा हो रहा है अर्थात् लोक में जो ज्ञानी माने जाते हैं उन में भी वास्तविक ज्ञानी बहुत कम होते हैं और साधारण लोग जिम को अज्ञानी समझते हैं उन में भी कोई ज्ञानी होता है । यह मेरा कथन सिद्धानुयाद परक है किन्तु किसी प्रकार के विधि निषेध से सम्बन्ध नहीं रखता । इस लिखने से मेरा अभिप्राय यह है कि मनुस्मृति पर जितने भाष्य आज तक बने हैं उन सब भाष्य कर्त्ताओं ने गूढाशय खोलने के लिये यथाशक्ति उद्योग किया है और उन का विचार यह कदापि नहीं हो सकता कि हम किसी प्रकार देश वा आर्यसमुदाय की हानि करें तो भी अविद्या के प्रविष्ट रहने से और समय के बदल जाने से अब वे भाष्य वेदानुयायियों के लिये ठीक २ विशेष उपकारी नहीं रहे । किन्तु उन से अब किसी प्रकार धर्म में बाधा पड़ने लगी ।

सृष्टि क्रम की ओर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि किसी एकसमय, अथ-स्था, वा दशा में मनुष्य के लिये जो वस्तु उपकारी वा अनुकूल बनाया गया वही

समयान्तर अवस्थान्तर और दशान्तर में जाकर अपकारी वा प्रतिकूल हो जाता है। अर्थात् अनेक विषय वा वस्तु सब समय, अवस्था और दशाओं में सब के अनुकूल नहीं रहते इससे यह अभिप्राय नहीं है कि सार्वत्रिक हितकारी कोई वस्तु वा विषय है ही नहीं, किन्तु आशय यह है कि प्रायः पदार्थ वा विषय ऐसे हैं जिन में हेरफेर होता रहता है। इस में दृष्टान्त यह है कि शीत समय में रुई आदि के वा ऊन के वस्त्र तथा अग्नि का सेवन हितकारी उपकारी वा अनुकूल होता है वही सब ग्रीष्म ऋतु में अनुपकारी प्रतिकूल होजाता है। इसी प्रकार वाल्यावस्था में जो बालक्रीड़ादि उपकारी वा अनुकूल प्रतीत होती है वही युवावस्था वा वृद्धावस्था में अन्य कार्यों में आसक्तपुरुष को प्रतिकूल जान पड़ती है। इस दृष्टान्त का सारांश यह है कि लौकिक व्यवहारों में (जिन की धर्मशास्त्रों में व्यवस्था लिखी है वा उन का लौकिक व्यवहार की व्यवस्था करना ही विषय होने से लिखी जाती है) हेर फेर होता है जो व्यवहार कभी अनुकूल है वह कभी प्रतिकूल भी होजाता है। परन्तु सनातन वैदिकधर्म कभी अधर्म नहीं हो सकता इसी लिये वह सनातन कहाता है। अर्थात् परमेश्वर की सनातन आज्ञा कभी नहीं बदलती किन्तु मनुष्य के काम में हेर फेर हो सकता है ॥

और जिस समय जिस से जिस को सुख मिले वह उस समय उस के अनुकूल ही माना जाता है और मानना भी ऐसा ही चाहिये। यह तो दृष्टान्त रहा ॥

अब दार्ष्टान्त में ध्यान दीजिये कि जब तक इस आर्यावर्त्त देश में वेदमतानुयायी राजा रहे वेद विरोधी कोई मत प्रबल रहा नहीं तब तक वेद की वा तदनुकूल धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं को निर्विवाद मानते थे क्योंकि उस समय विवाद वा युक्ति लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी तब निर्विवाद मानना ही अनुकूल वा हितकारी था। परन्तु अब वह समय तथा हम लोगों की दशा नहीं रही अर्थात् अब वेद मत के द्वेषी अनेक मत शत्रुरूप से उपस्थित हैं। अब हम को वेदमत के सत्य ठहराने के कारण वा युक्तियाँ खोजने पड़ें, कोई धर्म सम्बन्धी विषय बिना विवाद अब नहीं माना जाता ॥

तथा आज तक जो टीकाकार इस मनुस्मृति पर हुए हैं उन्हीं से इस का वैसा गौरव भी नहीं हुआ जैसी कि इस की प्रतिष्ठा है। यह पुस्तक आर्य (हिन्दु) मात्र में अत्यन्त प्रतिष्ठित है जब कोई वेद विरोधी कहे कि आर्यधर्म में गोहत्या बड़ा अधर्म है तो मनुस्मृति के अ० ३। ३ में गोहत्या की क्यों आज्ञा है ? यह सुनकर आर्यों को लज्जित वा खुप होने पड़ता है यह नहीं कह सकते कि वह श्लोक क्षेपक है वा उस का उलटा वेसमझी से अर्थ किया गया है क्योंकि ऐसी योग्यता सझकी नहीं होती जो सत्यानृत्य की छान वीन कर सकें। यह उदाहरणमात्र दिया ऐसे अनेक दोष वर्त्तमान टीकाओं से इस ग्रन्थ में लग गये हैं। आशा है कि इस मेरे टीका से दोष मिट जायेंगे और कोई वेद विरोधी फिर आक्षेप न कर सकेगा ॥

द्वितीय कारणवाद की आवश्यकता विशेष है किसी प्रकार का विधि वा निषेध किया गया तो वहां टीकाकारों को दिखाना चाहिये कि यह विधि वा निषेध क्यों किया गया ? ऐसा करने से क्या लाभ और न करने से क्या हानि होगी इस के बिना ऊट पटाङ्ग वा फीकापन प्रतीत होता है इस समय मनुष्यों के चित्त में कारणवाद अच्छे प्रकार घुसा है कि यह काम इस प्रकार क्यों करना वा न करना चाहिये ? करने से क्या लाभ वा क्या हानि है ।

तृतीय इस पुस्तक में पीछे २ अनेक लोगों ने ऐसी बातें मिला दी हैं कि जिस से कर्त्तव्य धर्म में बड़ी बाधा पड़ती है उन का निर्णय प्रमाण पूर्वक किसी टीकाकार ने नहीं किया इससे इस देश की बड़ी हानि हुई और हो रही है । इस का विचार आगे उपोद्घात में किया गया है ।

और एक बात यह भी विचारणीय है कि यद्यपि यह ग्रन्थ सुगम सरल संस्कृत भाषा में पद्यरूप से बना है तो भी आर्ष अर्थात् ऋषिप्रणीत होने से इस का आशय गूढ़ है । अब तक बने हुए टीकाओं में ठीक २ आशय नहीं खोला गया । प्रयोजन यह है कि मानवधर्मशास्त्र का अभिप्राय ठीक २ बताया जाय कि अमुक २ विषय के इस प्रकार सेवन करने से ऐसा २ लाभ वा सुख मिल सकता है सो ठीकर नहीं बताया गया । द्वितीय जितना कुछ लोगों ने लिखा भी है उस का ठीक २ अनुवाद आर्यभाषा में नहीं हुआ जिस से सर्वसाधारण का उपकार होता किसी एक दो टीका का भाषान्तर हुआ है उस के दोष भी नागरी उर्दू आदि में होकर सब में फैल गये इन की निवृत्ति इस भाष्य से हो जायगी इत्यादि प्रकार की अनेक आवश्यकता समझ कर मैंने इस कार्य का प्रारम्भ किया है ।

और यदि किसी अंश में वर्त्तमान भाष्यों को उपकारी भी मान लिया जाय तो वे सब के लिये वैसे उपकारी नहीं हो सकते जैसे कि होने चाहिये क्योंकि सब विषय सब के उपकारी नहीं होते अर्थात् मांस खानेकी पुष्टि दिखाना मांसाहारी हिंसक अधर्मियों को अनुकूल जान पड़ेगा परन्तु मांस बर्जी धर्मात्माओं को प्रतिकूल वा अनुपकारी होगा परन्तु विशेष कर वेद धर्म को मानने वा वृद्धि चाहने वाले देशहितैषी सब धर्मात्मा लोगों के लिये मेरा भाष्य उपकारी होगा उन के लिये वर्त्तमान भाष्य वास्तव में उपकारी नहीं हैं यह अर्थापत्ति से सिद्ध होगया ॥

और सनातन से यह परिपाटी प्रवृत्त है और सब विद्वान् लोग मानते भी हैं कि पहिले बने हुये वस्तुओं की अपेक्षा नवीन वस्तु इस लिये अच्छा होता और माना जाता है कि वह पहिले में वर्त्तमान न्यूनताओं की देख कर उन को हटाने के लिये और पहिले बने वस्तु से जो २ हानि दीख पड़ती है उस की निवृत्ति के लिये बनाया जाता है और वास्तव में यदि बनाने वाला विचारशील हो तो

पहिले की अपेक्षा नवीन बना वस्तु सब के लिये अत्यन्त उपकारी होता है क्योंकि वह सामयिक मनुष्यों की अभिलाषाओं को देख कर उन की इच्छा पूर्ति करने और सन्तोष कराने के लिये ही बनाया जाता है। यद्यपि यह दृष्टान्त भाष्य बनाने में ठीक २ नहीं घटता क्योंकि भाष्य कोई नवीन वस्तु नहीं तो भी इतने अंश में अवश्य घटता है कि मनुधर्मशास्त्र पर जैसे विचार की इस समय आवश्यकता है वैसा कोई भाष्य नहीं बना। जो भाष्य बने हैं वे अपने २ समय के अनुसार बने हैं। इस लिये मुक्त की इस शास्त्र पर भाष्य बनाने की आवश्यकता हुई और अनेक महाशयों ने मुक्त को सम्मति भी दी कि इस पुस्तक पर ऐसा भाष्य अवश्य बनाना चाहिये जिस से सत्यासत्य की खान बिन होजावे और इस के प्रमाण से वेदोक्त आर्यधर्म में जो कुछ धवा लगते हैं उन को छुड़ाया जावे। इत्यादि विचार से मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ।

मैं इस पुस्तक पर जो कुछ व्यवस्था लिखूँ उस की कोई महाशय हठ पूर्वक न समझे किन्तु सत्य वेदमत की पुष्टि करने के लिये मैं अपनी सम्मतिमात्र लिखता हूँ। यदि कोई विद्वान् लोग मेरी सम्मति को देख कर कहीं अनुचित प्रतीत करावे वा मुक्त को ही पीछे किसी प्रकार की भूल प्रतीत होगी तो निस्संदेह आग्रह छोड़ कर उस की अगली आवृत्ति में सुधार दूंगा। संसार में अज्ञानी लोगों की यही चाल है कि वे अपनी बात पर सदा हठ करते हैं जो बात एक बार मुख से वा लेखनी द्वारा निकल जावे उस को सदा सत्य ठहराने के उद्योगमें लगे रहते हैं। वह बात भले ही असत्य हो। पर विद्वान् लोगों की यह चाल नहीं है कि वे हठ करें। मैंने भी विद्वानों का सङ्ग वा कुछ सेवा की है इस से मेरा भी विचार हठ की ओर नहीं है। और सब मनुष्यजातिमात्र का मुख्य कर्त्तव्य यही है कि सदा सत्य का जय और असत्य का पराजय करने में उद्योग किया करें। मेरा विचार यह कदापि नहीं है कि मैं इस धर्मशास्त्र के किसी विषय पर खण्डन मण्डन ऐसा करूँ जिस से उस विषय के मानने वालों को किसी प्रकार का दुःख पहुंचे किन्तु जिस विषय को मैं वेदविरुद्ध समझता हूँ वा समझूँ गा उस पर वैसी सम्मति अवश्य लिखूँगा। यदि कोई महाशय मुझे उस विषय का वेदानुकूल होना समझा देंगे तो अवश्य मान लूँगा और अपनी सम्मति को स्वयमेव लौट दूँगा।

मैं वेद का सिद्धान्त सत्य ही समझता हूँ कि जो सत्य है वही वेद का सिद्धान्त है। इस में केवल विवाद इतना थाकी रह जाता है कि सत्य का लक्षण क्या है ? तो विचार करने से ठीक यही ठहरता है कि जो सदा एकरस बना रहे जिस के स्वरूप में कभी भेद नहीं पड़ता वही सत्य है। ऐसा पदार्थ मुख्य तो एक परमात्मा है जो सदा एकरस ही बना रहता है। तथा अन्य भी जो पदार्थ स्वरूप से बनते विगड़ते नहीं वे भी सत्य ही माने जाते हैं। और सनातनधर्म

भी सत्य इसी लिये कहाता है कि वह सदा कर्त्तव्य ही है उस का सेवन कभी किसी को हानि कारक नहीं होता । और धर्मसम्बन्धी जो व्यवहार देश, काल, वस्तु भेद से तथा समय के बदल जाने से अनुपकारी होजाते हैं वे यद्यपि सत्य शब्द के अर्थानुसार सत्य नहीं हैं तो भी असत्य में सत्य रहताही है जैसे धर्म में अधर्म और अधर्म में धर्म रहता है अर्थात् अनेकस्थलों में दोनों विषय मिले रहते हैं वहां जिस समय जिस कर्त्तव्य से उपकार वा सुख अधिक वा प्रबल माना जाता है वही सत्य और जिस से निर्बल वा न्यून उपकार हो वह असत्य समझा जाता है । इसी विचार से किन्हीं महात्मा ने सत्य का लक्षण यह भी किया है कि—

सत्यं हि तद्भूतहितं यदेव ॥

अर्थात् जिस से प्राणियों का हित वा उपकार हो वही सत्य है । मैं सब प्रकार से सत्य को आगे करके भाष्य करूंगा और अपनी सम्मति प्रकट करूंगा मैं इस पुस्तक सम्बन्धी विषयों पर अपनी सम्मति लिख कर विचारपक्ष खड़ा करता हूं सब सज्जन विद्वान् लोग विचार करें कि यह लेख सत्य है वा नहीं और जैसी मैं प्रतिज्ञा करता हूं वैसा है वा नहीं परन्तु कोई महाशय अपने चित्त में किसी प्रकार का पक्षपात न रखें किसी एक पक्ष के आग्रही बन कर देखने से बह बात प्राप्त न हो गी जो मेरे लिखने का अभिप्राय है अर्थात् मेरा अभिप्राय यही है कि इस धर्मशास्त्र से प्राणियों का हित वा उपकार हो किन्तु यह विचार मेरा नहीं कि किसी एक मत की मैं पुष्टि करूंगा परन्तु मेरा प्रयोजन यह अवश्य है कि वेदमत की पुष्टि इस से हो क्योंकि प्रसिद्धि में यह लिखा भी है कि वेद के अनुकूल मानवधर्मशास्त्र बनाया गया वेद की आज्ञाओं का व्याख्यान प्रकारान्तर से बना है । इसी बात को मैं भी पुष्ट करना चाहता हूं ।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥

कस्यचिद्ब्राह्मणादेर्विशेषवर्णस्य सामान्यस्य वा कश्चिदध्ययनाध्यापनादिरहिंसासत्यादिर्वा धर्मो मनुना परिकीर्तितः परितः सर्वत उपदिष्टो न तु कुत्रचिल्लिखितः स सर्वो धर्मो वेदेऽभिहितः कथितोऽस्ति कुतः स वेदः सर्वज्ञानमयः सर्वविद्यानां स्वरूपएवास्ति । वेदादेव सर्वा विद्या निस्सृता निस्सरन्ति निस्सरिष्यन्ति च । अनेनैतदुक्तं भवति—मनुना यत्किमप्युक्तं स सर्वो धर्म एवास्ति नतु क्वाप्यधर्म उक्तइति । तस्य च धर्मस्य वेदएव मूलम् । एवं समूलस्य

धर्मस्य व्याख्यानं मयापि कार्यमिति मनस्याधाय भाष्यकरणोद्यो-
गमहमकार्षम् । सोऽयं ममाल्पशक्तेः प्रयासः सर्वस्वामिपरमात्मकृ-
पातः सफलो लोकानामुपकारको भवत्वित्याशासे ॥

भा०—मनुस्मृति पुस्तक में स्वयमेव प्रतिज्ञा लिखी है कि महर्षि महात्मा धर्ममूर्ति मनु महाराज ने जो कुछ ब्राह्मणादि का पढ़ना पढ़ाना वा अहिंसा और सत्य का आचरण आदि सामान्य विशेष धर्म सरल रीति से समझाने पूर्वक उप-
देश किया है किन्तु उन्होंने ने यह धर्म कहीं लिखा नहीं था (इस का विशेष विचार आगे उपोद्घात में किया गया है) वह सब धर्म परमेश्वर ने पहिले से ही कथन कर रक्खा है अर्थात् जब धर्मशास्त्र का उपदेश हुआ उस से पहिले वह धर्म-
ज्ञान मूलरूप से वेद में उपस्थित था क्योंकि वेद सब ज्ञानस्वरूप सब विद्याओं का भण्डार है सब विद्या वेद से निकली, निकलती और निकलेंगी। (यदि कोई शङ्का करे कि वेद में यह धर्म व्यवस्था जो मनु ने उपदेश की पहिले से थी तो फिर पुस्तक क्यों बनाया ? इस का उत्तर यह है कि वह व्यवस्था जैसी दशा में पीछे बनाई गई वैसी वेद में नहीं थी किन्तु मूलरूप से सूक्ष्म संकेतमात्र विचार वेद में था उस से सब कोई ऐसी व्यवस्था नहीं निकाल सकता इस को निकालना मनु जैसे वेदपारगन्ता का ही काम था। जब वेद में सब विद्या मानी जाती हैं तो यदि उस में सब का पूरा २ व्याख्यान किया होता तो वेद की समाप्ति होना ही दुस्तर थी इस लिये परमेश्वर ने मूलरूप से सब विद्याओं का उपदेश वेद द्वारा किया पीछे ऋषियों ने एक २ विषय की व्याख्या एक २ शास्त्र में की है) इस कहने से अभिप्राय यह है कि मनु महाराज ने जो कुछ कहा है वह सब धर्म ही है। और धर्म का मुख्य लक्षण यही है कि जिस के सेवन से मनुष्य को सुख प्राप्त हो वह धर्म और जिस का परिणाम वा फल दुःख हो वही अधर्म है अर्थात् मनु महाराज ने ऐसा कुछ भी उपदेश नहीं किया जिस के सेवन से किसी की हानि वा दुःख हो यदि ऐसा कहीं इस पुस्तक में विषय आवे तो जानना चाहिये कि वह किसी स्वार्थी प्रमादी वा अज्ञानी ने कल्पित कर के उस में मिलाया है। मनु जी ने जो धर्म संसार की व्यवस्था सुधारने, दुःख हटाने और मनुष्यमात्र को सुख पहुँचा ने के लिये उपदेश किया है उस का मूल वेद है इस से यह भी सिद्ध है कि जिस का मूल वेद हो वही धर्म है और इस पुस्तक में ऐसा कोई विषय वा प्रकरण हो जो वेद से विरुद्ध हो उसी विषय पर वेद में जो लेख हो उस से विपरीत मनुस्मृति में हो तो वह इसी प्रतिज्ञा के अनुसार मनु का उपदेश नहीं समझा जायगा।

और कोई ऐसा विषय धर्मशास्त्र में कहा गया जिस का मूल वेद में नहीं मिलता और न उस का विरोधी वचन मिलता है तो वह वेदविरुद्ध नहीं

समझा जायगा। क्योंकि उस का मूल वेद में खोजने से मिलना सम्भव है। इस के साथ यह भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि जिस का मूल वेद में नहीं मिलता उस के होने से संसार का कुछ विशेष उपकार है वा अपकार। यदि उपकार है तो उस को वेदानुकूल अवश्य मानना चाहिये क्योंकि वेद का भी मुख्यअभिप्राय यही है कि उस से प्राणियों को सुख लाभ हो। इस दशा में वह वेद से विरुद्ध कदापि न माना जावेगा। वेद में उस का मूल न मिलने में मनुष्य की अल्पज्ञता भी कारण हो सकती है। और यदि वह विषय अनुपकारी दुःख पहुँचाने वाला है तो वेदानुकूल प्रतीत होने पर भी वेद विरुद्ध ही माना जायगा क्योंकि वहाँ भी वेदानुकूल प्रतीति होने में मनुष्य की अल्पज्ञता कारण हो सकती है। अर्थात् वेद से विरुद्ध वही समझा जायगा कि जिस विषय में वेद में लिखा हो कि अग्निहोत्र वा यज्ञ करना सर्वोत्तम है उसी को धर्मशास्त्र कहे कि यज्ञ करना नीच काम है। एक विषय में भिन्न २ कहना विरोध कहाता है किन्तु विषयान्तर में विरोध नहीं होता। इस अंश में पूर्व भीमांसा शास्त्र में लिखा है कि—

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥

स्मृति का कथन वेद से साक्षाद् विरुद्ध दीख पड़े तो वह अनपेक्ष्य—त्याज्य है और विरोध न हो तो अनुमान करना चाहिये कि इस स्मृति के वचन का मूल वेद में होगा परन्तु ऊपर लिखे अनुसार हानि लाभ का विचार अवश्य कर लेना चाहिये। इसी के अनुसार मेरा भी विचार है कि जहाँ तक सम्भव हो वेद के साथ इस की अनुकूलता दिखाकर अनुकूल वा विरुद्ध ठहराऊँ। और अपनी विद्या बुद्धि वा शक्ति के अनुसार ऊपर लिखे क्रम से इस धर्मशास्त्र का भाष्य कर के संसार के उपकार का साथी बनूँ। इस मेरे मनोर्थ को सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता परमेश्वर ही पूरा करेगा।

मेरा विचार यह नहीं है कि मेरे लेख को किसी निज समुदाय वा मत वाले ही लोग देखें सब कोई न देखे क्योंकि यह भाष्य किसी निजमत की पुष्टि के लिये नहीं बनाया है किन्तु वैदिकसिद्धान्त की पुष्टि के लिये किया गया है और वेद सब मतों में मान्य ही है इस से मेरा विचार है कि सब वेदानुयायी महाशय मेरी सम्मति को देखें और निष्पक्ष होकर विचार करें कि सत्य क्या है ?। जिस से संसार के सुधार का उपाय शोधा जावे मैं अब इस विषय को समाप्त कर के आगे उपोद्घात लिखने का प्रारम्भ करता हूँ जिस से सब लोगों को इस ग्रन्थ का सारांश ज्ञात होगा आशा है कि मैंने जैसे परिश्रम से इस का विवेचन किया है वैसे ही कृपादृष्टि से लोग इस को देखेंगे। पहिले जो विषय उपोद्घात में विचार के लिये नियत किये हैं उन की नामावली यहां क्रमशः लिखता हूँ पीछे यदि अन्य कोई विषय बढ़ेगा तो उस का नाम भूमिका के अन्त में लिख दिया जायगा ॥

अथ भूमिकास्थ विचारणीयविषयाणां सूचीपत्रम् ।

- १—कोऽयं मनुर्नाम येनेदं शास्त्रमनुशिष्टम् ।
- २—कदा किमर्थं च शास्त्रमिदं तेन स्मृतं कदा च पुस्तका-
कृतिमापत् ।
- ३—शास्त्रस्य सामान्यतया विषयविचारः ।
- ४—विधिनिषेधसिद्धानुवादार्थवादानां विचारः ।
- ५—धर्माणामुत्तममध्यमनिकृष्टत्वे सापेक्षत्वप्रदर्शनम् ।
- ६—शास्त्रस्य क्रमप्राप्तविषयविचारे सृष्टेः पर्यालोचनम् । प्रथ-
माध्यायसमीक्षा च ॥
- ७—ब्रह्मचर्याश्रमविचारे तत्रस्था द्वितीयाध्यायसमीक्षा च ।
- ८—गृहाश्रमविचारे विवाहनियोगपुनःसंस्काराणां समीक्षणम् ।
- ९—पञ्चमहायज्ञेषु तर्पणश्राद्धयोर्विशिष्टो विचारः ।
- १०—पठनपाठनविषयेऽनध्यायविचारः ॥
- ११—दानधर्मविवेचनम् । चतुर्थाध्यायसमीक्षणं च ।
- १२—पूजोपासनाविषये मूर्तिपूजाविचारः ।
- १३—भक्ष्याभक्ष्यविवेचनम् । द्रव्यसूतकयोः शुद्धिविचारः ।
- १४—मांसभक्षणे विधिनिषेधविचारः । पञ्चमाध्यायसमीक्षणं च ।
- १५—वानप्रस्थसंन्यासविचारः । षष्ठाध्यायसमीक्षा च ।
- १६—राजधर्मविचारसंक्षेपः । सप्तमाष्टमसमीक्षा च ।
- १७—दायभागविचारः । नवमाध्यायसमीक्षा च ।
- १८—ब्राह्मणादीनां वर्णानां विचारः ।
- १९—वर्णसङ्करविचारः ॥
- २०—आपद्धर्मविषयविचारः । दशमाध्यायसमीक्षा च ।
- २१—प्रायश्चित्तविवेचनमेकादशाध्यायसमीक्षा च
- २२—कर्मफलविचारः । द्वादशाध्यायसमीक्षा च ।

अथ मानवधर्मशास्त्रस्योपोद्घातः ॥

विद्या यस्य सनातनी सुविमला, दुःखौघविध्वंसिनी ।
वेदाख्या प्रथितार्थधर्मसुगमा कामस्य विज्ञापिका ॥
मुक्तानामुपकारिणी सुगतिदा, निर्वाधमानन्ददा ।
तस्यैवानुदिनं वयं सुखमयं भर्गः परं धीमहि ॥ १ ॥
यस्माज्जातमिदं विश्वं यस्मिंश्च प्रतिलीयते ।
यत्रेदं चेष्टते नित्यं तमानन्दमुपास्महे ॥ २ ॥

यदेव वेदाः पदमामनन्ति तपांसि यस्यानुगतास्तपन्ति ।
शास्त्रं यदाप्तुं मुनयः पठन्ति तस्यैव तेजः सुधियानुचिन्त्यम् ॥ ३ ॥
दिक्कालाकाशभेदेषु परिच्छेदो न विद्यते ।
यस्य चिन्मात्ररूपस्य नमस्तस्मै महात्मने ॥ ४ ॥
सर्वासां सत्यविद्यानां मूलं वेदो निरुच्यते ।
तस्यापि कारणं ब्रह्म तेन सृष्टौ प्रचारितः ॥ ५ ॥
तस्य वेदस्य तत्त्वं हि मनुना परमर्षिणा ।
तपः परं समास्थाय योगाभ्यासगतात्मना ॥ ६ ॥
सारांशमखिलं बुद्ध्वा लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मः सनातनः स्मृत आपद्धर्मश्च कालिकः ॥ ७ ॥
प्रचाराधिक्यमापन्नः पुरा धर्मः सनातनः ।
आसीदास्थाय सत्यां तां गुरुशिष्यपरम्पराम् ॥ ८ ॥

या पश्चाच्छललोभाभ्यां मोहेन कलहेन वा ।
 अविद्योपासनेनापि ब्रह्मचर्यादिवर्जनात् ॥ ९ ॥
 स्वार्थसाधनरागेण धर्मस्य परिवर्जनात् ।
 अधर्मसेवनेनापि नष्टा सत्या परम्परा ॥ १० ॥
 तदा नानामतान्यासन् मनुष्याणामितरेतरम् ।
 श्रौतस्मार्तस्य धर्मस्य नाशस्तेनाभवत्पुनः ॥ ११ ॥
 स्वस्य स्वस्य मतस्यैव प्रचाराय पुनस्तदा ।
 विरुद्धपक्षसंसर्गैर्ग्रन्थानां निर्मितिः कृता ॥ १२ ॥
 ये च वेदानुगा ग्रन्थाः शुद्धा दृष्टा मतानुगैः ।
 तत्रापि सजितं वाक्यं स्वमतस्यैव पोषकम् ॥ १३ ॥
 तस्माच्च शुद्धग्रन्थनामार्पाणां श्रौतधर्मिणाम् ।
 धृतवर्णाश्रमतत्त्वानामद्य प्राप्तिः सुदुर्लभा ॥ १४ ॥
 यादृशाश्रोपलभ्यन्ते ग्रन्थाः परमर्षिनामतः ।
 तत्रापि निर्मितं भाष्यं तैरेव स्वमतानुगम् ॥ १५ ॥
 धर्मस्य वर्णनं तत्र सम्यङ्नैवोपलभ्यते ।
 मतवादं पुरस्कृत्य पक्षपातश्च वर्णितः ॥ १६ ॥
 तर्केणानुसन्धानं मनूक्तं नोपलभ्यते ।
 श्रौतस्मार्तस्य धर्मस्य तेषु भाष्येषु पश्यतः ॥ १७ ॥
 अतोऽहं बहुभिराज्ञप्तः सज्जनैर्धर्मवेदिभिः ।
 स्वयं चाप्यनुसन्धाय दृष्ट्वा च धर्मविष्ठवम् ॥ १८ ॥
 मानवस्यास्य शास्त्रस्य वेदानामनुगामिनः ।
 भाष्यारम्भं करोम्यद्य लोकानां हितमाचरन् ॥ १९ ॥
 भियःपुग्वेत्यपादाने निष्पन्ना पुगभावतः ।

तादृशी यस्य सेनास्ति तन्नाम्नेदं वितायते ॥ २० ॥

यद्यप्येतादृशी शक्तिर्मयि मन्दे न विद्यते ।

तथापि तत्तुमिच्छामि सत्यष्टवेन सागरम् ॥ २१ ॥

सत्यो हि जगदाधारस्तस्य चैवानुचिन्तनात् ।

सत्यधर्मप्रचाराय बुद्धिं मे प्रेरयिष्यति ॥ २२ ॥

नराणामल्पशक्तित्वात्सर्वज्ञो नास्ति कश्चन ।

विद्याब्धिवेदमूलेन विना चिन्मात्रमूर्तिना ॥ २३ ॥

तस्मात्क्वापि विरुद्धं चेत्प्रमादादिसूक्ष्मम् ।

गुणानुरागिभिस्त्याज्यं ज्ञात्वा नीचैरुपासितम् ॥ २४ ॥

भाषार्थः—अब प्रस्तावना लिखने पश्चात् मानव धर्म शास्त्र की मुख्य भूमिका का प्रारम्भ किया जाता है । इस लिये शिष्ट लोगों की परिपाटी अर्थात् ऋषि महर्षि लोगों की आज्ञानुसार कि सब शुभ कार्यों के प्रारम्भ में सब के स्वामी परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना वा ध्यान करना चाहिये कि जिससे उसकी कृपा हो कर बुद्धि निर्मल वा शुद्ध हो सकती है इसी कारण उस कार्य का अच्छा बन जाना सम्भव है । इस लिये हम को भी प्रथम परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये इस कारण पहिले मङ्गलाचरण किया है ।

सब दुःखों के समुदाय का ध्वंस नाश करने वाली जिसके होने से धनादि पदार्थ और सुगम रीति से धर्म प्राप्त हो सकता है जिसमें धर्मानुकूल स्त्री सम्बन्ध रूप काम की आज्ञा है । जो ठीक २ तत्त्वज्ञान होने से मुक्तों का उपकार करने वाली उसके अनुकूल चलने वाले संसारी जनों को जन्मान्तर में अच्छी गति देने वाली और सब बाधाओं से रहित आनन्द की दाता निर्मल शुद्ध सनातन वेद नामक जिसकी विद्या संसार में प्रकट हुई है उसके सुख स्वरूप सर्वोत्तम ज्ञानमय तेज का हम लोग प्रति दिन ध्यान वा धारण करें ॥ १ ॥ जिस सर्वनियन्ता परमेश्वर से यह प्रत्यक्ष चित्र विचित्र अनेक प्रकार की शिल्पविद्या का दिखाने वाला जगत् उत्पन्न हुआ जिस में नियम पूर्वक स्थित हो कर चेष्टा करता और जिस में सब लय हो जाता है उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म की हम लोग उपासना करें ॥ २ ॥

जिसके अधिकार वा महत्त्व का सब वेद वर्णन करते अर्थात् कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से सब वेदों में जिसका वर्णन है और जिस को प्राप्त होने की इच्छा से जिज्ञासु लोग तप करते तथा जिसको प्राप्त होने के लिये ऋषि मुनि जन वेदादि शास्त्रों को पढ़ते हैं विचार शील पुरुषों को उसी के तेज का चिन्तन करना चाहिये ॥ ३ ॥ दिशा काल और आकाश के भेदों में जिसका परिच्छेद नहीं अर्थात् किसी निज पूर्वोदि दिशा किसी निज क्षणादि काल और किसी निज अवकाश में जो नहीं रहता किन्तु सब दिशा, काल और अवकाशों में विद्यमान है उस चेतन मात्र स्वरूप सर्वव्याप्त परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ ४ ॥ सब सत्य विद्याओं का मूल वेद माना जाता है उस वेद का भी मूल कारण ब्रह्म है क्योंकि उसी परमेश्वर ने संसार में वेदों का प्रचार कराया ॥ ५ ॥ योगाभ्यास में तत्पर महर्षि मनु महाराज ने प्रबल उत्कृष्ट तप का आश्रय ले कर और उस वेद का मुख्य सारांश अभिप्राय जान कर संसार के उपकार की कामना से सनातन धर्म का तथा समयानुकूल आपत्काल में सेवने योग्य आपद्धर्म का स्मरण अर्थात् वेद से विचार कर प्रकट किया ॥ ६ । ७ ॥ वह सनातन धर्म पूर्वकाल में गुरु शिष्य की उस सत्य परम्परा के आश्रय से अधिक कर प्रचरित था । अर्थात् पूर्वकाल में सृष्टि के आरम्भ से पुस्तकों के बिना ही वेदादिस्थ विद्या और धर्म के उपदेश गुरु शिष्य की निरन्तर चलने वाली प्रणाली से चलते थे ॥ ८ ॥ जो परम्परा पीछे छल, कपट, लोभ, मोह, कलह, अविद्या के सेवन, ब्रह्मचर्यादि के छोड़ने' स्वार्थ साधन में तत्पर होने' धर्म के छोड़ देने और अधर्म का सेवन करने से वह सत्य परम्परा नष्ट हो गई ॥ ९ । १० ॥ उस समय परस्पर मनुष्यों में नाना प्रकार के मत चले उस से वैदिक और स्मार्त धर्म का और भी नाश हुआ ॥ ११ ॥ उस समय परस्पर विरुद्ध मतों में आसक्त लोगों ने अपने मत का प्रचार करने के लिये अपनी २ इच्छा के अनुसार ग्रन्थों का निर्माण किया ॥ १२ ॥ और मतवादी लोगों ने जो वेदानुकूल शुद्ध ग्रन्थ देखे उनमें भी अपने २ मत के पोषक वाक्य मिला दिये ॥ १३ ॥ इसी कारण से जिनमें वर्णाश्रम धर्म का स्पष्ट आशय धरा गया था ऐसे वैदिक धर्म के ऋषि प्रणीत शुद्ध ग्रन्थों का मिलना अब दुर्लभ हो गया ॥ १४ ॥ शुद्ध ग्रन्थों में मतवादियों ने इस लिये अपने मत के पोषक वचन मिलाये कि जिस से हमारा मत निर्मूल न समझा जावे किन्तु प्रतिष्ठित वेदमूलक ग्रन्थों में मिल जाने से सनातन माना जावे और हम को कोई न पकड़ सके ।

अब जैसे कुछ ग्रन्थ ऋषियों के नाम से मिलते हैं उन पर भी उन्हीं लोगों ने अपने २ मत की पुष्टि परक व्याख्या बनाईं । यद्यपि व्याख्या करने वालों का भीतरी अभिप्राय यह नहीं था कि हम इस शास्त्र में अपना मत घुसेड़ें तो भी उन २ का अन्तःकरण उस २ मत के रङ्ग से रंगा होने के कारण वैसे ही भाष्य भी बनाये गये ॥ १५ ॥ उन भाष्यों में ठीक २ धर्म का वर्णन जैसा होना चाहिये प्राप्त नहीं होता । और कहीं २ अपने २ मत के आश्रय से पक्षपात भी वर्णन किया गया है ॥ १६ ॥ इस मानवधर्मशास्त्र में तर्क पूर्वक धर्म का निर्णय करने के लिये (यस्तर्कणानुसन्धत्ते) इत्यादि वचनों में स्पष्ट आज्ञा लिखी है उसके अनुसार वेद सम्बन्धी और धर्म शास्त्र सम्बन्धी धर्म का वर्णन उन भाष्यों में देखने वाले को प्राप्त नहीं होता जिस से आज कल के धर्म का निर्णय चाहने वाले मनुष्यों को सन्तोष हो ॥ १७ ॥ इसी से अनेक धर्मज्ञ और सज्जन लोगों ने मुक्त को आज्ञा वा सम्मति दी तथा मैंने भी विचार किया कि वास्तव में ऐसी दशा होने से मुक्त को इस पर यथाशक्ति विचार करना चाहिये और मैंने यह भी विचार कि ऐसा न करने से अब दिन २ धर्म की हानि होती जाती है । धर्म शास्त्र में आज्ञा है कि धर्म की हानि होती हो तो ब्राह्मणभी शास्त्र को ग्रहण करें । और विद्वानों का शास्त्र वाणी वा विद्या ही है कि जिस से अधर्म का ध्वंस हो सकता है [शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते । वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः] इत्यादि प्रकार के विचार से लोक का उपकार होना मान कर मैं अब वेदों के अनुयायी इस मानव धर्म शास्त्र के भाष्य का प्रारम्भ करता हूँ ॥ १८ । १९ ॥ बीश में श्लोक में मेरा नाम [भीमसेन—शर्मा] व्याकरण के अनुसार दिखाया गया है ॥ २० ॥ यद्यपि मुक्त मन्द बुद्धि में ऐसी शक्ति नहीं है जो वेदानुकूल धर्म का ठीक २ निर्णय कर सकूँ तो भी सत्यरूप नौका के आश्रय से इस मानव धर्म शास्त्र रूप समुद्र के पार होना चाहता हूँ ॥ २१ ॥ और वही सब जगत् का आधार सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ही मुख्य कर सत्य है उसका स्मरण ध्यान स्तुति प्रार्थनादि करने से सत्य धर्म का प्रचार होने के लिये वह परमेश्वर मेरी बुद्धि को अवश्य प्रेरणा करेगा ॥ २२ ॥ सब विद्याओं का सागर जो वेद उसके कर्ता चेतनमात्र स्वरूप एक परमेश्वर को छोड़ कर अन्य कोई भी सर्वज्ञ नहीं है किन्तु सभी मनुष्य अल्पज्ञ हैं । इस कारण मेरे भाष्य में प्रसादादि से कहीं विरुद्ध वा दूषित लेख किन्हीं महाशयों वा विद्वानों को जान

पड़े तो गुणानुरागी लोगों को वह दोष छोड़ देना चाहिये क्योंकि अच्छे लोगों का स्वाभाविक धर्म यही है कि वे दूसरे के गुणों को अच्छा समझ के उस के सहकारी बनते हैं । और कोई दोष जान पड़ता है तो छोड़ देते हैं क्योंकि दोषों का ग्रहण करना नीच पुरुषों का काम है । और यह भी हो सकता है कि जैसे प्रमादादि से मेरा लेख कहीं दूषित होजावे वैसे प्रमादादि के होने से मेरे निर्दोष लेख को भी कोई विरुद्ध मान सकता है इस लिये विचारशीलों को उचित है कि यदि कहीं विरुद्ध जान पड़े तो प्रथम सुक्त से ही पूछ देखें यदि भूल होगी तो मैं स्वयं मान लूंगा । और वह ठीक हो जायगा ॥ २३ । २४ ॥

अथ कोऽयं मनुर्नाम येनेदं शास्त्रमनुशिष्टम् ? । मनुर्नाम कश्चित्पुरुषविशेषोऽनेकवेदशाखाध्ययनविज्ञानानुष्ठानसम्पन्नः स्मृतिपरम्पराप्रसिद्धइति मेधातिथिः । सकलवेदार्थादिमनान्मनुरिति कुल्लूकः । मनुः स्वायम्भुवइति नन्दनः । मनुर्नाम महर्षिरशेषवेदार्थादिज्ञानेन प्राप्तमनुसंज्ञ आगमपरम्परया सकलविद्वज्जनकर्णगोचरीभूतसर्गस्थितिप्रलयाधिकृतइतिगोविन्दराजः । मनुः कुत्रचिद्ब्रह्मणः पौत्रः । कुत्रचित् प्रजापतिः । कुत्रचित् ७।४२ मध्ये कश्चिद्वाजा । कुत्रचित् १२।१२३मध्ये साक्षाद्ब्रह्मेत्युक्तमस्मिन्नेव निबन्धे तेन निश्चेतुमशक्यं कोऽयं मनुरासीदिति वेवरसाहवः । इत्येवं प्रकाराणि परस्परं व्याहतानि वचांस्यस्मिन्प्रसङ्गउपलभ्यन्ते । तत्रायं निर्णयः श्राव्यः । आदिसृष्टौ कल्पान्तरीयसंस्कारैः संस्कृतात्मा पूर्वाभ्यस्तविद्यया वेदार्थज्ञानेतीब्रबुद्धिः पूर्वकल्पानुष्ठितपुण्यसमुच्चयेन शुद्धान्तःकरणोद्धृततेजस्कश्चतुर्वेदवित् सर्वव्यवहारपरमार्थज्ञानकुशलो मनुष्येषु सूर्यइव तेजस्वी तपश्चरणयोगाभ्यासतत्परो मननशीलो मनुर्नाम महर्षिरासीत्तस्यैवापरं नाम ब्रह्माऽप्यासीदिति हेतुभिरेवानुमीयते । अतएव तस्य स्वायम्भुवइत्यपि नाम संजायटीतीति । स्वयम्भूः परमेश्वरः स्वयमेव स सृष्टिं कर्तुमाविभवति । न कश्चिदपि तस्याविर्भावयितास्ति ।

प्रलयदशायां च सर्गारम्भकार्याणामभावात्तदानीं सर्गारम्भोद्योगएव
तस्याविर्भावः । ब्रह्मणश्चतुर्वेदविदो मनुष्यस्य देहिनस्तु स्वयम्भूरिति
नाम नैव सम्भवति तस्य परमात्मत उत्पत्तिदर्शनात् । यदि च स्वय-
मेव तस्य ब्रह्मण उत्पत्तिः स्यात्तर्हि परमात्मानमन्तरेणान्येषामपि
मनुष्याणामुत्पत्तिर्भवितुमर्हति । तथा च सति निरीश्वरवाद आयात् ।
इत्थं सत्येव प्रथमाध्यायस्यैकपञ्चाशत्तमे पद्ये नन्दनकृतं व्याख्यानं
समीचीनतरं प्रतिभाति । तत्र चाचिन्त्यपराक्रमशब्देन परमात्मनएव
ग्रहणमुचिततरं तथा च सति मनोः स्रष्टा परमात्मा सम्भवति ।
यदि च चतुर्वेदविदो देहधारिणो ब्रह्मणः पौत्रो मनुरिति कस्यचि-
दभिप्रेतं स्यात्तर्हि परमात्मना मनुः सृष्टइति कथने वैयर्थ्यमाप-
पद्येत । अचिन्त्यपराक्रमशब्देन देहिन एव ब्रह्मणो ये भाष्यकारा
ग्रहणमिच्छन्ति । तेषां मते देहिनो ब्रह्मणः परमात्मनि विशेष उप-
पादयितुं न सम्भवति । भाष्यकाराणां सकलवेदार्थादिमननान्म-
नुरित्यादीनि वचांसि च ब्रह्मा मनुरित्येकस्यैव नाम्नोः सतीरुपपद्यन्ते ।
सर्गारम्भएव सकलवेदार्थविदः पुरुषद्वयस्यासम्भवोऽपि दोषः । प्रजाप-
तिशब्दश्च ब्रह्मणो विशेषणं प्रायश उपलभ्यते तथा सति मनोरपि
विशेषणं सुलभमेव भविष्यति । तस्यैव पुरुषस्य वेदार्थवृद्धिहेतुत्वाद्
ब्रह्मा वेदाशयानां मननान्मनसि पर्यालोचनाञ्च मनुर्नाम जगति
प्रख्यातिमापत् । एकस्य वस्तुनोऽनेकानि नामानि भवन्तीति च
दृष्टचरमेतदिति । अस्मिन्नेव शास्त्रे यानि वचांस्यतो विरुद्धान्या-
यास्यन्ति तेषां यथावसरं समाधानं करिष्यामः ।

एक शब्दएकस्यैव वस्तुनो वाचकः स्यादयमपि नियमो न
दृश्यते । यथा देवदत्तइतीयं संज्ञा बहूनामासीद्भवति भविष्यति

च । इत्थमेव मनुरित्यन्यपुरुषाणां वाच्यानां वा नामासीद्वति
 भविष्यति च वाच्यानामागमापायिधर्मवत्त्वान्नान्यपि चक्रवत्प-
 रिवर्तन्ते । मनुः कश्चिद्राजाऽप्यासीद्यस्य नाम सप्तमाध्यायेऽस्ति ।
 मनुरिति परमेश्वरस्यापि नामास्ति यस्य द्वादशाध्याये वर्णनम् ।
 एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिमित्यादिना । मन्यते सर्वं
 चराचरं तत्त्वतो जानाति स सर्वज्ञो मनुः परमेश्वरः । एवं मत्वैव
 मनुशब्दान्मनुष्यमानुषशब्दौ निष्पन्नौ । मनोजातावज्यतौषुक्
 च । अ० ४ । १ । १६१ । इत्यत्र पाणिनिना नह्यपत्यार्थो विव-
 क्षितः किन्तुजातिशब्दत्वेन रुद्धिशब्दावेतौ तयोः स्वरादिज्ञापनाय
 यथाकथमपि साधुत्वं प्रदर्शितम् । तस्याचमाशयः । परमात्मना
 मननसामर्थ्याद्धर्माधर्मादीनां विवेचनाय सृष्टः समुदायो जातिर्म-
 नुष्यो मानुष इति वा कथ्यते । अपत्यार्थोऽत्र न विवक्षितइति
 जयादित्यादीनामपि सम्मतमेव । यदि चादिपुरुषाद्देहधारिणो मनुष्ये
 प्रत्ययइति कस्यचिन्मतं स्यात्तदाऽपत्ये प्रत्ययोत्पत्तिरवश्यं विव-
 क्षिता भवेत् । एतच्च सर्गारम्भे यद्येकएव कश्चित्पुरुषविशेषः पर-
 मात्मनोत्पादितो भवेत् तदा तस्यैवापत्यभूताः सर्वे भाविनः स्युः ।
 एवं सति मनुष्यमानुषशब्दौ सार्थकौ जातिवाचकौ भवितुमर्हतः ।
 तच्च वेशदपि विरुद्धमेतत् । मनुष्याः पितरो देवाः साध्याः पश-
 वश्च ये उच्छिष्टाज्जिरे सर्वइत्याशयः स्पष्टमथर्ववेदेऽस्ति । एवमन्ये-
 ष्वपि वेदेषु शतशः प्रमाणान्युपलभ्यन्ते यत्र परमात्मसकाशा-
 द्बहूनां मनुष्यादीनामुत्पत्तिः स्पष्टं प्रदर्शितास्ति । तस्माच्च देवा-
 बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि । इत्यादीनि
 वचांस्युपनिषत्सु चोपलभ्यन्ते । तस्मात्सिद्धमेतद्यत्सर्गारम्भे बहूनां

मनुष्यादीनामुत्पत्तिः सहैवासीदिति । यदा च सर्गारम्भे बहवो मनुष्याः सृष्टा आसंस्तर्हि मनोरेवापत्यभूतानां मनुष्यइति संज्ञा स्यादन्येषामपत्यानां न स्यात्तच्चानिष्ठम् । तस्माद्बहूनां मनुष्यादीनामादावुत्पत्तिरिति वैदिकएव सिद्धान्तः साधुः । परमात्मवाचकाच्च मनुशब्दान्मनुष्यमानुषशब्दौ निष्पन्नौ । यत्र च जनवाचक मनुशब्दादपत्ये प्रत्ययस्तदा मनोरपत्यं मानवइति तस्यापत्यमित्यनेन सामान्यसूत्रेणैवाण्प्रत्ययेन भवितव्यम् । एवं सति ये केचिन्मनुष्यपर्यायं बुद्ध्वा मानवशब्दं व्याहरन्ति तत्राज्ञानमेव कारणमित्यनुमिन्वे । नहि मानवशब्दो जातिवाचकोऽस्ति । किन्तु सर्गारम्भे पश्चाद्वा जातस्य मनोर्जनस्य कुलभूतानां पौत्रादीनां नाम भवितुमर्हति । कोशेष्वपि मानवशब्दो मनुष्यपर्यायप्रज्ञया धृतस्तत्रापि भ्रान्तिरेवानुमेया । जातावज्यतोरेव विधानात् । अजातावेवाणा भाव्यमित्यर्थात्सिद्धम् । यश्च मानवशब्दो धर्मशास्त्रादीनां विशेषणं तत्र तस्येदमित्यण् स्मर्त्तव्यः । मनुशब्दः साधारणमनुष्यस्यापि नाम भवितुमर्हतीत्युक्तमपि प्रायेणैतदप्याश्रित्य महाभाष्यकारेणैव कारिका पठिता—अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः । नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिध्यति माणवः ॥ कुत्सितेऽपत्ये वाच्ये मनुशब्दादण्वेव भवति नकारस्य चाण्संयोगेन एत्वं निपात्यते । तेन मनुनाम्नो मननशीलस्यापत्यं यत्कुत्सितं तस्य माणवइति संज्ञा विज्ञेया । मानवशब्दः कथंचिद्गोत्रजातिवदवान्तरजातिवाचकः स्यात्तथापि समानप्रसवात्मकं जातिलक्षणमूरीकृत्य निष्पादितयोर्मनुष्यमानुषशब्दयोरपेक्षया तस्य जातित्वाभावएव वक्तुं शक्यते । यदि माणवशब्दे परमात्मवाचकादेव मनुशब्दात्कुत्सितापत्येऽण् स्यात्तथापि नास्ति कश्चिद्दोषः । एवं मनुष्यमानुषयोरपत्या-

र्थविवक्षायामपि न दोषः । वयं सर्वे तस्य सर्वशक्तिमतोऽपत्यभूता
 एव स्मः स चास्माकं पिता सर्गारम्भे तेनैव सर्वउत्पादिता रक्षि-
 ताश्च तस्मादुत्पादनरक्षणधर्मकत्वात्तस्मिन् पितृत्वम् । ऋग्वेदस्य
 प्रथममण्डलस्थाशीतितमसूक्तस्य षोडशमन्त्रे मनुष्पितेत्यादि शब्दैः
 सर्वस्य चराचरस्य मनुः पितेति स्पष्टमुक्तम् । एवमन्यान्यपि शाखा-
 ब्राह्मणादिषु शतशः प्रमाणान्युपलभ्यन्ते । येन सर्वस्योत्पादकः
 पिता मनुः परमात्मैवायाति । तस्य सृष्टौ ये जनाः सदसद्वर्माधर्मा-
 दीनां मननकर्तारस्ते मनुष्या अन्ये स्वकृत्याद्भ्रष्टा निन्दिता जना
 माणवाः । एवं सति कोशकारैर्माणवशब्दस्य बालपर्यायकथनं
 प्रामादिकमेव प्रतिभाति नापि तत्र कुत्सार्थघटना कर्तुं शक्यते ।
 अपत्यशब्दोऽपि साधारणावस्थासु प्रयुज्यते नतु बाल्यएव । यस्त-
 त्कर्तुं शक्तोऽपि न कुर्यात्स तत्र निन्दार्हो भवति । नहि बाला धर्मा-
 धर्मादीनां विवेचने समर्थास्तस्मान्माणवशब्दो निन्दितेषु धर्मवि-
 हीनेषु पशुवहृत्तिषु नृषु प्रयोज्यः । एवं मनुशब्दो यथावसरं यथा-
 कालं बहूनां नामास्ति । यस्तु धर्मव्यवस्थापकानामादिभूतो धर्मो-
 पदेशकेषु प्रधानो मनुः स ब्रह्मापि कथ्यते । मैत्रायणीयब्राह्मणो-
 पनिषदि ५ । १ तैत्तिरीयकृष्णयजुःसंहितायां च ३ । २ । ८ । १ ।
 तथा ४ । १ । ९ । १ मन्त्रयोर्मनुर्ब्रह्मा चैकस्यैव नाम्नी स्तइति स्पष्टत-
 या प्रदर्शितम् । तेन विद्वाद्भिरनुसन्धेयम् । पुरातनशिष्टसम्मतोऽयं सि-
 द्धान्तः । नतु मयाऽभ्युपगमसिद्धान्तत्वेन स्वीकृतइति । यदि कश्चिद्ब्र-
 ह्मेद् ब्रह्माइति नाम्नैवात्रापि स्मृतिप्रसङ्गे व्यवहारः कुतो न कृतो
 येन सन्देहएव नाभूत् ? स्मृतिप्रसंगे वेदार्थस्य स्मरणं मननं तेन
 कृतमित्यन्वर्थं नाम रक्षितम् । शङ्काभयात्कार्याणि न निरुध्यन्ते ।
 यद्यदनुष्ठीयते शास्त्रं वा निबध्यते तत्रतत्र सर्वत्रैव सन्देहाः प्रायशो-

ल्पधियामेव जायन्ते विज्ञाश्रौषधेन रोगमिव सिद्धान्तवचोभिः सन्दे-
हान्निवारयन्ति। मनुस्मृतेर्ब्रह्मस्मृतिरपि नामास्त्येव विशिष्टः प्रचा-
रस्तेन नाम्ना नास्ति। इदानीं सिद्धमेतद्ब्रह्माऽयं मनुनाम्ना प्रसिद्ध-
स्तेनेदं शास्त्रमादावुपदिष्टम् । अतो विरम्यतेऽनल्पजल्पनेन ॥

भाषार्थः—अब सूचीपत्र में दिये भूमिका के विषयों में से प्रथम मनु शब्द पर विचार किया जाता है कि वे मनु कौन थे जिन्होंने ने सब से पहिले धर्मशास्त्र का उपदेश मनुष्यों को किया । इस विषय में—मनु नामक कोई निज (खास) मनुष्य थे जो वेद की अनेक शाखाओं के पढ़ने जानने और उनमें लिखे अनुसार आचरण करने में तत्पर और स्मृतियों की परम्परा से प्रसिद्ध हैं यह मेधातिथि का लेख है। कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि सम्पूर्ण वेदों के अर्थ आदि का मनन विचार करने से उनका नाम मनु हुआ । नन्दन कहते हैं कि स्वायम्भुव का नाम मनु है । और गोविन्दराज ने लिखा है कि सम्पूर्ण वेद के अर्थ आदि को जानने से मनु संज्ञा को प्राप्त हुए शास्त्रों की परम्परा से सब विद्वान् जिन के नाम को बरा-बर सुनते जानते आये और परमेश्वर ने संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने के लिये जिनको नियत किया ऐसे महर्षि का नाम मनु था । और वेवर साहब (इंग्लैण्ड देश निवासी जिन्होंने ने अंगरेजी में मनुस्मृति पर भाष्य किया है) लिखते हैं कि कहीं तो ब्रह्मा का पौत्र मनु लिखा कहीं मनु को प्रजापति माना गया कहीं अ० ७ । श्लोक ४२ में मनु नामक राजा था ऐसा लिखा है और अ० १२ । के १२३ श्लोक में मनु को साक्षात् ब्रह्म करके लिखा है इसी मनुस्मृति में ऐसे परस्पर विरुद्ध अनेक प्रकार के लेख हैं तिस से यह निश्चय हो सकना कठिन है कि इस धर्म शास्त्र का बनाने वाला मनु कौन था? । परन्तु वेवर साहब ने आगे यह भी लिखा है कि इस देश में सर्वोपरि धर्म का जानने वाला कोई मनु पहिले हुआ जिसके नाम से ही धर्म की प्रशंसा चली आती है ।

इस प्रसंग में इत्यादि प्रकार के लेख अलग २ लोगों के मिलते हैं जिन में सब की एक सम्मति नहीं जान पड़ती । इस विषय में मैं अपनी सम्मति से निश्चय सिद्धान्त लिखता हूँ उस को सुनना चाहिये । सृष्टि के प्रारम्भ में पहिले कल्प के अच्छे संस्कारों से जिनका आत्मा शुद्ध था पहिले जन्मों में अभ्यास की हुई विद्या से वेदार्थ के जानने में जिनकी बुद्धि तीव्र थी पहिले कल्प में सेवन

किये पुण्य के समुदाय से जिनका अन्तःकरण शुद्ध था इसी कारण तेजधारी चारों वेद के ज्ञाता सब संसार और परमार्थ के कर्त्तव्य को ठीक २ जानने वाले मनुष्यों में सूर्य के तुल्य तेजस्वी तपस्या और योगाभ्यास करने में तत्पर विचार शील मनु नामक महर्षि हुए उनही का दूसरा नाम ब्रह्मा भी था यह बात अनेक प्रमाणों वा कारणों से निश्चित सिद्ध है । इसी कारण उन मनु का स्वयम्भुव नाम भी विशेष कर घटता है क्योंकि स्वयम्भू नाम परमेश्वर का इस लिये माना जाता है कि वह सृष्टि रचने के अर्थ स्वयमेव प्रकट होता है अर्थात् सृष्टि के लिये उस को कोई प्रेरणा वा उद्यत नहीं करता । प्रलय दशा में रचना के सम्बन्धी कार्यों के न रहने से रचने से पहिले रचना के आरम्भ का उद्योग करना ही उस का प्रकट होना कहाता है । इसी से उस को स्वयम्भू कहते हैं । चारों वेद के जानने वाले देहधारी ब्रह्मा का स्वयम्भू नाम इस लिये नहीं हो सकता कि परमेश्वर से ब्रह्मा की उत्पत्ति अनेक ग्रन्थों में दिखाई गई है । यदि उन ब्रह्मा की स्वयमेव उत्पत्ति होती तो परमात्मा के बिना अन्य मनुष्यादि की भी उत्पत्ति हो सकना सम्भव है [इस प्रसङ्ग में अनेक लोगों का ऐसा मत है कि परमात्मा ने स्वयमेव ब्रह्मारूप बन कर संसार को उत्पन्न किया । इस अंश पर यहां विशेष विचार इस लिये नहीं लिखता कि यह प्रकरणान्तर है और प्रकरणान्तर पर विचार चल जाने से मुख्य प्रकरण छूट जाता है परन्तु इतना अवश्य कहता हूं कि परमेश्वर परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को धारण कभी नहीं करता वह सदा निराकार है साकार कभी नहीं होता वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है कभी शरीरादि में बद्ध नहीं होता इसी लिये वेद में उस को अकाय लिखा है । तथा योगभाष्य में व्यास जी ने लिखा है कि [स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति] वह सदैव मुक्त और सदा अनन्तशक्ति रहता है शरीर धारण करे तो मनुष्यों के तुल्य शरीर में बद्ध और अल्पशक्ति अवश्य होजावे क्योंकि शरीर के परिच्छिन्न वा अन्तवाले होने से शरीरी कदापि अमर्यादशक्ति वाला नहीं हो सकता । इत्यादि कारणों से स्वयम्भू शब्द का वैसा अर्थ करना ठीक नहीं है किन्तु वही अर्थ ठीक है जो पूर्व लिखा गया] और परमेश्वर के बिना यदि अन्य मनुष्यादि की उत्पत्ति होजावे तो निरीश्वर वाद भी आसकता है क्योंकि फिर किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं रहेगी । और ब्रह्मा को मनु मानने से ही प्रथमाध्याय के ५१ श्लोक पर पं० नन्दन का किया व्याख्यान बहुत अच्छा प्रतीत

होता है। क्योंकि वहाँ अचिन्त्यपराक्रम शब्द से नन्दन ने परमेश्वर का ग्रहण किया है तथा अन्य भाष्यकारों की सम्मति से ब्रह्मा का ग्रहण होना प्रतीत होता है। परन्तु परमेश्वर का ग्रहण होना ही अति उचित है इसी से मनुनामक ब्रह्मा का रखने वाला परमेश्वर हो सकता है। और यदि किन्हीं लोगों के मतानुसार चार वेदों के जानने वाले देहधारी ब्रह्मा का पौत्र 'मनु' माना जावे तो परमेश्वर ने मनु को उत्पन्न किया यह कहना व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि मनु ब्रह्मा के पौत्र हुए तो उन के उत्पादक पिता विराट् हुए। यदि कहा जावे कि परमेश्वर ही सब को जन्म मरण देता है इस कारण ब्रह्मा का पौत्र होने पर भी परमेश्वर ने उत्पन्न किया कह सकते हैं और पिता निमित्तमात्र है तो ठीक है परन्तु मनु को ही परमेश्वर ने उत्पन्न किया यह कैसा? क्या अन्यो को नहीं किया और उस श्लोक का यह तात्पर्य नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ मैथुनी सृष्टि का प्रसङ्ग नहीं है किन्तु ईश्वर ने जैसे सब को रचा वैसे ही मुक्त को भी बनाया यह कथन है। इस लिये ब्रह्मा का ही नाम मनु रखना उचित है क्योंकि उस पक्ष में यह कोई विवाद नहीं उठता। और अचिन्त्यपराक्रम शब्द से जो भाष्यकार लोग ब्रह्मा का ग्रहण करना चाहते हैं उनके मत में देहधारी ब्रह्मा से परमात्मा में कुछ विशेषता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि जब ब्रह्मा ही अनन्तशक्ति धारी हो गये तो उनके उत्पादक पिता में क्या अधिकता रही और शरीर धारी का अनन्तशक्ति होना ठीक भी नहीं अर्थात् असम्भव है। तथा भाष्यकारों के सम्पूर्ण वेद को जानने से वा मनन करने से मनु नाम हुआ इत्यादि वचन ब्रह्मा को ही मनु मानने पर सार्थक हो सकते हैं। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में ही एक साथ सब वेद को जानने समझने वाले दो पुरुष नहीं हो सकते।

तथा प्रजापति शब्द भी ब्रह्मा का विशेषण प्रायः दीख पड़ता है सो ब्रह्मा को मनु मानने पर मनु का विशेषण प्रजापति सहज में हो सकेगा। अन्यथा सन्देह पड़ना सम्भव है कि दोनों का नाम प्रजापति क्यों रक्खा गया?। ब्रह्मा को प्रजापति इस लिये कहा गया कि वे विद्या और धर्म की व्यवस्था चला कर प्रजा की रक्षा करते थे। वेद के अर्थ की वृद्धि अर्थात् प्रचार बढ़ाने से ब्रह्मा और वेद के आशयों का अन्तःकरण में मनन करने से एकही पुरुष का मनु नाम जगत् में विख्याति को प्राप्त हुआ। एक वस्तु के अनेक नाम होना लोक में भी प्रसिद्ध ही है। अर्थात् यह शंका नहीं हो सकती कि एक के दो नाम क्यों रखे

गये । एक वस्तु के अनेक नाम अनेक गुणों के होने से रक्खे जाते तथा उन एकर नामों से उस २ प्रकार के गुण लोक व्यवहार में जताये जाते हैं । इसी धर्मशास्त्र में जो वचन इस सिद्धान्त से विरुद्ध जान पड़ेंगे उन का समाधान यथावसर किया जायगा ॥

एक शब्द एकही वस्तु का वाचक हो यह भी नियम नहीं दीखता । जैसे देवदत्त संज्ञा बहुत मनुष्यों की एक समय वा समयान्तर में हुई होती और होगी । इसी प्रकार मनु यह नाम अन्य वाच्य पुरुषों का भी हुआ है और होगा । वाच्य वस्तुओं के उत्पत्ति विनाश धर्मयुक्त होने से नाम भी पहिये के तुल्य लौट पौट होते रहते हैं । मनु नामक कोई राजा भी हुआ । जिस का नाम इसी पुस्तक के सप्तमाध्याय में आया है । यदि वेद में मनु नाम राजा का आवे तो वहां मनु नामक परमेश्वर ही राजा माना जायगा । क्योंकि इसी पुस्तक के अध्याय बारह में मनु नाम परमेश्वर का आया है कि उसी एक सर्वनियन्ता के मनु अग्नि और प्रजापति आदि नाम हैं । सब चराचर जगत् को जानता है इस लिये उस का नाम मनु है । ऐसा मान कर ही मनु शब्द से मनुष्य और मानुष शब्द बने हैं (मनोजातावज्यतीषुक्च) इस पाणिनिकृत सूत्र में अपत्य अर्थ अपेक्षित नहीं है किन्तु जाति होने से सिद्ध शब्द रूढ़ि माने जावेंगे । उन में स्वरादि का ज्ञान कराने के लिये जिस किसी प्रकार सिद्धि दिखायी है उस सिद्धि करने का अभिप्राय यह है कि मनु नामक परमेश्वर ने विचार करने की सामग्री से धर्म अधर्म का विवेक करने के लिये रचा समुदाय मनुष्य वा मानुष जाति कहाती है । अपत्य अर्थ की यहां अपेक्षा नहीं यह काशिकाकार जयादित्य आदि का भी सम्मत है । यदि आदि पुरुष देहधारी मनु से मनुष्य अर्थ में प्रत्यय है ऐसा किसी का मत हो तो अपत्य अर्थ में प्रत्यय की उत्पत्ति अवश्य माननी चाहिये । सो यह सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर की ओर से यदि एक ही कोई पुरुष उत्पन्न किया गया माना जावे तो उसी के सन्तान सब आगे होने वाले प्राणी हों । इस प्रकार मानने से मनुष्य और मानुष शब्द जातिवाचक मनु के सन्तान सार्थक हो सकते हैं परन्तु यह वेद से विरुद्ध है । अथर्ववेद में लिखा है कि पितृ, देव, मनुष्य, पशु आदि अनेक २ प्राणी परमेश्वर से प्रथम उत्पन्न हुए । इसी प्रकार अन्य वेदों में भी सैकड़ों प्रमाण मिलते हैं कि जिन में परमेश्वर से बहुत मनुष्यादि की उत्पत्ति स्पष्ट दिखायी गयी है । और उपनिषदों में भी स्पष्ट लिखा है कि उस परमेश्वर से अनेक प्रकार के सूर्य चन्द्रमादि देव अनेक मनुष्य पशु

और पक्षी आदि उत्पन्न हुए। इस से यह सिद्ध और सत्य है कि सृष्टि के आरम्भ में बहुत मनुष्यों की एक साथ उत्पत्ति हुई। और विचार पूर्वक ध्यान देने से भी यही प्रतीत होता है कि परमेश्वर ने प्रत्येक वस्तु आरम्भ में अनेक बनाये। यदि एक वस्तु वा मनुष्य को बनाता तो इतनी बड़ी पृथिवी पहिले शून्य ही होती और एक मनुष्य से इतनी वृद्धि भी लाखों वर्ष में नहीं हो सकती। जैसे एक मनुष्य से कुछ सृष्टि बढ़ेगी वैसे जन्म के साथ मरण भी लगा है फिर ऐसी दशा में सप्तद्वीपा वसुमती पर एक मनुष्य के सन्तानों का इतना फैलाव होना दुस्तर है इस लिये अनेक मनुष्यों की उत्पत्ति आरम्भ में मानना ठीक सिद्ध है। और जब यह सिद्ध हो चुका कि सृष्टि के आरम्भ में बहुत मनुष्य रचे गये तो मनु नामक पुरुष के सन्तानों की ही मनुष्य संज्ञा हो अन्य के सन्तानों की न होनी चाहिये सो यह कदापि ठीक नहीं हो सकता कि किसी गोत्र के पुरुष ही मनुष्य कहावें और सब का नाम मनुष्य न पड़े। इस लिये सृष्टि के आरम्भ में एक साथ बहुत मनुष्यों की उत्पत्ति हुई यह वेदोक्त सिद्धान्त ही ठीक है और परमेश्वर के वाची मनु शब्द से ही मनुष्य मानुष शब्दों का बनना ठीक है। और जहां पुरुष वाचक मनु शब्द से अपत्य अर्थ में प्रत्यय होता है तब (तस्यापत्यम्) सूत्र से अण् प्रत्यय होकर मनु के सन्तानों का नाम मानव पड़ता है। ऐसा होने पर जो लोग मनुष्य का पर्याय वाची मान कर मानव शब्द का प्रयोग करते हैं वहां अज्ञान ही कारण जान पड़ता है क्योंकि मनुष्य शब्द के तुल्य मानव शब्द जाति वाचक नहीं है किन्तु सृष्टि के आरम्भ में वा पीछे हुए मनु नामक पुरुष के कुल में उत्पन्न हुए पुत्र पौत्रादि का नाम मानव हो सकता है। कोशकारों ने भी अपने २ पुस्तकों में मानव शब्द को मनुष्य पर्याय वृद्धि से रक्खा है इस लिये वहां भी भ्रान्ति ही जाननी चाहिये। जाति अर्थ में अज् और यत् प्रत्यय के ही विधान करने से मानव शब्द में अजाति में अण् प्रत्यय का होना अर्थात्पत्ति से ही सिद्ध है। और जो मानव शब्द धर्म वा धर्मशास्त्रादि का विशेषण है वहां (तस्येदम्) सूत्र से सामान्य सम्बन्धार्थ में अण् प्रत्यय जानना चाहिये। मनु शब्द साधारण मनुष्य का भी नाम हो सकता है यह लिख भी चुके हैं। अधिकांश में इसी पक्ष का आश्रय ले कर महाभाष्यकार ने यह कारि का पढी है कि (अपत्ये कुत्सिते०) मनु शब्द से निन्दित अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय और नकार को मूर्द्धन्य णकारादेश हो जाता है। जिस से मानव शब्द बनता है।

इस से मनु नामक पुरुष के निन्दित सन्तान की माणव संज्ञा है । मानव शब्द किसी प्रकार गोत्र जाति के तुल्य अवान्तर जाति का वाचक हो जावे तो भी एक प्रकार की उत्पत्ति वाले एक जाति कहाते हैं जैसे मनुष्य पशु पक्षी आदि इस जाति लक्षण को मान कर सिद्ध किये मनुष्य मानुष शब्दों की अपेक्षा मानव शब्द का जाति वाचक नहीं होना ही कह सकते हैं ।

और यदि माणव शब्द में परमेश्वर वाची मनु शब्द से ही निन्दित अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय हो तो भी कोई दोष नहीं । इसी प्रकार मनुष्य मानुष शब्दों में भी अपत्य अर्थ मानने पर भी दोष नहीं क्योंकि हम सब उसी सर्वशक्ति-मान् परमात्मा के सन्तान ही हैं वह हमारा पिता है सृष्टि के आरम्भ में हम सब को उसी ने उत्पन्न कर रक्षा की उस समय वही हमारा माता पिता था इस कारण उत्पादक और रक्षक होने से वह सब का पिता है । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अस्सी सूक्त के सोलह वे मंत्र में (मनुष्यिता) इत्यादि शब्दों से सब चराचर जगत् का पिता मनु है ऐसा स्पष्ट कहा है । इसी प्रकार अन्य शाखा ब्राह्मणों में भी सैकड़ों प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिन से सब का उत्पादक मनु नामक परमात्मा ही सिद्ध होता है ।

उस परमेश्वर की सृष्टि में धर्म अधर्म आदि का सामान्य प्रकार मनन करने वाले स्त्री पुरुष मनुष्य और अपने कर्त्तव्य से पतित हुए निन्दित मनुष्य माणव कहाते हैं । ऐसा होने पर कोश कर्त्ताओं ने माणव शब्द को बालक का पर्याय वाचक कहा है सो उनका लेख प्रामादिक प्रतीत होता है क्योंकि बालकों को निन्दित इस लिये नहीं ठहरा सकते कि जो उस काम के करने में समर्थ हो कर न करे वह निन्दित कहाता है परन्तु बालक लोग धर्म अधर्म का विवेक करने का सामर्थ्य ही नहीं रखते इस लिये माणव शब्द का प्रयोग धर्महीन पशुओं के समान वर्त्ताव करने वाले निन्दित मनुष्यों में करना चाहिये । कोई कहे कि बालक भी अज्ञानी का नाम है वैसे माणव भी मान लिया जाय तो यह किसी प्रकार बन सकता है परन्तु बालक शब्द अज्ञानी का वाचक वास्तव में नहीं किन्तु गौण प्रयोग है कि बालक भी अज्ञानी होता है इस लिये उवाच हो कर भी अज्ञानी रहे तो बालक के तुल्य अज्ञानी वा अनधिकारी माना जाता है । इस प्रकार यहां माणव शब्द बालक के साथ गौणार्थ में भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि बालकों का निन्दित होना स्थिर नहीं और कोई बाल्यावस्था में

निन्दित हो कर भी आगे सम्मिल जाते हैं इस कारण निन्दित कहना ठीक नहीं और वही पूर्वोक्त पक्ष ठीक है । इस उक्त प्रकार समय और अवसर के अनुसार बहुतें का नाम मनु आता है परन्तु जो धर्म की व्यवस्था करने वालों में सब का गुरु धर्म के उपदेशकों में मुख्य मनु हुआ उसी का नाम ब्रह्मा भी था । मैत्रायणीय ब्राह्मणोपनिषद् और तैत्तिरीय कृष्णयजुःसंहिता में मनु और ब्रह्मा एक ही के नाम हैं यह स्पष्टता से दिखा गया है । इस लिये विद्वान् लोगों को विचारना चाहिये कि पहिले हुए शिष्ट लोगों के अनुकूल यह सिद्धान्त है किन्तु मैंने नवीन कल्पित नहीं मान लिया है । यदि कोई कहे कि यहां स्मृति के प्रसङ्ग में भी ब्रह्मा नाम से ही व्यवहार क्यों नहीं किया गया जिससे सन्देह ही न होता ? इस का उत्तर यह है कि उस पुरुष ने वेद के अर्थ का मनन स्मरण किया इस से मनु नाम रक्खा गया । शङ्का के भय से कोई काम रोके नहीं जाते । जिस २ का सेवन किया जाता वा शास्त्र बनाया जाता है उन सब में थोड़ी बुद्धि वालों को सन्देह हुआ करते हैं विद्वान् लोग ओषधि से रोग के तुल्य सिद्धान्तरूप वचनों से सन्देहों को निवृत्त कर देते हैं । और मनुस्मृति का ब्रह्म - स्मृति नाम भी है परन्तु उसका विशेष प्रचार उस नाम से नहीं है । अब यह सिद्ध हो गया कि मनु नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मा है उसी ने इस धर्म शास्त्र का उपदेश सृष्टि के आरम्भ में किया । इस लिये यह विषय समाप्त किया जाता है ॥

अथेदानीं कोऽयं मनुरिति प्रतिपादनानन्तरं कदा किमर्थं केनेदं शास्त्रमनुशिष्टमिति प्रतिपाद्यते । मनुस्मृतिर्मानवधर्मशास्त्रं वेति लोकेऽस्याः स्मृतेर्नाम प्रकटम् । तस्यायमाशयः—मनुना ब्रह्मणा सर्गारम्भे सर्वेषां वेदानामनुसन्धानं कृत्वा लोकव्यवहारव्यवस्थानायाचारस्य प्रचाराय च सूत्रादिरूपवाक्याकारैर्धर्मउपदिष्टो नतु तदा किमपि पुस्तकाकारेण लिखितम् । तस्य चोपदेशस्य शास्त्रत्वमविरुद्धमेव । नहि शास्त्रशब्दो लेखनक्रियामपेक्षते । तथा चोक्तं वात्स्यायनेन महर्षिणा न्यायसूत्रभाष्ये—इतरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रमिति । नह्येतेन लिखितस्य मुद्रितस्य वा पुस्तकस्य शास्त्रं नामायाति । मनोर्ब्रह्मणः स्मरणं वेदार्थानुसन्धा-

नेन तन्मूलकतया व्यवहारव्यवस्थायै योऽसौ विचारः सा मनुस्मृतिः । तथा मनुना ब्रह्मणा सर्गारम्भे प्रोक्तो मानवो मानवश्चासौ धर्मो मानवधर्मः स शिष्टोऽस्मिंस्तत्पदवाक्यादिसमुदायरूपं मानवधर्मशास्त्रम् । अथवा मनोरथमनुभवसिद्धो मानवो धर्मः । प्रोक्तइत्यर्थे द्विष्टः प्रत्ययो वेदमूलकतामस्य धर्मस्य बोधयति । सनातनं किमपि मूलमाश्रित्य यच्छास्त्रं क्रियते तत्रैव प्रोक्तप्रत्ययः सम्भवति । अतएव प्रोक्तप्रकरणानन्तरं कृतेग्रन्थइति प्रकरणं निबद्धं पाणिनिना । प्रोपसृष्टवचधातोः सम्पन्नप्रयोगाणामध्यापने प्रचारे लुप्तप्रायस्योद्दारे प्रकारान्तरेण ज्ञाप्यमाने चार्थे यथासम्भवं प्रवृत्तिरिति पतञ्जलिनो महाभाष्यकारस्याप्याशयः । एवं सत्येव माध्यन्दिनीयवाजसनेय्यादिनामानि वेदसंहितानामपि निर्दोषं सम्भवन्ति ॥

पुरा सर्गारम्भे वेदानामपि वाक्यपदच्छन्दाकारैरेवोपदेशो गुरुशिष्ययोरविच्छिन्नपरम्परया प्रचरित आसीत् । एकेन स्वगुरुतो यथावच्छ्रुत्वाऽन्येभ्यः स्वशिष्येभ्यस्तथैवोपदिष्टस्तैश्चान्येभ्य एवं वेदा धर्मशास्त्रवाक्यानि च सर्वेषां कण्ठस्थान्यासन् । कण्ठस्थे च शास्त्रे यथाविद्याफलमध्येतृणामध्यापकानां वा सम्भवति न तथा पुस्तकस्थपाठेन । तथाचोक्तम्—पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम् । कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनमित्यादिनानुमेयं धीमद्भिः । इत्येवमनुसन्धाय तदानीन्तना जना लेखनप्रवृत्तिं न प्रचारितवन्तः । सति च लेखनक्रियारम्भेऽन्तेवासिनः पुस्तकस्थं ज्ञात्वा पुस्तकाश्रयेण यथावसरं वयं द्रष्टुं समर्थाइति मत्वा च कण्ठस्थं शास्त्रं न करिष्यन्तीति विचार्य च लेखनक्रियाप्रचारं हानिकरमनुभूतवन्तश्च ॥

नहीदं वक्तुमुचितं तदानींतनैर्लेखनसाधनान्येव नोपलब्धानि नवा ते लेखनक्रियां ज्ञातवन्तइति । सर्वासां क्रियाणां परमात्मनैव वेदद्वारोपदिष्टत्वात् । यादृशं लेखनमिदानीं प्रवृत्तं तादृशं तदानीं मास्तु तथाप्यभावो वक्तुमशक्यः । नह्यभावाद्भावः सम्पद्यते प्रकारान्तरता तु भवत्येव तथैव पुराऽन्यप्रकारकं लेखनमासीत् । लेखनमङ्कनं सचिन्हीकरणं भित्त्यादिषु प्रतिबिम्बचित्रनिर्माणं वासस्तु चित्राकरणं सर्वमिदं लेखनान्तर्गतमेव । यदा च पूर्वमकारादिवर्णाकृतीनां निर्माणं सर्गारम्भएव विद्द्भिः कृतम् । पुनर्लेखनक्रिया नासीदिति वदतो व्याधातः । इदं च प्रकरणान्तरम् । पुरा लेखनप्रवृत्तिः पुस्तकाकारेण नासीदिति बहुभिः कारणैः प्रतीयते ॥

सर्गारम्भे शास्त्राण्यपि बहूनि नासन्नपितु वेदाद्भिन्नं किमप्येव शास्त्रमासीत्तेषां च कण्ठस्थकरणं सुगममेव । यानि च वेदादितराणि शास्त्राणि धर्मसूत्रादिरूपेण लघुत्वेन निर्मितानि तस्मात्तेषां कण्ठस्थकरणं सुलभमप्यासीत् । अनन्तरं यदा शनैः शनैरन्यानि वेदानुगानि शास्त्राणि विद्द्भिः सामयिकव्यवहारव्यवस्थापनाय वेदार्थस्य विशेषप्रचाराय च निर्मितानि तदा शास्त्राणां बाहुल्येन कण्ठस्थकरणाशक्यत्वात्क्रमशो विद्याधर्मादीनां न्यूनसेवनान्न शक्तिहीनानां भाविजनानामुपकाराय शास्त्राणि पुस्तकाकारेण कृतानि । पूर्वकाले सत्त्वगुणप्रचारप्राचुर्याद्भ्रजोगुणिनः पुरुषा बहवो नासन् । सत्त्वगुणिनश्च पुरुषाः स्वनामख्यापनाय प्रयत्नविशेषमकृत्वाऽन्येषां मूलपुरुषाणां नाम्नैव तानि कृत्यानि प्रचारितवन्तः । तथाचेयं मनुस्मृतिः पूर्वं सर्गारम्भे सूत्रादिस्थवाक्याकारैर्मनुनोपदिष्टाऽऽसीदनन्तरं भृगुणा स्वशिष्येभ्य उपदिष्टासीत् । तदानीं भृगुणैव पुस्तकाकृतिं प्रापिता ।

केचिद्वदन्ति भृगुशिष्येण केनचिदियं निर्मिता तथासत्येव स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे। मनुप्रणीतान् विविधान् धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् । इति प्रारम्भे धृतः कौत्रचित्कः श्लोकः सार्थको जायते । यद्ययं पक्षः सार्थकः स्यात्तर्हि येषां मतं भृगुप्रोक्तेयं संहितेति तद्विरुध्यते । श्लोकश्चायं सर्वपुस्तकेषु नोपलभ्यते । तेनैकदेशित्वं तस्य सिद्धमेव । व्यूलरसाहवेनापीदमेवोक्तम् । कुत्रचिदुपलभ्यमानोऽयं श्लोकः पश्चात्कैश्चित्प्रक्षिप्तइति । यद्ययं पुरातनः स्यात्तर्हि सर्वपुस्तकेषूपलभ्येत । तस्मादधिकसम्मतौ मदीयापि सम्प्रतिरियमेवास्ति भृगुप्रोक्तेयं संहिता स च श्लोकः कैश्चित् प्रक्षिप्तइति । भृगुणा प्रोक्तापीयं संहिता सर्गारम्भे मनुरेवास्य धर्माशयस्य प्रवर्त्तकइति-मनस्याधाय तेन मनुनाम्नैव प्रचारिता तच्च तथ्यमित्यं सत्येव वेदानामीश्वरवाक्यत्वं सम्भवति । ईश्वरस्य ज्ञानमात्रं वेदा नतु तेन पुस्तकाकारेण निर्मिताः । किन्तु महर्षिभिः पुस्तकाकृतिं प्राप्तितास्तथापि परमात्मनिःश्वसिता वेदा उच्यन्ते नतु केनचिन्महर्षिणा निर्मिताइति प्रसिद्धाः । एवमिहापि मनुनाम्नो ब्रह्मण इदं स्मरणं भृगुणा च विशेषदशायां पुस्तकाकारेण कृतं तथापि यथा मनुना स्मृतं स एवाभिप्रायः पुस्तकाकारमापन्नइति मनुस्मृतित्वं तस्य सार्थकमेव । अत्रान्यस्मृतीनामाधुनिकत्वं तदाशयैर्मनूक्तस्यानुवादानेन चावगम्यते । इयं च पुरातनापि यत्रतत्रान्तरान्तरा बहूनां पद्यानां कैश्चिन्मतवादिभिः प्रक्षिप्तत्वान्नूतनतरेव प्रतिभाति । एवं भ्रान्त-एवव्यूलरसाहवोऽस्यानूतनतरत्वं प्रतिपादयति । तस्यां भ्रान्ताविदमपि कारणमनुमीयते—तेषां मतमतिनूतनतरं ततः पूर्वमन्येषामपि नासीदिति तथैव तेऽनुमिन्वन्ति तेषां बुद्धौ सृष्टिरपि चतुःसहस्रात्

पञ्चसहस्राद्वा वर्षात्पूर्वं नासीन्नच किमपि शास्त्रमासीत् । एतद्देशी-
यसूर्यसिद्धान्तनामकएको निबन्धो यएतस्या वर्तमानचतुर्गुणास्त्रे-
तायां निर्मितस्तत्र वत्सरसंख्यापि धृतास्ति । तन्निर्माणे कतिचिह्न-
क्षाणि वर्षाणि व्यतीतानि । एवं ततोऽप्यधिकप्राचीनतराणि पुस्त-
कानि दृश्यन्ते । कालस्य परिमाणं कालविभागानां वर्णनं कल्पप्र-
लयादीनां च वर्णनं सूर्यसिद्धान्तावुपलभ्यते । तेन सिद्धं सृष्टिरिय-
मर्बुदवर्षसंख्यातः प्रवृत्तास्ति । तदारभ्य किं मनुष्या विद्याधर्मादि
विहीना एवासन्निति कथनं कश्चिद्धीमानङ्गीकर्तुं मर्हति ? । यदि
कश्चित्सनातनईश्वरोऽभिमतस्तर्हि तेनोत्पादनकालएव मनुष्येभ्यः
किमपि ज्ञानं दत्तमिति मन्तव्यम् । अन्यथा परमात्मनि दोषः
स्यात् । नच तस्य किमपि कार्यं प्रामादिकं दृश्यते तस्मात्सिद्ध-
मेतन्मनुस्मृतिरपि सर्गारम्भादेव रूपान्तरेणासीत्सा च कतिचित्का-
लानन्तरं भृगुणा पद्यरूपेण निर्मिता तदापि मन्वाशयानुकूलत्वा-
न्मनुस्मृतिरेव नाम रक्षितम् । पूर्वं पद्यरचना नासीदित्यपि कस्यचि-
त्कथनं न सम्भवति । वेदेऽपि सर्वविधपद्यानां प्रत्यक्षदृष्टत्वात् । यदा
च वेदे पद्यरचना परमात्मनैव पूर्वं दर्शिता तेषामेव प्रचारका अध्यापका
ज्ञातारश्च ब्रह्मादयो पद्यरचनां नैव ज्ञातवन्तइति कथनमाशामोद-
कायितमेवेत्यनुमिन्वे । इदन्तु सत्यं यत्प्रायशः पद्यरचनां तदानी-
न्तना नैवानुष्ठितवन्तइति तस्यैतत्प्रयोजनम् । बह्वर्थप्रतिपादकं स्व-
ल्पमेव शास्त्रं स्यादिति लाघवबुद्ध्या तदानीं स्वल्पाक्षराणि बह्वर्थ-
वन्ति सूत्राणि प्रायशो व्यरचयन् । येनाध्येतारो ब्रह्मचर्याश्रमस-
मयेनैव सर्वाणि शास्त्राण्यध्येतुं समर्था यथास्युरिति । केचित्पद्य-
रूपेणापि शास्त्राणि व्यरचयन् । यथा भृगुणेयं स्मृतिरिति । यथा

वा त्रेतायां सूर्यसिद्धान्तः । अधुनासिद्धमेतद्यत्सर्गारम्भे मनुनेयं स्मृतिर्वेदाशयाश्रयेण सूत्ररूपवाक्याकारैर्मनुष्याणां व्यवहारव्यवस्थापनायोपदिष्टा । तदनन्तरं भृगुणा पद्यरूपेण संकलिता । यथेदानीन्तननिर्मितपुस्तकेषु प्रचरितसंवत्सरस्य नाम रक्ष्यतेऽमुकसंवत्सरे पुस्तकमिदममुकजनेन निर्मितमिति तथा पुरा परिपाटी नासीत् । आसीच्चैत्कैश्चिन्नाशिताऽतएव कस्मिन्वत्सरे निर्मितमिति वक्तुं न शक्यते । तथापीदं ज्ञायतेऽस्मिन् कल्पे सर्गानन्तरं सर्वशास्त्रनिर्माणात्पूर्वं परमात्मतो वेदोपदेशमवाप्य मनुनादाविदमेव धर्मशास्त्रमुपदिष्टम् । तदा च पुस्तकाकारेण नासीत् । पश्चाद्द्विशतवर्षाभ्यन्तरे भृगुणा पद्यरूपेण संकलिता तदनन्तरमतीते कस्मिंश्चित्समये कैश्चिदन्यैर्महर्षिभिः पुस्तकाकृतिं प्रापिता । ततः पूर्वं पद्यरूपस्याप्यविच्छिन्नगुरुशिष्यपरम्परया प्रचार आसीत् । यथा प्रचारमेव पूर्वं लिखिता पश्चात्कैश्चित्कुत्रकुत्रचिन्मध्ये तस्मिन्प्रक्षिप्तम् । अयं च दृढएव राद्धान्तः ॥

यदि कथंचिद्व्यूलरसाहवादीनां कथनानुकूलं केनचित्पश्चात्सहस्रद्वयवर्षाभ्यन्तरएव निर्मितमिति राद्धान्तः सिद्धो भवेत्तथाप्यस्माकं मतमिदम्—यद्यस्मिन्पुस्तके वेदानुकूलवर्णाश्रमादिधर्मः पक्षपातं विहायान्यस्मृत्यपेक्षया गम्भीराशयेन वर्णितः । अन्योपलब्धस्मृतिषु तादृशो धर्मोपदेशो नोपलभ्यते तर्हि वेदानुसरणमेवैतस्य मानवधर्मशास्त्रस्य प्राशस्त्ये हेतुरिति सर्वार्यसम्मतम् । यदि कथंचिदियं नूतनापि निर्मिता स्यात्तथापि मनुस्मृतित्वमस्य ग्रन्थस्याविरुद्धमेव । नहि किमपि निर्मूलं प्ररोहतीति न्यायमाश्रित्य मनुनोपदिष्टः सूत्रादिवाक्याकारः पुरातनो धर्मोऽविच्छिन्नगुरुशिष्यपर-

म्परया प्रचरित आसीत्तदाश्रयेणैव केनचिद्दिदुषा पद्याकृतिं प्रापि-
तस्तत्राप्यादिकर्तुर्मनोरेव प्राधान्यान्मनुस्मृतिरियमिति सम्भवति
नायमस्माकं पक्षोऽपि त्वेवं सत्यपि कथंचिदस्या आधुनिकत्वे समू-
लत्वात्प्राशस्त्यं मन्तव्यमेवेत्याशयः । स्वानुमतिः पूर्वमेवोक्ता ॥

भाषार्थः—अब द्वितीय प्रकरण का विचार किया जाता है कि किस समय
किस लिये किस पुरुष ने यह धर्मशास्त्र बनाया लोक में मनुस्मृति वा मानव-
धर्मशास्त्र नाम से यह पुस्तक प्रचरित है । इसका अभिप्राय यह है कि मनु
नाम ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में सब वेदों का अनुसन्धान—पूर्वापर विचार कर
के संसार के व्यवहार की व्यवस्था करने और अच्छे आचरणों का प्रचार होने के
लिये सूत्रादि रूप वाक्यों में धर्म का उपदेश किया किन्तु उस समय कुछ भी
विषय पुस्तकाकार से लिखा नहीं गया था । उस उपदेश को शास्त्र करके मानना
वा कहना सिद्ध इस लिये नहीं है कि शास्त्रशब्द का व्यवहार लेखनक्रिया
की अपेक्षा नहीं रखता । महर्षि वात्स्यायन जी ने न्याय सूत्र के भाष्य में शास्त्र
का लक्षण भी यही किया है कि परस्पर सम्बन्ध रखने वाले अर्थ समूह का उप-
देश शास्त्र है इस से लिखे वा छपे पुस्तक का नाम शास्त्र नहीं आता । मनु
नामक ब्रह्मा जी ने वेद के अर्थ का अनुसन्धान करके वेद को मूल मान कर व्य-
वहार की व्यवस्था करने के लिये किया जो विचार वह मनुस्मृति कहाती है ।
और मनु नामक ब्रह्मा जी ने सृष्टि के आरम्भ में कहा मानव धर्म उसका उप-
देश जिस में है वह पद और वाक्यादि रूप मानवधर्म शास्त्र कहाता है । अथवा
मनु जी के अनुभव से सिद्ध हुआ मानवधर्म वह जिस में कहा गया वह मान-
वधर्मशास्त्र कहाता है । प्रोक्तार्थ में प्रत्यय करने से प्रतीत होता है कि मानव-
धर्म का मूल वेद है क्योंकि किसी सनातन धर्म शास्त्र को लेकर जो शास्त्र बनाया
जाय उसी में प्रोक्त प्रत्यय होता है । इसी कारण प्रोक्ताधिकार के पीछे (कृते
ग्रन्थे) प्रकरण पाणिनि ने रक्खा है । और प्र उपसर्ग पूर्वक वचधातु से सिद्ध
हुए प्रयोगों की पढ़ाने, प्रचार करने' विशेष लुप्त हुए शास्त्रों को निकाल कर
चलाने, और प्रकारान्तर से व्याख्यान कर सब को जताने अर्थ में यथासम्भव
प्रवृत्ति होती है यह महाभाष्यकार पतञ्जलि महर्षि का आशय प्रोक्ताधिकार के
व्याख्यान से प्रतीत होता है । ऐसा मानने से ही वेदों की संहिता के माध्य-

न्दिनीय और वाजसनेयी आदि नाम निर्दोष बन सकते हैं। अर्थात् माध्यन्दिन वाजसनेय आदि ऋषियों के नाम से वेद की संहिता प्रसिद्ध हैं इस का अभि-
प्राय यही है कि जिन २ ऋषि जनों ने उन २ संहिताओं का विशेष कर अध्या-
पन वा उपदेशादि द्वारा प्रचार कराया उन २ के नाम से वे २ पुस्तक पचरित
हो गये किन्तु उन पुस्तकों को ऋषियों ने बनाया नहीं। यदि प्रोक्त अधिकार
को नवीन कृत्य माना जावे तो (कृते ग्रन्थे) प्रकरण पुनरुक्त होने से व्यर्थ हो जावे
इस कारण प्रोक्त का वही अर्थ ठीक है कि जो ऊपर लिखा गया।

पहिले सृष्टि के आरम्भ में गुरुशिष्य की निरन्तर चलने वाली परम्परा के
साथ वाक्य, पद और मन्त्र रूप से ही वेदों के उपदेश का प्रचार चलताथा।
एक ने अपने गुरु से यथावत् सुन कर अन्य अपने शिष्यों को उपदेश किया
और उन शिष्यों ने अपने अन्य शिष्यों को किया। इस प्रकार वेद और धर्म-
शास्त्र सम्बन्धी सूत्रादि रूप वाक्य सब पढ़ने पढ़ाने वालों को कण्ठस्थ रहते
थे। और शास्त्र के कण्ठस्थ होने से पढ़ने पढ़ाने वालों को विद्या का जैसा फल
होना सम्भव है वैसा पुस्तकस्थ पाठ से नहीं हो सकता। इस पर किसी विचार
शील पुरुष ने कहा है कि पुस्तक में पढ़ी विद्या और पराये हाथ में गया धन
ये दोनों ही समय पर उपयोगी नहीं होते इस से विचार शीलों को जान लेना
चाहिये कि कण्ठस्थ करना सर्वोत्तम है। ऐसा विचार के ही उस समय के लोगों
ने लिखने की प्रवृत्ति नहीं चलाई थी क्योंकि यदि पुस्तकें लिखी जायें तो विद्यार्थी
पुस्तकस्थ अपनी सन्धा को यथावकाश हम देख सकते हैं ऐसा मान कर शास्त्र
को कण्ठस्थ न करेंगे ऐसा विचार के लेखन प्रक्रिया का चलाना हानिकारक
समझते थे। और यह कदापि कहना ठीक नहीं बनता कि उस समय के लोगों
को लिखने का सामान नहीं मिला अथवा उनको लेखन क्रिया ज्ञात नहीं थी।
क्योंकि वेद द्वारा परमेश्वर ने सब क्रियाओं का उपदेश पहिले ही किया है।
जैसी लिखने की परिपाटी इस समय है वैसी पहिले न हो यह हो सकता है
तो भी अभाव नहीं कह सकते क्योंकि अभाव से भाव नहीं होता किन्तु संसार
के कार्यों का प्रकार बदलता रहता है। इसी के अनुसार पूर्वकाल में अन्य प्रकार
का लिखना था अर्थात् पुस्तकें नहीं लिखी जाती थी तो भी भित्ति आदि पर
प्रतिबिम्ब रखना वस्त्रों पर अनेक चित्र काटना वा छापना वा किसी में मोहर
लगाना वा किसी को अङ्कित करना इत्यादि सब काम लिखने के अन्तर्गत ही

समझे जाते हैं। और जब पूर्वकाल सृष्टि के आरम्भ में ही अकारादि ब्रह्मों की आकृति विद्वान् लोगों ने बनाई तो फिर लेखनक्रिया नहीं थी यह कहना ठीक नहीं किन्तु अपने ही कथन को काटना है। अब यह प्रकरणान्तर है इस लिये इस पर विशेष न लिख कर मुख्य प्रकरण की बात करनी चाहिये। अर्थात् पहिले सृष्टि के आरम्भ में शास्त्रों को पुस्तकाकार लिखने की प्रवृत्ति नहीं थी यह बहुते कारकों से प्रतीत होता है ॥

सृष्टि के आरम्भ में शास्त्र भी बहुत नहीं थे किन्तु वेद से भिन्न कोई ही शास्त्र बना था उन बौद्धों का कण्ठस्थ करना भी सहज ही था और जो वेद से भिन्न धर्मसूत्रादि रूप से शास्त्र बने थे वे छोटे २ थे इस कारण उनका कण्ठस्थ करना सुलभ भी था। पीछे जब धीरे-धीरे समय के अनुसार व्यवहार चलाने और वेद के आशय का विशेष प्रचार कराने के लिये आवश्यकता के अनुसार विद्वान् लोगों ने अन्य शास्त्र बनाये तब अनेक शास्त्रों के बढ़ जाने से कण्ठस्थ करना दुस्तार था इस कारण क्रम २ से विद्याधर्मादि का ग्यून सेवन होसकने की शक्का से आगे होने वाले शक्तिहीन पुरुषों के उपकार के लिये बने हुए शास्त्र पुस्तकाकार किये गये। पहिले समय में सत्त्व गुण के प्रचार की अधिकता से रजो-गुणी पुरुष बहुत नहीं थे। और सत्त्वगुणी पुरुषों का यह स्वाभाविक धर्म है कि वे अपना नाम प्रसिद्ध करने के लिये विशेष प्रयत्न न करके अन्य प्रथमोप-देष्टा पुरुषों के नाम से ही अपने निमित्त मात्र कामों को भी प्रचरित करते थे। वैसे ही यह मनुस्मृति सृष्टि के आरम्भ में सूत्रादिस्थ वाक्य रूपों से मनु जी ने उपदेश की तिस पीछे भृगु जी ने अपने शिष्यों को उपदेश की और भृगु जी ने ही पद्यरूप से क्रम बद्ध आकार में बनायी। कोई लोग कहते हैं कि भृगु के किसी शिष्य ने यह पुस्तक बनाया और ऐसा मानने पर ही (स्वयम्भुवे०) यह प्रारम्भ में धरा गया किन्हीं पुस्तकों में प्राप्त होने वाला श्लोक सार्थक हो सकता है। सो यदि इस पक्ष को सत्य माना जावे कि भृगु के किसी शिष्य का बनाया यह मनु-स्मृति पुस्तक है तो जिनका मत है कि भृगुप्रोक्त यह संहिता है वह विरुद्ध प-ड़ेगा। और वह श्लोक भी सब पुस्तकों में नहीं मिलता इस से उसका एकदेशी होना सिद्ध ही है। तथा व्यूलर साहब ने भी यही कहा है कि कहीं २ मिलने वाला यह श्लोक पीछे किन्हीं लोगों ने मिलाया है। यदि वह श्लोक पहिले से होता तो सब पुस्तकों में मिलना चाहिये था इस से अधिकांश सम्मति के अ-

नुसार मेरी भी सम्मति यही है कि यह पुस्तक भृगु का बनाया है और (स्वयम्भुवे०) यह श्लोक किन्हीं का पीछे से मिलाया हुआ है। भृगु ने बनाया भी पर सृष्टि के आरम्भ में मनु ही इस धर्म के आशय के प्रवर्तक हैं कि जिस को मैंने श्लोक बद्ध किया मेरा कुछ इस में नवीन कृत्य नहीं ऐसा मन में विचार के उन्होंने ने मनु के नाम से ही प्रचरित की और यह बात सत्य भी है। क्योंकि ऐसा होने पर ही वेदों को ईश्वर का वाक्य कह सकते हैं अर्थात् ईश्वर का ज्ञान मात्र वेद हैं उसने पुस्तकाकार वेद नहीं बनाये किन्तु महर्षि लोगों ने पुस्तकाकार किये हैं तो भी परमात्मा से वेद उत्पन्न हुए ऐसा कहा या माना जाता है किन्तु किसी महर्षि ने वेद बनाये ऐसा प्रसिद्ध नहीं। इसी प्रकार मनु नामक ब्रह्मा ने इसका स्मरण किया और भृगु ने विशेषदशा में पद्यरूपाकार से बनाया तो भी जैसा मनु ने स्मरण किया था वही आशय पुस्तकाकार में लाया गया इस लिये इस पुस्तक को मनुस्मृति कहना या मानना ठीक ही है किन्तु निरर्थक नहीं। तथा अन्य स्मृतियों का पीछे बनना आधुनिक होना उनर के आशयों और उन में इसी का अनुवाद दीख पड़ने से प्रतीत होता है। और यह मनुस्मृति पुरानी भी है तो भी जहां तहां बीच में इतिहासादि सम्बन्धी अनेक श्लोक किन्हीं मतवादियों ने मिला दिये हैं इससे अत्यन्त नवीन प्रतीत होती है। ऐसी ही बातों को देख कर व्यूलर साहब को भी भ्रान्ति हो गई जिस से उन्होंने ने इस को अति नवीन ठहराया है। उनको भ्रान्ति होने में अनुमान से यह भी कारण जान पड़ता है कि जैसे ईसाई मत अति नवीन है इस से थोड़े इधर उधर तक का समाचार उन्होंने ने लगा पाया है। जैसे दो तीन सहस्र वर्ष से पूर्व हमारे मत वा कुटुम्ब के नाम तक का पता नहीं वैसे अन्य भी कोई मत पहिले नहीं था। इन लोगों के मत वा सिद्धान्त से चार पांच वा छः सहस्र वर्षों के पूर्व सृष्टि भी नहीं थी और न कोई शास्त्र था। परन्तु यह उन लोगों का विचार ठीक नहीं क्योंकि इस आर्यावर्त देश में सूर्यसिद्धान्त नामक एक पुस्तक है जो वर्तमान इस चतुर्युगी के त्रेतायुग में बनाया गया उस में स्पष्ट लिखा है कि इस अष्टाईशर्षी चतुर्युगी में से अब तक केवल सद्युग बीत गया। उस पुस्तक को बने कई लाख वर्ष बीत गये। इसी प्रकार उससे भी अत्यन्त प्राचीन पुस्तक इस देश में हैं। तथा काल का परिमाण, काल के अवयवों का वर्णन और कल्प तथा प्रलयादि का वर्णन सूर्यसिद्धान्तादि आर्यों के पुस्तकों में मिलता है तिस से

सिद्ध है कि इस सृष्टि को उत्पन्न हुए अर्ध से ऊपर २ वर्ष बीत चुके । तब से लेकर क्या मनुष्य विद्या धर्म आदि से रहित ही थे? और ऐसा कथन कोई बुद्धिमान मान सकता है? कदापि नहीं । यदि कोई सनातन ईश्वर माना जावे तो उस ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को कुछ ज्ञान दिया ऐसा मानना चाहिये अन्यथा परमेश्वर में दोष आवेगा । और परमेश्वर के किसी काम में भूल है नहीं । इस से सिद्ध हुआ कि मनुस्मृति भी सृष्टि के आरम्भ से ही रूपान्तर में थी वह कुछ काल पीछे भृगु ने पद्यरूप में बनायी तब भी मनु जी के अभिप्रायानुकूल होने से मनुस्मृति नाम रक्खा गया । इस आर्यावर्तदेश में पहिले श्लोक बनाने की परिपाटी वा ज्ञान नहीं था यह भी किसी का मानना वा कहना सम्भव नहीं क्योंकि वेद में सब प्रकार की छन्दरचना प्रत्यक्ष दीखती है । जब वेद में परमेश्वर ने श्लोक बनाने की प्रक्रिया पहिले ही दिखा दी है तो उन्ही वेदों के पढ़ने पढ़ाने जानने और प्रचार करने वाले ब्रह्मादि लोग श्लोक रचना की रीति न जानते हों यह कदापि सम्भव नहीं । परन्तु यह सत्य है कि प्रायः उस समय के लोग आज कल के तुल्य श्लोक रचना नहीं करते थे उस का अभिप्राय यह था कि बहुत अर्थ जिस में से निकले ऐसा छोटा शास्त्र बने ऐसी लाचबबुद्धि से थोड़े असरों तथा गम्भीर वा बहुत अर्थ वाले सूत्ररूप ग्रन्थों को प्रायः रचते थे । जिस से विद्यार्थी लोग ब्रह्मचर्य आश्रम के समयभर में सब शास्त्रों को पढ़ सकें । पर तो भी सर्वथा पद्यरचना का अभाव नहीं था अर्थात् कोई २ श्लोक बहुत भी शास्त्र बनाते थे । जैसे भृगु जी ने यह स्मृति बनायी वा जैसे त्रेतायुग में सूर्यसिद्धान्त पद्यरूप से बनाया गया । अब यह सिद्ध होगया कि सृष्टि के आरम्भ में वेद के आश्रय से सांसारिक व्यवहार की ठीक व्यवस्था चलाने के लिये सूत्रादि वाक्यरूपों से मनु जी ने इस स्मृति का उपदेश किया उसके पीछे भृगु ने श्लोकरूप से बनाया । जैसे इस समय बनने वाले पुस्तकों में संवत्सर का नाम रक्खा जाता है कि अमुक संवत् में अमुक पुरुष ने यह पुस्तक बनाया वैसी परिपाटी पहिले नहीं थी और कदाचित् हो तो किन्हीं लोगों ने पीछे नष्ट कर दी । इसी से किस संवत् में यह पुस्तक बना यह कहना नहीं बन सकता तो भी अनुमान से हम जान सकते हैं कि इस कल्प में संसार की उत्पत्ति होने पश्चात् परमेश्वर से वेद का उपदेश पा कर अन्य शास्त्र बनने से पूर्व ही मनु जी ने पहिले इस धर्मशास्त्र का उपदेश किया उस समय यह धर्मशास्त्र पुस्त-

काकार से नहीं लिखा था पीछे अनुमान दो सौ वर्ष के भीतर भृगु जी ने श्लोक रूप से बनाया । उसके पीछे कुछ काल बीतने पर किन्हीं अन्य ऋषि लोगों ने पुस्तकाकार किया उस से पूर्व श्लोकरूप का ही निरन्तर चलने वाली गुरु शिष्य की पठनपाठन प्रणाली से प्रचार था । और प्रचार के अनुसार ही पहिले लिखी गयी । पीछे कहीं २ बीच में किन्हीं लोगों ने कुछर मिला दिया यही इस प्रसंग में मुख्य और दृढ सिद्धान्त है ॥

और यदि किसी प्रकार व्यूलर साहब आदि के कहने अनुसार किसी ने दी सहस्र वर्ष के भीतर ही इस धर्मशास्त्र को बनाया ऐसा सिद्धान्त ठीक हो तो भी हमारा मत यह है कि यदि इस पुस्तक में अन्य स्मृतियों की अपेक्षा गम्भीराशय के साथ पक्षपात को छोड़ के वेदानुकूल बर्णाश्रमादि धर्म का वर्णन किया गया है और अन्य प्राप्त होने वाली स्मृतियों में वैसा धर्म का उपदेश नहीं प्राप्त होता तो वेद के अनुकूल होना ही इस मानवधर्मशास्त्र की उत्तमता में हेतु होगा । यह सब सज्जनों का सम्मत है कि जो वेदानुकूल है वही श्रेष्ठ है । और यदि किसी प्रकार इस का नवीन बनना सिद्ध हो जावे तो भी मनुस्मृति नाम रखना विरुद्ध नहीं है क्योंकि कारख के बिना जब कोई कार्य नहीं होता तो मनु जी ने उपदेश किया सूत्रादि वाक्याकार पुरातन धर्म गुरु शिष्य की परम्परा से प्रचरित चला आता था उसी के आश्रय से किसी विद्वान् ने श्लोकरूप से बनाया उसमें भी आदि कर्ता मनु की प्रधानता से मनुस्मृति कहना सम्भव है । और इस को आधुनिक मानना हमारा पक्ष नहीं है किन्तु अन्य लोगों के मतानुसार किसी प्रकार कोई इस को आधुनिक मान ले तो भी समूलक वा वेदमूलक होने से प्रशंसा के योग्य अवश्य माननी चाहिये यह अभिप्राय है । और मैंने तो अपनी सम्मति पूर्व ही लिख दी है ॥

तृतीयप्रकरणे शास्त्रस्य सामान्यतया विषयो विचारणीयइत्यु-
द्दिष्टम् । तत्रेतरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रमिति वा-
त्स्यायनधृतशास्त्रलक्षणमनुसृत्य विचारः क्रियते । सर्वाणि ताव-
च्छास्त्राणि सुखस्य सुखहेतूनामभीप्तां दुःखस्य दुःखहेतूनां च जि-
हासां पुरस्कृत्य विद्वद्भिर्निर्मितानि निर्मायन्ते निर्मास्यन्ते च । तत्र
सुखसुखहेतूनां दुःखदुःखहेतूनां तेषां हानप्रापणयोश्च देशकालवस्तु-
भेदेन भिन्नत्वान्नाविद्यत्वाच्च कर्तृभेदाच्च शास्त्राणामपि बहुत्वम् ।

यानि च पुस्तकानि कुट्टष्टिभिर्निर्मितान्यतएव वेदबाह्यानि तमोगु-
णप्रधानानि तान्यपि दुःखदुःखहेतूनामभीप्साम्पुरस्कृत्य सङ्कलि-
तानीति वक्तुमशक्यम् । नहि कश्चित्स्वार्थं परार्थं वा दुःखन्दुःखहेतू-
न्वाऽभिलषति । तद्यपि परार्थं दुःखन्दुःखहेतून् वा केचिदभीप्सन्ति
तथापि तदर्थं लौकिकव्यापारेण प्रयतन्ते । नहि तादृशमनीषया
शास्त्रनिर्माणेन तस्यार्थस्य सिद्धिः सुलभा दृश्यते । यत्तु परमत-
निराकरणोद्देशमेव प्रयोजनं पुरस्कृत्य शास्त्रं निर्मायते तत्रापि स्व-
मतदूषकहेतुनिराकरणेन स्वदुःखनिवारणं स्वमतस्थगुणप्रकाशनेन च
स्वसुखसम्पादनमेव मुख्यम्प्रयोजनम् । यत्र च परोपकारदृष्ट्यैव केव-
लं शास्त्रं निर्मायते न कश्चित्स्वार्थोद्दिश्यते तत्रापि तेन कर्मणा
शुभफलप्राप्तिरेव स्वार्थसिद्धिः प्रयोजनम् । यदि क्वापि सुखसुखहेतू-
नामभीप्सया दुःखदुःखहेतूनां जिहासयापि निर्मितं शास्त्रं तत्र निर्मा-
तुरविद्याग्रस्तत्वादुराचारप्रवर्तकं स्यात्तथापि दुःखदुःखहेतून् पुरस्कृत्य
निर्मितो ग्रन्थइति वक्तुमशक्यम् । नह्येवं मनसिकृत्य कश्चिद्ग्रन्थ-
निर्माणाय सन्नद्धो भवति । तस्मादुक्तएव राद्धान्तः साधुः । अज्ञानि-
र्मितग्रन्थानां शास्त्रत्वमपि न सम्भवति नहि तत्र समूलकउपदे-
शउपलभ्यते । यत्र चोपलभ्यते तत्र सुखसुखहेतूनामभीप्सा दुःख-
दुःखहेतूनां जिहासा च सङ्घटतएव । अतः सर्वसच्छास्त्राणां सामा-
न्यतया सुखावाप्तेर्दुःखप्रहाणस्य च कारणमेव विषयः प्रयोजनञ्च
तत्रावान्तरभेदाश्च बहवः । एवमस्यापि धर्मशास्त्रस्य सामान्यतया
सएव विषयः ।

यद्यपि प्राणिनां साधनानां च नानाविधत्वाद्विषयाणामपि ना-
नात्वं सुवाच्यमेव तथापि सर्वशास्त्राणां त्रिषु भागेषु विभक्तत्वात्

त्रयएव मुख्यविषया अन्ये च तेषामेवावान्तरभेदाः । तथाचाह—न्या-
यभाष्ये वात्स्यायनः—यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः । लोकव्यवहा-
रव्यवस्थापनन्धर्मशास्त्रस्य । लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य ॥ अ० ४
आन्हिक १ सू० ६३ (६२)

अयमाशयः—कर्मोपासनाज्ञानानीति मुख्यतया वेदविषयः ।
यज्ञशब्दश्च तेषु प्रत्येकमभिसम्बद्धो दृश्यते यथा—विधियज्ञो योग-
यज्ञो ज्ञानयज्ञइत्यादि योगउपासनेत्यनर्थान्तरम् । तत्र कर्म द्विविधं
धर्मोपार्जनाय धर्म्यं कर्म शिल्पक्रियार्थमर्थ्यं च । सर्वमपि कर्म
मनोवाङ्मायसम्भवन्निविधमेव । शुभं सुखहेतुकमशुभं दुःखहेतुक-
मिति सर्वस्य कर्मणोऽपरं द्वैविध्यम् । सर्वसाधारणोपयोगिप्रायो
वैदिङ्कर्म स्मार्तं च प्रायः स्वकार्यसाधकम् । कर्मोपासनाज्ञानेषु
सर्वे विषया अन्तर्गता आयान्ति न कश्चिदतिरिच्यते । यदि कश्चि-
द्वदेत्पुनर्वेदाङ्गिन्नो धर्मशास्त्रस्य को विषयः? इति वेदादवशिष्ट उचित
उपदेशो धर्मशास्त्रम् । यथा मूलाद् व्याख्येयाद् व्याख्यानं सदैवा-
वशिष्टम्भिन्नमभिन्नं च तद्वद्धर्मशास्त्रस्य विषयो वेदाङ्गिन्नोऽभिन्नश्च ।
कर्मोपासनाज्ञानाद्व्यतिरिक्तः कश्चिद्विषयो धर्मशास्त्रेषु नास्तीत्य-
भिन्नः कर्मादीनामवान्तरभेदाङ्गिन्नः । यथेदं वैदिकं कर्मेदं च स्मार्त-
म् । वेदे साक्षादुपदिष्टं वैदिकं यच्च वेदे मूलरूपेणोपदिष्टं सङ्केतमा-
त्रं सूचितं स्मृतिषु च कर्तव्यत्वेन स्पष्टमुपदिष्टं स्मार्तम् । जगति
मनुष्यैर्वेदाज्ञाया घातको रक्षकश्चोभयविधो लोकयात्रासिध्यर्थो
व्यापारः कर्तुंशक्यते तत्र वेदाज्ञानां पोषकएवव्यवहारः कार्यो न तु
कथञ्चन विपरीतइति धर्मशास्त्रस्याशयः । इत्थं क्रियमाणो व्यव-
हारो वेदानुकूलइत्थं च विपरीतइति धर्मशास्त्रेषु वर्णितम् । वेदा-
नुकूलएव व्यापारः सुखसम्पादको दुःखविनाशकश्चास्ति ।

यदा त्रिष्वेव भागेषु सर्वशास्त्राणि विभक्तानि तर्हि षड्दर्श-
नानामुपवेदादीनां च निबन्धानां का गतिरिति निशामय ! वेदा-
र्थस्य विशेषप्रचाराय वेदमूलकतया यानि यानि शास्त्राणि ऋषि-
वरैर्लोकोपकाराय निर्मितानि तानि सर्वाण्येव धर्मशास्त्राणि स्मृति-
रिति च तेषां सामान्येनापरं नाम । नहि मनुस्मृत्यादिष्वन्यनिबन्धे
स्मृतिशब्दो रूढितया निबद्धोऽपितु कापिलस्मृतियोगस्मृतिरित्या-
दिशब्दैः शङ्करस्वामिनापि शारीरकमीमांसायां व्यवहारः कृतएव ।
तथा चान्यैः सूत्रकारैर्भाष्यकारैर्वा स्मृतिशब्देनैव व्यापारः क्रियत-
एव नहीदं विदुषामन्तर्हितम् । वस्तुतस्तु शास्त्राणां द्वैविध्यमेव वरम् ।
श्रुतिः स्मृतिश्च नत्वितिहासपुराणानि वास्तविकशास्त्राणि । किन्तु
कालविशेषोत्पन्नविशिष्टशिष्टसज्जनचरित्रवर्णनेन कथञ्चिदकृतप्रज्ञान्
मनुष्यानुद्बोधयन्ति यानि तत्र धर्मोपदेशनानि तेषां सति वेदमू-
लकत्वे धर्मशास्त्रेष्वन्तर्गतानि वैपरीत्ये च त्याज्यानीत्यखिलशिष्ट-
सम्मतम् । धर्माधर्मयोरनुष्ठातृणां दृष्टान्तरूपाणीतिहासपुराणानीति
भावः । प्रयोजनवत्त्वं तु नैव तेषामस्माभिर्निराक्रियते । अतः सिद्धं
कर्मोपासनाज्ञानानीति सामान्येन सर्वसञ्छास्त्राणां विषयइति
वेदस्तेषां मूलं महर्षिभिः प्रणीताः स्मृतिनामका निबन्धाश्च व्या-
ख्यानरूपाः । एषां कर्मादीनामेव च धर्मत्वम् ॥

भाषार्थः—तीसरी कोटि में सामान्य कर शास्त्र का विषय विचारना चाहि-
ये यह लिख चुके हैं । वात्स्यायन ऋषि ने न्यायसूत्र के भाष्य में लिखा है कि
“परस्पर सम्बद्ध प्रयोजनीय सुख के हेतु साधनों का जिस में उपदेश किया जाय
वह शास्त्र है” इसी के अनुसार शास्त्र के विषय का विचार किया जाता है ।
प्रथम तो यह जानना अति आवश्यक है कि सब शास्त्र सुख तथा सुख के सा-
धनों को प्राप्त करने की इच्छा और दुःख तथा दुःख के कारणों को छोड़ने की

इच्छा को आगे कर बनाये गये बनाये जाते और बनाये जावेंगे। इस में सुख सुख के कारण, दुःख दुःख के कारण और इन की प्राप्ति वा त्याग के भिन्न २ होने वा नाना प्रकार होने और कर्त्ताओं के भेद से शास्त्र अनेक होते हैं। और नीच प्रकृति वालों ने जो वेद विरुद्ध पुस्तक बनाये जिन में प्रायः तमोगुण सम्बन्धी विषयों का वर्णन है। वे भी दुःख और दुःख के साधनों को प्राप्त होने की इच्छा से बनाये गये ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि सब कोई पुरुष अपने वा अन्य के लिये दुःख तथा दुःख के साधनों को नहीं चाहता। यद्यपि कोई दुष्ट नीच प्रकृति मनुष्य अपने से प्रतिकूल अन्य के लिये दुःख वा दुःख के कारणों का सञ्चय करते हैं तो भी उस के लिये संसारी व्यवहार से यत्न करते हैं किन्तु वैसी द्वेष बुद्धि रख कर शास्त्र बनाने से वह प्रयोजन सिद्ध होना सुगम नहीं प्रतीत होता। और जो दूसरे के मत खण्डन करना रूप उद्देश वा प्रयोजन को लेकर शास्त्र बनाया जाता है वहां भी अपने मत में दोष देने वाले हेतुओं के खण्डन से अपने दुःख का निवारण तथा अपने मत के गुणों के प्रकाशित करने से अपने को सुख पहुंचाना ही मुख्य प्रयोजन है। अर्थात् सब स्थलों में विचार कर देखा जाय तो अविद्याग्रस्त पुस्तक भी केवल किसी को दुःख मात्र पहुंचाने के लिये नहीं बनाये जा सकते। हां किसी समुदाय वा निज को भले ही उस से दुःख हो इस के अनेक कारण हो सकते हैं। अर्थात् सब शास्त्रों के बनाने वालों का मुख्य प्रयोजन वा विषय यही होता है कि कारणों के सहित दुःख को हटा कर सुख और सुख के साधन धनादि वस्तु प्राप्त हों। परन्तु अपना दुःख हटा कर सुख प्राप्ति का उपाय रचना सर्वत्र प्रधान रहता है और जहां केवल परोपकार दृष्टि से शास्त्र बनाया जाता है किन्तु उस में किसी प्रकार के स्वार्थ का उद्देश नहीं रखा जाता वहां भी उस कर्म के द्वारा ईश्वर की व्यवस्था से शुभ फल की प्राप्ति होना ही स्वार्थ सिद्धि प्रयोजन है। यदि कहीं साधनों सहित सुख की प्राप्ति और दुःख को निर्मूल हठाने के लिये भी बनाया शास्त्र उस अंश में बनाने वाले के अविद्वान् होने से दुराचार का प्रवृत्त करने वाला ग्रन्थ हो जावे तो भी दुःख वा दुःख के साधनों को लेकर ग्रन्थ बनाया ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा मन में रख कर कोई पुरुष बनाने के लिये प्रवृत्त नहीं होता इस लिये उक्त सिद्धान्त ही श्रेष्ठ है। और अज्ञानी लोगों के बनाये ग्रन्थों को शास्त्र भी इस लिये नहीं कह सकते कि वेदमूलक शिक्षा उन में नहीं पायी जाती

और जहां २ वेदमूलक शिक्षा प्राप्त होती है वहां २ सुखों की प्राप्ति और दुःखों के हटाने की इच्छा प्रकट दीख पड़ती है इस लिये सब शास्त्रों का सामान्य कर सुखों की प्राप्ति और दुःखों के हटाने का कारण ही विषय वा प्रयोजन है। उस में अवान्तर-भीतरी अन्तरङ्ग भेद बहुत हैं। सब के तुल्य इस मानव-धर्मशास्त्र का भी सामान्य कर वही विषय है ॥

यद्यपि प्राणी और सुख दुःखादि के साधनों के नाना प्रकार होने से विषयों के भी अनेक भेद होना सुगमता से ही कहा जा सकता है तो भी सब शास्त्रों के तीन भागों में विभक्त होने से मुख्य विषय तीन ही हैं सो न्यायसूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ऋषि ने लिखा है कि "मन्त्र और ब्राह्मण का विषय यज्ञ, लोक के व्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का विषय और संसारी मनुष्यों के वर्त्ताव वा चरित्रों का वर्णन करना वा इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय का वर्णन करना इतिहास पुराणों का विषय है" इस का तात्पर्य यह है कि कर्म उपासना, ज्ञान यही मुख्य कर वेद का विषय है। यज्ञ शब्द प्रत्येक कर्मादि के साथ सम्बन्ध रखता है जैसे विधियज्ञ, योगयज्ञ वा ज्ञानयज्ञ इत्यादि। योग और उपासना शब्द वास्तव में एकार्थ ही हैं। कर्म दो प्रकार का है एक धर्म के लिये किया धर्म सम्बन्धी द्वितीय शिल्प की सिद्धि के लिये धन सम्बन्धी कर्म है। यद्यपि इस से भिन्न अन्य कर्म भी कामादि के लिये होते हैं तो भी मुख्य ये ही दो हैं। सब कर्म मन वाणी और शरीर इन तीन से ही उत्पन्न होते हैं इस लिये उनके तीन भेद हैं। और सुख का हेतु शुभ कर्म तथा दुःख का हेतु अशुभ कर्म ये अन्य दो प्रकार हैं। वेदोक्त कर्म प्रायः सब का उपयोगी और स्मार्त्त कर्म वैदिक की अपेक्षा स्वार्थ साधक है। कर्म उपासना और ज्ञान में सब विषय अन्तर्गत हैं। कोई इससे भिन्न विषय नहीं जिसका अन्य शास्त्र में विलक्षण वर्णन हो और इन तीनों का मूल वेद से है इस लिये वेद सब विद्या और धर्मों का भण्डार है यह कहना सत्य है। ऐसा होने पर यदि कोई कहे कि फिर वेद से भिन्न धर्म शास्त्र का कौन विषय है? तो उत्तर यह देना चाहिये कि वेद से भिन्न धर्म शास्त्र का विषय हमको इष्ट भी नहीं किन्तु वेद से भिन्न उचित उपदेश का नाम धर्मशास्त्र है जैसे मूल रूप व्याख्येय से व्याख्यान सदैव भिन्न और मिला रहता है वैसे ही धर्मशास्त्र का विषय वेद से भिन्न अभिन्न दोनों है। कर्म उपासना ज्ञानों से भिन्न कोई विषय धर्म शास्त्रों में नहीं है इस कारण वेद से भिन्न

विषय न हुआ। और कर्मादि के अवान्तर भेद होने से भिन्न है इसी से यह व्यवहार करना बनता है कि यह श्रौत वा वैदिक तथा यह स्मार्त कर्म है। वेद में जो साक्षात् कहा गया वह वैदिक और वेद में जिस का मूल रूप से संकेत मात्र सूचना से उपदेश किया और स्मृतियों में जिसको कर्तव्य मान कर स्पष्ट विस्तार पूर्वक उपदेश किया वह स्मार्त कर्म कहा गया।

संसार में मनुष्य वेद की आज्ञा से विरुद्ध और उस के अनुकूल दोनों प्रकार से जगत् का प्रबन्ध चलाने के अर्थ कर्म कर सकता है उसमें वेद की आज्ञा के पुष्ट करने वाले व्यवहार को करे किन्तु किसी दशा में वेद से विरुद्ध आचरण न करे यह धर्मशास्त्र का अभिप्राय है। क्योंकि यद्यपि वेद से विरुद्ध और अनुकूल दोनों प्रकार का व्यवहार हो सकता है तो भी वेद के अनुकूल करने में कल्याण और विरुद्ध करने में अकल्याण वा दुःख प्राप्त होना सम्भव है इसी विषय पर व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषि ने भी लिखा है कि:—

एवं क्रियमाणमभ्युदयकारिभवतीति ॥

अर्थात् वेद की आज्ञा के अनुकूल करना कल्याण का हेतु होता है और इस प्रकार किया व्यवहार वेद के अनुकूल तथा इस प्रकार वेद से विपरीत होगा यही विषय मुख्य कर धर्मशास्त्रों में वर्णन किया गया है वेद के अनुकूल किया व्यवहार ही सुख का देने और दुःख का नाश करने वाला होता है।

अब एक शङ्का लोगों को और भी उपस्थित हो सकती है कि जब सब शास्त्र तीन ही प्रकारों में हैं जैसा कि पूर्व [श्रुति, स्मृति, इतिहासादि नाम से] लिखे गये तो छः दर्शन और उपवेद आदि ग्रन्थों की क्या दशा होगी ? अर्थात् क्या षड्दर्शनादि शास्त्र नहीं और हैं तो इनका विषय क्या है ? आज कल सामान्य कर शास्त्र शब्द के व्यवहार करने से मुख्य तो ये ही समझे जाते वेद तथा स्मृतियाँ वैसे शास्त्र नहीं समझे जाते। इस का उत्तर यह है कि वेदार्थ का विशेष प्रचार करने के लिये वा वैदिक सिद्धान्त में पढ़ने वाले विद्वानों को हटाने के लिये ऋषि महर्षि महात्मा लोगों ने जो २ शास्त्र वेद का आश्रय ले कर परोपकारार्थ बनाये वे सब धर्मशास्त्र वा स्मृति शब्द कर के लोक में वा शास्त्रकारों की मर्यादा में प्रचरित हैं किन्तु मनुस्मृति आदि [कि जिनको आजकल लोग १८ वा २८ स्मृति कहते हैं] पद्य ग्रन्थों में स्मृति शब्द रूढि रूप से

बंधा नहीं है किन्तु कपिल की स्मृति सांख्य शास्त्र, योगस्मृति—पातञ्जल योगशास्त्र इत्यादि शब्दों से शङ्कर स्वामी ने भी शारीरक मीमांसा में व्यवहार किया है । और वैसे ही अन्य सूत्रकार वा भाष्यकार स्मृति शब्द से व्यवहार करते ही हैं यह बात विद्वानों को छिपी नहीं है । और मुख्य कर तो शास्त्र एक वेद है पर उसके व्याख्यान रूप भी ग्रन्थ स्मृति नामक शास्त्र हैं । इस लिये दो प्रकार के शास्त्र मुख्य कहे जाते हैं । एक श्रुति—वेद, द्वितीय स्मृति धर्मशास्त्र हैं किन्तु इतिहास पुराण वास्तविक शास्त्र नहीं हैं किसी समय विशेष में उत्पन्न हुए मुख्य शिष्ट सज्जन पुरुषों का चरित्र वर्णन करने से इतिहास पुराण किसी प्रकार साधारण बुद्धि वाले मनुष्यों को बोधित करते हैं इससे वे सर्वथा व्यर्थ नहीं हैं परन्तु उन इतिहासादि में जो धर्म सम्बन्धी उपदेश हैं वे यदि वेदमूलक हैं तो वे अंश धर्म शास्त्रों में अन्तर्गत हो जायेंगे । और यदि वेद से विपरीत हैं तो वे अंश त्यागने योग्य हैं यह सब विद्वानों वा शास्त्रकारों के सम्मत है । धर्म का सेवन और अधर्म का त्याग करने वालों के लिये इतिहास पुराण एक दृष्टान्त रूप हैं अर्थात् उन का सप्रयोजन होना हम खण्डित नहीं करते । अब इस सब कथन से सिद्ध हो चुका कि कर्मोपासना ज्ञान ही सामान्य कर सब शास्त्रों का विषय है । उन कर्मोदि के उपदेश का मूल वेद है और ऋषियों के बनाये स्मृति नामक ग्रन्थ व्याख्यान रूप हैं । और इन कर्मोपासना ज्ञानों को ही धर्म कहते हैं इस लिये धर्म शब्द पर कुछ लिखा जाता है—

अथ धर्मशब्दस्य कः पदार्थः ? । किं व्याकरणनियमानुसारेण धार्यते जनैर्यः स धर्मः ? एवं सति वेदादिशास्त्रेषु निषिद्धं दुष्कर्मपि केन चिद्धार्यते चेत्तस्यापि धर्मत्वं भवितुं युक्तं किम् ? । एवं सत्यां विप्रतिपत्ताविदमुच्यते समाधानम् । धृञ्धारणइत्यस्माद्धा-
तोरोणादिकः कर्मणि कारके मन् प्रत्ययः । मनुष्याः सामान्या वि-
शिष्टा वा प्राण्यप्राणिनः सर्वे पदार्था वा यं धरन्ति यस्याधाररूपा भवन्ति यद्वा मनुष्यैः प्राण्यप्राणिभिर्वा यो ध्रियते स धर्मः । सर्वशा-
स्त्रेषु जातिगुणक्रियाभेदेन त्रिविधा एव शब्दाः । नैयायिका एतानेव द्रव्यगुणकर्मशब्दैर्व्याहरन्ति । तत्र धर्मशब्दो यथाकथञ्चित्त्रिष्वपि

भेदेषु व्याप्रियमाणो लक्ष्यते । प्राधान्येन च धर्मशब्दो गुणवाचकः कर्मवाचकश्च लोके व्याह्रियते । अतएवाद्वर्चादिपाठादस्योभयलिङ्गता पण्डितैः स्वीक्रियते । यत्र कर्मवाचको धर्मशब्दस्तत्रैवास्य प्रायो नपुंसकता दृश्यते । यथा च यजुर्वेदस्यैकत्रिंशदध्याये । यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । कर्मपर्यायोत्र धर्मशब्दः । नपुंसके क्वचिदेव प्रयुक्तो धर्मशब्दो दृश्यते । किन्तु प्रायशः पुल्लिङ्ग एव धर्मशब्दो लोके वेदे च जनैः प्रयुज्यते लिख्यते च स च गुणवाचकः स्वभाववाचको वा धर्मशब्दोऽस्ति । सर्वविधोऽपि धर्मशब्दः सुखहेतुकस्यैव गुणस्य कर्मणो द्रव्यस्य वा वाचकोऽभीप्स्यते नतु दुःखहेतुकस्येति दुःखहेतौ धर्मशब्दे नत्रव्ययं संयोज्याधर्मइति व्यवहरन्ति तत्र च सुखादिरुद्धं दुःखहेतुकं गुणः स्वभावो द्रव्यं कर्म वाऽधर्मशब्दवाच्यं विज्ञेयम् । यत्र च पर्युदासार्थवाचकं नत्रव्ययं तत्र धर्मभिन्नस्य धर्मसदृशस्य च वाचकोऽधर्मशब्दो विज्ञातव्यः । तमेव धर्माभासमपि वदन्ति । य उपरिष्ठाद्धर्मइव भासते स धर्माभासइत्यर्थः । सर्वे च प्राणिनः सुखमेवेच्छन्ति न कश्चित्कदाचिदपि दुःखमभीप्सति । अतएव कारणाच्छास्त्राज्ञाविरुद्धं दुःखहेतुकं दुष्कर्म न केनापि धार्यते स्वभावतएव विरोधात् । धर्मो ध्रियते धार्यते वा स्वीक्रियते सात्मीक्रियते वा । यथा प्रकृत्यनुकूलं सुखप्रदमेव भुक्तं वस्तु पक्वाशयमवाप्यावतिष्ठते तत्रस्थधातुभिर्ध्रियते च । मित्रं मित्रमवाप्येतरेतरं प्रसन्नताहेतुक्रमिव जायते । इदमेव धारणस्य लक्षणम् । यथा च मक्षिकादिप्रतिकूलं भुक्तं सन्न जीर्यत्यपितु वमनहेतुकं भवति नैव तत्पक्वाशयेन ध्रियते । धारणं चेन्न वमनादिकं वैमनस्यं ग्लानिर्वाजायेत ।

कथंचिद्दमनहेतुकं न स्याज्जीर्येदपि तर्हि दुःखहेतुकान् विकारान् रोगादीनुत्पादयति कदाचिदज्ञानतो भुक्तं न च विशेषविकारहेतुकं चेत्तथापि ग्लानिरवश्यमुत्पद्यते तस्मान्नैव तद्विद्यते । एवमत्रापि नैव निषिद्धं दुष्कर्म केनापि मनुष्येण सात्मीक्रियते ध्रियते वा किन्तु सुखहेतुकमेव प्रसन्नतया ध्रियते । निषिद्धं तु कामक्रोधादिवशीभूतेन सेव्यते । न तु विरुद्धं दुष्कर्म सुकर्ममनीषया कश्चिदनुतिष्ठति । नहि चौरः मनसि निर्भीतः सन् स्तेयं करोति । यदि चौरः कथमपि परोपकारे रममाणधार्मिकवत्स्येये कर्मणि लज्जाशङ्काभयान्युत्सृज्य प्रवर्त्तेत तर्हि विरुद्धस्यापि धारणार्थत्वाद्धर्मत्वं प्रसज्येत तत् नैव सम्भवति तस्माद्धर्मएव धार्यते ध्रियते वा यश्च ध्रियते स एव धर्मइति व्याकरणानुकूलएवार्थः साधुः ॥

एतेन हितमनुकूलमेव ध्रियते न च प्रतिकूलम् । अतो हितकरे गुणकर्मणी एव धर्मइति राद्धान्तः । स्वभावः स्वस्य सत्ता तु सर्वेश्वराचरवस्तुभिर्ध्रियतइति । यदोच्यतेऽयं सज्जनो धर्मात्मास्ति तत्र धर्म आत्मनि बुद्धावन्तःकरणे यस्येत्यर्थे क्रियमाणे दयार्जवाहिंसासत्यास्तेयशौचेन्द्रियनिग्रहादिरूपेण मनसि कर्त्तव्यतयाऽवस्थितोऽस्येति गम्यते यद्वा धर्माः शास्त्रविहितशुभकर्मानुष्ठानजन्याः संचिताः शुभसंस्काराः [संचितं पुण्यम्] मनस्यवस्थिता यस्य स धर्मात्माइति गम्यते । श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानव० इत्यादिस्थलेषु श्रौतं स्मार्त्तं च कर्मैव धर्मशब्देनानूद्यते । कुत्रचित्स्थले सत्यस्यैव नाम धर्मइति । अथातो धर्मजिज्ञासेति पूर्वमीमांसासूत्रम् । एतेन वेदस्थप्रेरणारूपो धर्मः । वेदे यानि विधिवाक्यानि तानि साक्षाद्धर्मस्य बोधकानि । अर्थवादानुवादवाक्यानि च

विधिनैकवाक्यत्वात्सार्थकानि धर्मस्य सहकारीणि कारणानि । अथातो धर्मं व्याख्यास्यामइति वैशेषिकसूत्रम् । अत्रापि विधिलक्षणस्य वैदिकस्यैव धर्मस्य ग्रहणम् । एवमुक्तप्रकारेण पूर्वमीमांसादिषु धर्मस्य शासनं दृष्टचरमतस्तेषामन्वर्थं धर्मशास्त्रत्वम् ।

विहितक्रियया साध्यो धर्मइत्यादिस्थले आत्मापि धर्मशब्दवाच्यो भवितुमर्हति । सोऽपि विहितानुकूलं यतमानेनैव प्राप्यते । क्वचिद्धर्मस्तमनुगच्छति, धर्मं ज्ञानैः संचिनुयात् । इत्यादिस्थलेषु शुभकर्मानुष्ठानेनोपार्जितं शुभं संचितं पुण्यरूपं वासनानुविद्धं कर्मैव धर्मसंज्ञितम् । क्वचिज्ज्ञेयस्य ज्ञानं ध्येयस्य ध्यानमपि धर्मएवास्ति । सर्वोऽयं धर्मो द्विविध ऐहिकः पारमार्थिकश्च । जगति सुखभोगाय सेव्यमानः शुभाचारो वेदोक्तं कर्म च लौकिको धर्मः । फलभोगाकाङ्क्षाराहित्येनौदासीन्यगतमानसेनोपास्यस्य सर्वशक्तिमत ईश्वरस्याज्ञापालनमात्रप्रयोजनेन सेव्यमानं ज्ञानध्यानादिकं पारमार्थिको धर्मः । अयं द्विविधोऽपि धर्मः श्रौतस्मार्त्तभेदेन द्वैविध्यमापद्यते । यद्यपि सर्वशास्त्राणां मुख्यो धर्मएव विषयः । अधर्मस्य निराकरणोपायवर्णनमपि धर्मएव । यत्किमपि कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते तस्य कर्तव्यता निषिद्धस्य च परित्यागः सर्वो धर्मएव तथापि धर्मशास्त्रस्यास्य मानवस्य मुख्यतया धर्मएव विषयः । अतः सामान्यतया धर्मएवोक्तलक्षणो विषयइत्युक्तं भवति ॥

अब सामान्य धर्मशब्द पर कुछ विचार करना आवश्यक इस लिये समझा गया कि हम को धर्मशास्त्र की मीमांसा करना है तो प्रथम जान लेना चाहिये कि धर्म किस वस्तु का नाम है ? वस्तु शब्द से यहां वाच्य मात्र का विचार है किन्तु द्रव्य का पर्याय वाचक वस्तु शब्द नहीं लेना है । प्रयोजन यह कि धर्मशब्द का शाब्दिक वा लाक्षणिक अर्थ क्या है ? अर्थात् व्याकरण के नियमानुसार मनुष्य

जिस को धारण करें वह धर्म है ऐसा होने पर वेदादिशास्त्रों में जिस का निषेध किया गया ऐसे चोरी आदि दुष्कर्म को भी कोई धारण करता वा कर कसता है तो क्या उस को भी धर्म कहना ठीक हो सकता है ? ऐसा विरुद्ध निश्चय वा सन्देह हो सकने से इस का यह समाधान कहा जाता है:—धृज् धारणे इस धातु से कर्मकारक वा भाव में उणादि मन् प्रत्यय जुआ है । सामान्य वा विशेष मनुष्य अथवा चराचर सब वस्तुमात्र जिस को धारण करते जिस के आधार होते अथवा मनुष्य वा प्राणी अप्राणियों से जो धारण किया जाता अर्थात् उन को धारण करने पड़ता है वह धर्म कहाता है यह धर्म का शाब्दिक अर्थ है । कदाचित् किसी प्रकार अन्य कारकों में भी मन् प्रत्यय हो सके परन्तु प्रधानता से भाव और कर्म का ही अर्थ मिल सकता है । भाव अर्थ में प्रत्यय करने से धृति-धैर्य क्षमा आदि धारणरूप हैं इस कारण इन का भी नाम धर्म हो सकेगा ॥

और कर्म का अर्थ आगे स्वयमेव लिखा गया है । सब शास्त्रों में जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द ये तीन ही प्रकार के शब्द माने गये हैं । नैयायिक लोग इन्हीं को द्रव्य गुण कर्म शब्दों से व्यवहार में लाते हैं । इस में धर्मशब्द द्रव्य गुण और कर्म तीनों का नाम जिस किसी प्रकार व्यवहार में आया दीख पड़ता है । परन्तु प्रधानता से धर्मशब्द गुण और कर्म का वाचक है अधिक कर इसी दो प्रकार का व्यवहार आता है । इसी कारण व्याकरण अष्टाध्यायी के अर्द्धर्चादिगुण में धर्मशब्द का पाठ करने से विद्वान् लोग पुंस् नपुंसक दोनों लिङ्ग होना मानते हैं । और जहां कर्म का वाचक धर्मशब्द है वहीं प्रायः इस का नपुंसकपन प्रतीत होता है । जैसे यजुर्वेद के ३१ अध्याय में (यज्ञेनयज्ञम०) यहां धर्मशब्द कर्म का पर्याय वाचक है । नपुंसकलिङ्ग में धर्मशब्द का प्रयोग बहुत न्यून आता है किन्तु प्रायः पुंलिङ्ग में ही लोक वेद में प्रयोग किया वा लिखा जाता है वह गुण वाचक वा स्वभाव वाचक धर्मशब्द है । सब प्रकार का धर्मशब्द सुख हेतु गुणकर्म वा द्रव्यवाचक अभीष्ट है किन्तु दुःख हेतु गुणादि का वाचक नहीं । जहां दुःख का हेतु धर्मशब्द आता है वहां उस में नञ् अव्यय संयुक्त करके अधर्म कहते हैं वहां सुख से विरुद्ध दुःख का हेतु गुण, स्वभाव, द्रव्य वा कर्म अधर्मशब्द का वाच्यार्थ यथासम्भव जानना चाहिये । जहां पर्युदासार्थ वाचक नञ् अव्यय होता है वहां धर्म से भिन्न धर्म के तुल्य वस्तु का वाचक अधर्म शब्द जानना चाहिये उसी को विचारशील लोग धर्माभास भी कहते हैं कि जो ऊपर से धर्म के तुल्य प्रतीत

हो परन्तु वास्तव में धर्म न हो। संसारे में मनुष्य से लेकर चीटी पर्यन्त सब प्राणी सुख की ही इच्छा रखते हैं कोई कदापि दुःख को नहीं चाहता। इसी कारण शास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध दुष्ट कर्म का धारण कोई नहीं करता क्योंकि स्वभाव से ही इसका विरोध है। इस लिये धर्म वही है जिसका धारण, स्वीकार वा स्वभाव से मिलाप हो जावे। जैसे प्रकृति के अनुकूल सुख देने वाले वस्तु का भोजन किया जाय तो वह उदर में जा कर ठहरता वा धारण किया जाता और वहां के धातु उस आहार को अपने तुल्य बनाने का यत्न करते हैं अर्थात् ठहराते हैं। जैसे मित्र को मित्र प्राप्त हो कर प्रसन्नता का कारण होता है वैसे ही अपने प्रिय सुख प्रद को पाकर धर्मात्मा सुखी वा आनन्दित होता है। यही धारण का लक्षण है। और जैसे भोजनादि के साथ वा अकस्मात् प्रमादादि से पेट में मक्खी आदि विरुद्ध वस्तु चला जावे तो नहीं धारण होता—नहीं ठहरता वा पचता किन्तु वमन का कारण हो जाता है क्योंकि पक्काशय उस का धारण नहीं करता यदि उस का धारण हो और वमनादिक न हो वा चित्त न विगड़े ग्लानि न हो अर्थात् कदाचित् विरुद्ध खाया मक्खी आदि वमन का हेतु न हो और किसी प्रकार पच भी जावे तो दुःख के हेतु रोगादि विकारों को अवश्य उत्पन्न करता है। कदाचित् अज्ञान से खाया मक्खी आदि किसी विशेष रोग का कारण न हो तो ग्लानि अवश्य उत्पन्न होती है। प्रयोजन यह कि अनुकूल हितकारी भोजन के तुल्य मक्खी आदि पेट में कदापि न ठहरेगा। तथा जैसे मनुष्य अपने अनुकूल भार को अपनी इच्छा से उठाता है वह उस को हड़ता नहीं भले ही उस में क्रेश हो और जिस भार का उठाना भार नहीं जान पड़ता वही धारण करना है और जहां भार वा दुःख जान पड़े और किसी की लज्जा, शङ्का, भय वा लोभादि के कारण उठाना पड़े वह धारण न होने से धर्म नहीं किन्तु अधर्म है। और अन्तरात्मा सदा सत्य को धारण करता किन्तु बनावटी मिथ्या को वाणी द्वारा कहते सङ्कुचित होता वा लज्जा शङ्का करता है इस कारण जहां ऐसा होता है वह धर्म नहीं और सत्य ही धर्म है। इसी प्रकार निषिद्ध चोरी व्यभिचारादि दुष्ट कर्म को कोई पुरुष धारण नहीं करता किन्तु सुख के हेतु अनुकूल को प्रसन्नता से धारण करते हैं। निषिद्ध कर्म का सेवन काम क्रोधादि के वशीभूत हो कर किया जाता है किन्तु विरुद्ध दुष्टकर्म को सुकर्म बुद्धि से कोई नहीं सेवता अर्थात् चोरी आदि पाप का करने वाला भी उस की पुण्य नहीं मान सकता। चोर निर्भय

होकर चोरी आदि कदापि नहीं करता । यदि चोर किसी प्रकार परोपकार में लगे धर्मात्मा के तुल्य चोरी करने में लज्जा शङ्का भयों को छोड़ कर प्रवृत्त हो तो विरुद्ध कर्म का भी धारण हो सकने से धर्म कहना प्राप्त हो सो तो कदापि सम्भव नहीं तिस से धर्म ही धारण किया वा कराया जाता है और जो धारण किया जाता वही धर्म है इस से व्याकरणानुकूल अर्थ करना ही ठीक है । इस से यह सिद्ध हुआ कि अनुकूल हितकारी का ही धारण होता है किन्तु प्रतिकूल का नहीं इस कारण हितकारी गुण कर्मों को ही धर्म कहना वा मानना सिद्धान्त है क्योंकि अपने २ हितकारी को ही सब लोग स्वीकार करते हैं किन्तु अपने विरोधी दुःखदायी को कोई नहीं चाहता । और स्वभाव का नाम भी धर्म है सो अपनी २ सत्ता को सब चराचर वस्तु धारण करते ही हैं । इस सत्ता को ही भाव भी बोलते हैं कि जिस भाव अर्थ के बोधक व्याकरण में त्व तल् प्रत्यय नियत किये गये हैं । जैसे ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व, वा मनुष्यत्व, पशुत्व, पक्षित्व, एकता इत्यादि शब्दों में ब्राह्मणादि के मुख्य धर्म में त्व आदि प्रत्यय हुआ है इस अंश में महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषि ने अ० ५ पा० १ सू० ११९ पर लिखा है कि—

यस्य गुणस्य भावाद्भूये शब्दनिवेशस्तदभिधाने तस्मिन् गुणे वक्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्यम् ॥

अर्थात् ब्राह्मणपद वाच्य व्यक्ति वा जाति में जिस प्रधान गुण की विद्यमानता होने से ब्राह्मणादि पद का प्रयोग वा व्यवहार किया जाता है उस गुण वा शक्ति का नाम धर्म समझना चाहिये । जिन २ शास्त्रों में अर्थात् छः दर्शनों में धर्म धर्मिके प्रसङ्ग का वर्णन आता है उन २ में शक्ति शक्तिमान् वा गुण गुणी का व्याख्यान समझा जाता है और योग शास्त्र के विभूति पाद में भी लिखा है कि—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

भाष्यम्—योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः ॥ इत्यादि ।

इस योगसूत्र का अभिप्राय यह है कि भूत भविष्यत् और वर्तमान धर्म वा गुणों के साथ रहने वाला धर्मी वा शक्तिमान् वा गुणी कहाता है । धर्म तीन प्रकार के काल भेद से माने जाते हैं । जो अपनी तरुणावस्था को व्यतीत कर

शान्त तिरोभूत अप्रकट वा नष्ट हो गया वह भूतधर्म शान्त कहाता है। तथा विरोधी के तिरोहित (दब) जाने वा नष्ट हो जाने से और अपने उत्तेजक हेतुओं से उत्तेजित हुआ धर्म वा गुण वर्तमान उदित धर्म कहाता है। तथा भविष्यकाल में प्रकट होने वाला गुण अव्यपदेश्य है क्योंकि उसका अनुभव किये बिना वर्णन नहीं किया जा सकता कि इस वर्तमान अवस्था के लौटने पर ऐसा होगा इसी लिये उस का नाम अव्यपदेश्य माना गया है। प्रत्येक वस्तु में इसी तीन प्रकार की दशा के साथ गुण वा धर्म ठहरता है। अपनी योग्यता के साथ अन्य गुण वा धर्मों से पृथक् हुई धर्म पदार्थ की शक्ति का ही नाम धर्म है यह व्यास भाष्य का तात्पर्य है। सब वस्तु में सब प्रकार की योग्यता नहीं रहती इस लिये योग्यता ही सब धर्म वा शक्तियों की अवच्छेदक—भेदक मानी जाती है। और जिसका जिसके साथ मेल होना वा करना उपयोगी है उसके साथ उसकी योग्यता समझी जाती है यही योग्यता शब्द का अर्थ है। ऊपर लिखे महाभाष्य और योगसूत्र का एक ही आशय धर्मशब्द पर है जैसा कि पूर्व से लिखा गया ॥

पूर्वजो तीनकाल के भेद से गुण धर्म वा शक्ति के तीन भेद कहे गये हैं उन को लौकिक वा शास्त्रसम्बन्धी व्यवहार में फैला कर देखा जाय तो ठीक २ ऐसा ही प्रतीत होता है। जैसे जो पहिले से मित्र रहा वह शत्रु और जिस के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं रहा वह पुरुष वा स्त्री मित्र बन जाती है। यह धर्मों का परिणाम सदा होता रहता है। अर्थात् सब पदार्थ सब देश काल और अवस्थाओं में सब के सर्वथा अनुकूल वा सर्वथा प्रतिकूल नहीं रहते किन्तु जो किसी देश, काल, वा वस्तु, अवस्था के सम्बन्ध से अनुकूल हो गया वही देशादि के लौट फेर से प्रतिकूल हो जाता है। इसी प्रकार प्रतिकूल हुआ वस्तु कभी अनुकूल भी हो जाता है यह सब धर्मों का परिणाम है। अभिप्राय यह कि जिस का परिणाम लौट पौट होता रहता है उस गुण का नाम धर्म है। इस पर एक शङ्का यह रह सकती है कि यदि लौटता रहता है तो उस का नाम स्वभाव क्यों रक्खा गया ? अर्थात् स्वभाव उसी को मानते हैं जिस में भेद न पड़े। और सनातन धर्म क्या माना जावेगा कि जब धर्मों का सदा परिणाम होता रहता है तो सनातन धर्म कोई क्यों ठहर सकता है ?। यद्यपि ये दोनों प्रश्न ऐसे हैं जिन पर कितना ही लिखा जाय पार मिलना दुस्तर है तथापि अतिसूक्ष्मता से इन का समाधान लिखा जाता है—

स्वभावशब्द का अर्थ यह है कि अपनाभाव अर्थात् अपना कारण । अपने कारणसे जो गुण कार्य में यथार्थरूप से चला आता है उस को स्वाभाविक कहते हैं । जैसे दूध का श्वेतगुण दही मठा आदि सब में यथावत् बना रहता है वा जैसे कपास की श्वेतता रूई सूत वस्त्र आदि सब उत्तर २ कार्य में चली आती है । तो यहां श्वेतता गुण स्वाभाविक माना जाता है परन्तु दूध दही मठा आदि में कोई काला वा अन्य ऐसा रङ्ग डाल सकते हैं जिससे उस की श्वेतता मिट जावे वा जैसे कपड़े को नील आदि से रङ्ग देना इस से स्वाभाविक को भी कोई लोग अनित्य मानते हैं परन्तु यह पक्ष इस लिये ठीक नहीं कि वह स्वाभाविक रङ्ग नष्ट नहीं होता किन्तु तिरोभूत (दब) हो जाता है । इस का दृष्टान्त धोबी है कि यदि शिल्पक्रिया प्रवीण धोबी हो तो बनावटी ऊपर से चढ़ाये पक्के रङ्ग को भी छुड़ा कर फिर उसी श्वेत स्वाभाविक गुण को निकाल देता है इस से अनुमान होता है कि स्वाभाविक गुण नष्ट नहीं होता किन्तु तिरोहित (दब) होजाता है और धोबी के दृष्टान्त को धर्मसम्बन्ध में भी ठीक लगा सकते हैं कि यदि अच्छा धर्मात्मा उपदेशक गुप्त मिल जावे जो सब प्रकार से शुद्ध और प्रवीण हो वह काम क्रोधादि से लगे दुर्गुणों को छुड़ा कर चेतन आत्मा के स्वाभाविक शुद्धभावों को प्रकाशित कर देता है । और कदाचित् शिल्पकुशल धोबी न मिले कि जो वस्त्र पर हुए नीलादि रङ्ग को छुड़ा सके तो भी स्वाभाविक को अनित्य न मानना चाहिये । क्योंकि सूर्य का तेज वा प्रकाश स्वाभाविक है उस के आवरणक अन्तरिक्षस्थ मेघ वा धूलिको हम नहीं हटा सकते तो भी वह अनित्य नहीं इसी प्रकार यहां भी जानो कि मनुष्यादि में कारण के सम्बन्ध से जो गुण आता है वही स्वाभाविक है और उस के कभी तिरोभूत हो जाने वा अन्तर्धान हो जाने वा किसी अज्ञानी के अनित्य मान लेने पर भी वह अनित्य नहीं होता । पर नित्य अनित्य का विचार लोक में सापेक्ष चलता है किसी की अपेक्षा कोई नित्य माना जाता है जिस के स्वरूप में कभी भेद न पड़े किन्तु अनादि अनन्तकाल एक रस रहे ऐसा तो एक परमेश्वर है । और नित्य सन्ध्या वा अग्नि होत्र करता है ऐसा कहना सापेक्ष अर्थात् जो एक दो दिन कर के छोड़ दे उस की अपेक्षा यहां नित्य शब्द का प्रयोग है किन्तु यह तो सभी जानते हैं कि अति वाल्यावस्था में कोई भी सन्ध्या-ग्निहोत्रादि नहीं करता उत्पत्ति से पहिले भी नहीं करता था मरने पश्चात् भी न करेगा । बीच २ भी कभी २ छोड़ने पड़ता है तो वैसा नित्य अर्थ नहीं तो भी

नित्य माना वा कहा जाता है इसी प्रकार सापेक्ष नित्य वस्तुओं में एक साथ अनित्यता नित्यता दोनों रहती है। परन्तु ठीक नित्य मानने में प्रवाह से किन्हीं को नित्य ठहरा सकते हैं। इस लिये स्वभाव का लौट जाना तिरोभूत हो जाना मात्र है। और जिस का वस्तुतः लौट जाना होता है वह स्वभाव नहीं है। किन्तु संयोगी गुण है।

अब रहा सनातन धर्म से उस में भी यही विचार है उस के तिरोहित हो जाने वा अन्य विरोधी के प्रबल हो जाने से उसका सनातनपन नहीं बिगड़ता। वह सदा कर्तव्य उपयोगी अनुकूल फल दाता है इसलिये सनातन कहाता है। यद्यपि अपवाद विषय में उत्सर्ग का प्रवेश नहीं होता तो भी वह बहुव्यापी होने से उत्सर्ग वा सामान्य ही कहाता है। जैसे भारतवर्ष का एक राजा हो वह दश पांच ग्राम का सब अधिकार किसी को दे देवे तो भारतवर्ष का राजा कहाना उसका बिगड़ नहीं सकता। इसी प्रकार आपत्काल में सनातन धर्म के किसी अंश का पूरा उपयोग न रहे तो उसका सनातन होना खण्डित नहीं हो सकता। इस अंश का विशेष विचार उत्तम मध्यम धर्मों में किया जायगा।

यह सब लेख स्वभाव वा गुण को धर्म मानने पर लिखा गया यद्यपि संस्कृत में ऐसा विचार नहीं था तो भी भाषा में समझने वाले अधिक जान कर बढ़ाया गया। अब प्रकृत यह है कि जब कहा जावे कि यह सज्जन मनुष्य धर्मात्मा है वहां जिसके चेतनता युक्त अन्तःकरण में दया' कोमलता, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियों का वश में करनादि रूप से धर्म कर्तव्य वृत्ति के साथ अवस्थित है ऐसा अर्थ करना चाहिये। अथवा शास्त्रों में कहे शुभ कर्मों के अनुष्ठान से होने वाले पुण्यरूप संचित शुभ संस्कार जिस के मन में अवस्थित हैं वह धर्मात्मा कहाता है। श्रुति स्मृति में कहा धर्म ऐसे प्रसङ्ग में श्रौत स्मार्त कर्म ही धर्म कहाता है। कहीं केवल सत्य का ही नाम धर्म है (अथातो०) इस मीमांसा सूत्र के अनुसार वेदस्थ परमेश्वर की आज्ञा ही धर्म है अर्थात् वेद में जो विधिवाक्य हैं वे साक्षात् धर्म के बोधक हैं। अर्थवाद और अनुवाद वाक्यों की विधिवाक्य के साथ एकता होने से सार्थक होते हैं (अथातो०) इस वैशेषिक सूत्र में विधि—आज्ञा रूप वेदोक्त धर्म का ही ग्रहण है इस उक्त प्रकार से पूर्व मीमांसादि षट्शास्त्रों वा षड्दर्शनों में धर्म की शिक्षा वा उपदेश प्रत्यक्ष है इस कारण उन को धर्मशास्त्र मानना वा कहना सार्थक

हुआ । कहीं लिखा है कि विधान किये कर्म के सेवन से सिद्ध होने वाला धर्म है इत्यादि स्थल में आत्मा भी धर्मशब्द का अर्थ आ सकता है । क्योंकि आत्मा भी विहितानुकूल कर्म करने से ही प्राप्त हो सकता है । मरने पर धर्म साथ जाता, धर्म का धीरे-२ सञ्चय करे इत्यादि स्थल में शुभ कर्मों के सेवन से उपार्जन किया वासनारूप में बंधा पुण्यरूप सञ्चित शुभ कर्म ही धर्म कहाता है । कहीं ज्ञेय वस्तु का ज्ञान और ध्येय वस्तु का ध्यान करना भी धर्म ही कहाता है । यह उक्त सब धर्म दो प्रकार का है एक संसारी और द्वितीय परमार्थसम्बन्धी । जगत् में सुखभोग के अर्थ जिसका सेवन किया जाता है ऐसा शुभ आचरणरूप वेदोक्त कर्म लौकिक धर्म है । और फलभोग की अपेक्षा छोड़ के उदासीन वृत्ति से सर्व-शक्तिमान् सब के उपास्य ईश्वर की आज्ञा पालनमात्र अपना कर्तव्य वा प्रयोजन मान के सेवन किया ज्ञान ध्यानादि परमार्थ सम्बन्धी धर्म कहाता है । यह दोनों प्रकार का धर्म श्रौत स्मार्त भेद से और दो प्रकार का होता है । अर्थात् लौकिक श्रौत स्मार्त और वैदिक श्रौत स्मार्त । यद्यपि सब शास्त्रों का धर्म ही मुख्य कर विषय है क्योंकि जहां कहीं अधर्मको हटाने के उपाय कहे हैं वह भी धर्म के प्रचार में उपयोगी होने से धर्म है तथा जो कुछ कर्तव्य मान कर उप-देश किया गया वह सब धर्म है क्योंकि जो सदा कर्तव्य वा ग्राह्य हो अर्थात् सुख का कारण हो वह धर्म और जो त्यागने योग्य दुःख का कारण निषिद्ध है उसका त्याग भी धर्म है । इस प्रकार वेद, उपवेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, छः वेदाङ्ग, छः शास्त्र और स्मृति आदि सब सत्शास्त्रों में कर्तव्य का विधान और निषिद्ध का त्याग ही मुख्य कर दिखाया गया है । तो भी इस मानवधर्मशास्त्र का मुख्य कर यही विषय है इस से सामान्य कर उक्त लक्षण वाला धर्म ही इस मानवधर्मशास्त्र में कहा गया है यह सिद्ध हुआ । इस धर्म विषय पर इतना लेख बहुत सूक्ष्म है सो कुछ तो आगे शेष होगा और कुछ उपयोगी समझ कर लिखा गया वैसे इस महान् विषय का समाप्त होना दुस्तर था ॥

अथ विधिनिषेधसिद्धानुवादार्थवादानां विचारः

वेदेषु तदनुयायिशास्त्रेषु च यस्येतिकर्तव्यतोपदिष्टा स विधि-
लक्षणो धर्मः । अर्थाद्यस्य कर्तव्यमुपदिष्टं तत्कर्म तेन संचिताः
शुभसंस्कारा वा धर्मशब्दवाच्याइति पूर्वतः प्रतिपादितम् । तेन

सिद्धमितिकर्तव्यतयोपदिष्टएव धर्मः । शुभस्य विधानमुखेन निषिद्धस्य च प्रतिषेधमुखेन विधिरेव धर्मः । यथा नारुन्तुदः स्यादा-
र्त्तोपीत्यत्रारुन्तुदत्वस्यासद्भावोऽपि धर्मएव । यद्वा नारुन्तुदः स्यादा-
र्त्तोपीति वाक्यस्याधर्मनिषेधकत्वाद्धर्मशास्त्रत्वम् । एवं सति विधि-
वाक्यानामेव धर्मबोधकत्वं प्राप्तं नान्येषामिति ।

वेदाद्यखिलशिष्टसम्मतगद्यपद्यवाक्यसमुदायरूपशास्त्रेषु मुख्य-
तया त्रिविधान्येव वाक्यान्वयलभ्यन्ते तथा च न्यायदर्शनवात्स्या-
यनभाष्ययोरपि—अ० २ आ० २ सू० ६२—६४ ।

विधिर्विधायकः ॥ ६२ ॥

भा०—यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः । विधिस्तु नियो-
गोऽनुज्ञा वा । यथाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामइत्यादि ॥

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ६३

विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः सम्प्रत्ययार्थं
स्तूयमानं श्रद्धयतीति प्रवर्तिका च, फलश्रवणात् प्रवर्तते । अनिष्ट-
फलवादो निन्दा वर्जनार्थं, निन्दितं न समाचरेदिति । अन्यकर्तृ-
कस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः । ऐतिह्यसमाचरितो विधिः
पुराकल्पः ॥

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६४ ॥

विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च, पूर्वः शब्दानुवादो-
ऽपरोऽर्थानुवादः । यथा पुनरुक्तं द्विविधमेवमनुवादोऽपि । किमर्थं
पुनर्विहितमनूयते ? अधिकारार्थम् । विहितमधिकृत्य स्तुतिर्बोध्यते
निन्दा वा विधिशेषोवाऽभिधीयते । विहितानन्तरोऽपि चानुवादो

भवति । एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीयम् । लोकेऽपि च विधिरर्थवादोऽनु-
वादइति च त्रिविधं वाक्यम् । ओदनं पचेदिति विधिवाक्यम् ।
अर्थवादवाक्यमायुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम् ।
अनुवादः पचतुपचतु भवानित्यभ्यासः क्षिप्रं पच्यतामिति वा, अङ्ग !
पच्यतामित्यध्येषणार्थम् । पच्यतामेवेति वाऽवधारणार्थम् ॥

अत्र सूत्रत्रये वात्स्यायनीयं न्यायभाष्यम् । तच्च नैव सर्व-
मत्रोद्धृतमपि तु प्रसङ्गानुकूलं यावत्प्रयोजनमुद्धृतमिति । प्रायो
वैदिकपुस्तकेषु ब्राह्मणेषु च यथालिखितानि त्रिविधानि वाक्यानि
घटन्ते । परकृतिपुराकल्पौ चार्थवादौ ब्राह्मणग्रन्थेष्वेव घटेते नतु सना-
तनेऽपौरुषेये वेदइति अनुवादशब्दार्थो यथाभाष्यकारेणोक्तस्तथैव
वेदसम्बन्धिग्रन्थेष्वप्यायति । सिद्धानुवादश्चायमपरोऽनुवादः । एनमेव
केचिद्भूतानुवादइति वदन्ति । अयमपि लोके प्रसिद्धः । शास्त्रेषु
चाप्ययमुपलभ्यते । यदा च त्रिविधानि चतुर्विधानि वा वाक्यानि
सन्ति तदा विधिवाक्यानामेव सार्थकत्वेऽन्येषामानर्थक्यं प्रज्यते
तथाचोक्तं पूर्वमीमांसायाम्—

**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानां
तस्मादनित्यत्वमुच्यते ॥**

इत्यादिप्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादस्थैरेव सूत्रैः पूर्वपक्षं विधा-
योत्तरपक्षे समादधाति तत्रैव—

विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेनविधीनां स्युः

अस्यायमाशयः—विधिवाक्येन सार्द्धमर्थवादानुवादवाक्याना-
मेकवाक्यात्वात्सार्थक्यम् । नह्यर्थवादमन्तरेण विहितमनुष्ठातुं प्रति-

पिद्धं त्यक्तुं वोत्सहते कश्चिदर्थी । फलभोगादिरक्तेनाप्यर्थवादोऽवश्यं
ज्ञातव्यस्तत्राप्यर्थवादस्य सार्थक्यमेव । विहितमेव सेव्यं नाविहितं
निपिद्धं च त्याज्यमित्यर्थवादेनैव प्रत्याख्यते । अतोर्यवादानामपि
सार्थकत्वमेव ।

अथास्मिन् मानवधर्मशास्त्रे-वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादि-
र्हिजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्यचेहचेति सामान्येन
विधायार्थवादः प्रशंसाफलदर्शनम्-गार्भेर्होमैर्जातकर्मचौड़मौञ्जी-
निबन्धनैः । वैजिकं गार्भिकं चैनो हिजानामपमृज्यते । कल्याणमी-
प्सुभिः पित्रादिभिर्देव्यः स्त्रियः पूज्या भूषयितव्याश्चेति विधानं
विधिराज्ञा वा । अत्रैव यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
इत्यादयोर्थवादाः । नचैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचिद्ब्रजेत् ।
नारुन्तुदः स्यादातर्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः । इत्यादिर्निषेधमुखो
विधिः । धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः । इत्यादिः स्पष्टो विधि-
रेव । एवमर्थवादा विधिमेव रक्षयन्ति पोषयन्ति च । सिद्धानुवा-
दवचांसि च धर्मशास्त्रे वेदे चोपलभ्यन्ते । वेदे तावत्-

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।

अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥

इत्यादयः सिद्धानुवादा वेदेषु दृश्यन्ते । धर्मशास्त्रेषु सृष्टेर्वर्णनं
सिद्धानुवादो भूतानुवादोवास्ति । स्वाभाविकद्रव्यगुणकर्मणां विभागेन
प्रदर्शनमपि सिद्धानुवादस्य विषयः । यदा च ज्ञातव्यत्वेन सिद्धमे-
वोच्यते तदाविधिरेव भविष्यति ।

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।

अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं तु राजसाः ।

तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥

इत्यादीनि बहूनि वचांसि सिद्धानुवादगतानि । स्वाभाविक-
सिद्धानुवादवर्णनं विधिनिषेधोस्तत्रौदासीन्यप्रदर्शनाय नहि तत्र-
क्रियमाणो यत्नः सफलो भवितुमर्हति । स्वाभाविकस्य यावद्द्रव्य-
भावित्वात् । कुत्र २ चिच्छुभाशुभज्ञापनेन विधिनिषेधाभिमुखकर-
णाय मनुष्याणां सिद्धानुवादा उच्यन्ते । यथा हिमस्य भेषजं यो
जानाति सएव हिमग्रस्तः सन्निवृत्तिं कर्तुमर्हति । नहि सर्वं सिद्धं
सर्वः कश्चिज्जानाति । सिद्धमिदानीं सर्ववाक्यसमुदायसच्छास्त्रेषु च
तुर्विधान्येव वाक्यानीति ॥

अब विधि, निषेध, अनुवाद वा सिद्धानुवाद और अर्थवाद जिन का उद्देश्य
चतुर्थ संख्या में लिख चुके हैं उन का विचार किया जाता है । इन में विधि नाम
आज्ञा (हुक्म) का है कि ऐसा करो और ऐसा मत करो यह निषेध है सो भी
विधि के साथ ही लग जाता है । अनुवाद—कही बात वा विषय को फिर कहना ।
सिद्धानुवाद—एक अनुवाद का ही भेद है जो वस्तु वा कार्य लोक की वर्तमान
परिपाटी के अनुसार वा स्वभाव से संसार में होता है उस का कहना सिद्धानु-
वाद कहाता है । वेद और वेदानुकूल शास्त्रों में जिस के लिये कहा गया कि
यह इस प्रकार कर्त्तव्य है वा नहीं वह आज्ञा चिह्न वाला धर्म है । अर्थात् जिस
को कर्त्तव्य कहा है वह कर्म और उस कर्म के सेवन से सञ्चित हुए शुभ संस्कार
भी धर्म सञ्ज्ञिक हैं यह पूर्व भी कह चुके हैं तिस से सिद्ध हुआ कि जिस के करने
वा न करने की आज्ञा दी गयी उस का वैसा ही करना वा न करना धर्म कहा-
ता है । शुभ की विधानपूर्वक निषिद्ध की निषेधपूर्वक करने न करने की आज्ञा
देना ही धर्म है जैसे जिस से दुःखी हो उस से भी मर्मच्छेदन करने वाले कठोर
वाक्य न बोले यहां मर्मच्छेदन न करना भी धर्म ही है । अथवा “कठोर मर्मच्छे-
दक वाक्य न बोले चाहे दुःखी भी हो” यह वाक्य अधर्म को हटाने वाला होने
से धर्मशास्त्र वा धर्मशासक है । ऐसा होने से विधि वाक्य ही धर्म को जताने
वाले हो सकते हैं अन्य नहीं यह सिद्ध हुआ ॥

श्रेष्ठ लोगों के माने हुए वा बनाये हुए गद्य पद्यरूप वाक्य समुदायों से बने वेदादि सम्पूर्ण शास्त्रों में मुख्यकर तीन प्रकार के ही वाक्य प्राप्त होते हैं सो न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य में लिखा है । अ० २ [आन्हिक २ सू० ६२-६४] कि एक जो प्रेरणा करने वाले वाक्य हैं उन्हीं को नियामक वा आज्ञा भी कहते हैं । जैसे “स्वर्ग-सुख विशेष की कामना रखने वाला पुरुष अग्निहोत्र करे” यह विधि वाक्य है ॥

द्वितीय प्रकार के अर्थवाद वाक्य कहाते हैं । विधि वा आज्ञा के अर्थ नाम प्रयोजन को कहने वाले होने से उन का नाम अर्थवाद है इस अर्थवाद के अवा-न्तर भेद चार हैं । स्तुति । निन्दा । परकृति । और पुराकल्प । विधि के फल को दिखाने वाली प्रशंसा स्तुति कहाती है विधि के फल को दिखाने से कर्त्ता की प्रतीति वा विश्वास हो सकता है कि इस को करना चाहिये निष्फल नहीं है । अच्छा फल दिखा देने से कर्त्ता की अट्टा भी होती है इसी कारण स्तुति ही उस कार्य में प्रवृत्ति कराती है क्योंकि अच्छा फल सुन कर कार्य में मनुष्य प्रवृत्त होता है । अनिष्ट फल कहना निन्दा कहाती है उस दुष्ट काम से होने वाले निरुष्ट फल के दिखाने से कर्त्ता की अरुचि हो जावेजिस से निन्दित बुरे काम को न करे । जैसे कि “गौर्न हन्तव्या” यह विधि है गौ के मारने से जो बुरा फल होगा उस का दिखाना और “गौरक्षणीया” इस विधि वाक्य पर गौ की रक्षा से जो अच्छा फल होगा उस का दिखाना निन्दा स्तुतिरूप अर्थवाद कहाता है । अन्य किसी ने अच्छा वा बुरा किया उस को वैसा फल मिला यह दृष्टान्त दिखाना परकृति है । जैसे सत्य बोलना चाहिये और मिथ्या बोलना नहीं चाहिये । ये दोनों विधि वाक्य हैं सत्य बोलने में यह २ लाभ और मिथ्या बोलने में ऐसी २ हानि वा बुराई है देखो युधिष्ठिर सत्य बोलने से ऐसे प्रतिष्ठित धर्मात्मा कहाये और एक बार मिथ्या बोलने से उन को अमुक बुरा फल मिला यह परकृति है और इतिहास सम्बन्धी विधि पुराकल्प कहाता है । अर्थात् परम्परा से अनेक शुभ कर्म होते आते हैं उन को परम्परा के प्रमाण से कर्त्तव्य ठहराना पुराकल्प कहाता है । ये चारो प्रकार के अर्थवाद विधि की पुष्टि करते हैं वा सेवक के तुल्य हैं । परन्तु विधि वाक्य ही मुख्य प्रधान हैं । जिस कर्त्तव्य की विधि- आज्ञा वेद में नहीं उन के अर्थवाद भी नहीं आते । क्योंकि अर्थवाद विधि के आश्रय चलते हैं ॥

अब तीसरे प्रकार के अनुवाद वाक्य हैं । अनुवाद दो प्रकार का होता है । एक तो शब्द को द्विवारा बोलना शब्दानुवाद और अर्थ नाम वाच्य को द्विवारा कहना अर्थानुवाद कहाता है । अनुवाद शब्द का मुख्य अर्थ यही है कि कहे को फिर से कहना । अब यह शङ्का है कि जिस को एक बार विधान कर चुके वा एक शब्द बोल कर जिस की आज्ञा दे चुके उस को फिर क्यों कहते हैं ? इस का समाधान यह है कि जिस को द्विवारा कहा जाता वह अति प्रशस्त वा अवश्य कर्त्तव्य कार्य माना जाता है अर्थात् द्विवारा कहने से विधि की प्रशंसा होती है जिस का अनुवाद किया जाय उस कर्म को निस्सन्देह उत्तम वा कल्याण का मार्ग समझ कर करना चाहिये । जैसे शास्त्रों में तीन प्रकार के वाक्य आते हैं वैसे ही लोक के व्यवहार में सर्वसाधारण [जिन्होंने शास्त्र नहीं पढ़ा] भी इन्हीं तीन प्रकार के वाक्यों से व्यवहार करते हैं—यथा—भात पकावे वा रोटी बनाओ इत्यादि विधि वाक्य कहाते हैं । क्योंकि आयु, तेज, बल, सुख, और स्मरणशक्ति की वृद्धि तत्काल पकाये अन्न के भोजन से होती है यह अर्थवाद । पकाइये २ वा जाओ २ बैठी २ । वा शीघ्र २ पकाइये इत्यादि अनुवाद कहाता है । यह सब न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य का आशय लिखा है । इन तीनों सूत्र पर जितना भाष्य था वह सब हमने यहां नहीं लिखा किन्तु प्रसङ्ग के अनुसार जितना प्रयोजन था उतना लिखा है शेष छोड़ दिया है । उक्त तीन प्रकार के वाक्य प्रायः ब्राह्मणादि वेद सम्बन्धी पुस्तकों में आते और संघटित होते हैं । तथा परकृति और पुराकल्प नामक दोनों अर्थवाद ब्राह्मण पुस्तकों में ही घटते हैं किन्तु अपौरुषेय सनातन वेद में नहीं घटते । अनुवाद शब्द का अर्थ जैसा वात्स्यायन ऋषि भाष्यकार ने दिखाया है वैसा वेद सम्बन्धी ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः आता है । और सिद्धानुवाद वा भूतानुवाद यह भी एक प्रकार का अनुवाद है यह लोक में भी प्रसिद्ध है और शास्त्रों में भी इस का प्रचार दीखता है । जब तीन वा चार प्रकार के वाक्य हैं तो एक विधि वाक्यों के सार्थक होने से अन्यो का व्यर्थ होना प्राप्त हुआ और यही बात पूर्वमीमांसा में भी कही है कि वेद के आज्ञारूप वाक्यों से कर्त्तव्य का उपदेश होने से जिन में कर्त्तव्य का उपदेश नहीं उन अक्रियार्थ वाक्यों की अनर्थकता होगी । इस कारण विधि वाक्यों को अनित्य समझना चाहिये । ऐसा पूर्व पक्ष करके वहीं उत्तर दिया है कि विधि वाक्यों के साथ अर्थवाद वाक्यों का एक कार्य में योगरूप सम्बन्ध रहने से अर्थवादादि

व्यर्थ नहीं किन्तु सार्थक हैं क्योंकि कोई सुख भोग चाहने वाला पुरुष अर्थवाद के बिना आज्ञा का सेवन वा निषिद्ध का त्याग नहीं कर सकता । और फल भोग से विरक्त पुरुष को भी अर्थवाद अवश्य जानना चाहिये क्योंकि विहित का सेवन करे अन्य का नहीं यह भी अर्थवाद से ही जताया जाता है इस से वहां भी अर्थवाद सार्थक हैं ॥

अब इस मानवधर्मशास्त्र में “(वैदिकैःकर्म०) वेद सम्बन्धी पुरुष के उत्पन्न कराने वाले कर्मों से ब्राह्मणादि तीनों वर्ण के शरीर के संस्कार करने चाहिये जिस से इस जन्म और जन्मान्तर में पवित्रता होती है” यह विधि तथा सामान्य से किसी कार्य का विधान कर पीछे उस की प्रशंसा वा फल दिखाना अर्थवाद है जैसे (गर्भ०) गर्भाधानादि संस्कारों में होने वाले होम और मन्त्र पूर्वक धारण किये चिन्हों से द्विजों—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के बीज सम्बन्धी वा गर्भ सम्बन्धी मलीनता के सब दोष छूट जाते हैं अर्थात् संस्कारों में ओषधियों का भी कहीं २ प्रयोग किया है उस से तथा अन्य पवित्रता के उपाय संस्कारों में होने से अपवित्रता दूर होती है यह पूर्वोक्तविधि पर अर्थवाद तथा कल्याण चाहने वाले पिता आदिपुरुषों को श्रेष्ठ धर्मज्ञा स्त्रियों का सत्कार और उन को भूषित करना चाहिये यह विधि वा आज्ञा है । इसी पर “जिन घरों में सती स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ श्रेष्ठ रुज्जन लोग निवास कर प्रसन्न होते हैं और जिन घरों में स्त्रियों का सत्कार नहीं वहाँ श्रेष्ठ लोग दुःखी होकर नहीं ठहरते अर्थात् विरक्तादि हो जाते हैं” । तथा अति भोजन न करे झूठे कहीं न जावे । दुःख प्राप्ति में भी सम भेदी वचन न कहे, दूसरों से वैर विरोध करने में बुद्धि न लगावे इत्यादि कथन कुराई से बचने की आज्ञारूप विधि है तथा आलस्य निद्रा को छोड़ कर धर्म के मूल श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का सेवन करे इत्यादि सीधा कर्त्तव्य का विधान है । इस उक्त प्रकार से अर्थवाद वाक्य विधिवाक्य की ही रक्षा और पुष्टि करते हैं । सिद्धानुवाद रूप वचन जो अनुवाद सम्बन्धी वाक्यों के अन्तर्गत हैं उन का प्रयोग मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों और वेदों में मिलता है । वेद में लिखा है कि—सूर्य एक बिना किसी का सहाय लेकर अपनी कक्षा में डोलता और चन्द्रमा वारर घटता बढ़ता अग्नि पाले का औषध और भूमि सब से बड़ा खेत है । इत्यादि सिद्ध बातों का कथन है किन्तु कुछ नवीनता नहीं इससे इस का नाम सिद्धानुवाद है । धर्मशास्त्रों में सृष्टि का वर्णन सिद्धानुवाद वा भूतानुवाद

है । स्वाभाविक वर्तमान द्रव्य गुण कर्मों का विभाग पूर्वक दिखाना भी सिद्धानुवाद का विषय है । और जब सिद्ध को ही जानने के विचार से कहते हैं तब वहां भी विधि ही जानना चाहिये । तथा “चेतन का अन्न-भक्ष्य जड़, दांत वाले प्राणियों के बिना दांत वाले, हाथ वालों के बिना हाथ वाले और शूर वीर सिंहादि प्राणियों का भक्ष्य अन्न डरपोंक प्राणी हैं,, “सर्वगुण को धारण करने वाले देवता, रजोगुण को धारण करने वाले मनुष्य और तमोगुणधारी जीव जन्तु पशु पक्षी आदि योनि को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार तीन गुणों के भेद से मुख्य कर तीन भेद वाले सब प्राणी हैं । गुणों के अवान्तर भेद एक २ में अनेक होने से योनियों में अवान्तर भेद पड़ते हैं,, इत्यादि अनेक वचन सिद्धानुवादपरक आते हैं । स्वाभाविक सिद्धानुवाद इस लिये कहा जाता है कि उस में विधि निषेध की उदासीनता समझी जावे क्योंकि जो गुणादि स्वाभाविक अच्छा बुरा है उस में कुछ हेर फेर न हो सकने से विधि निषेधरूप प्रयत्न करना कदापि सफल नहीं हो सकता स्वाभाविक गुणादि उस वस्तु की पूर्ण आयु तक रहता है और कहीं २ शुभ अशुभ लोक के वर्त्ताव को जताकर [कि ऐसा २ करने वाले ऐसा २ फल भोगते हैं] विधि निषेध की ओर मनुष्यों को झुकाने के लिये सिद्धानुवाद कहे जाते हैं जैसे शीत वा पाले की ओषधि जो जानता है वही शीत सम्बन्धी दुःख से बच सकता है । सब सिद्ध वस्तु को सब कोई नहीं जानता । इस लिये शास्त्राकार उन को जताने के अर्थ सिद्धानुवाद कहते हैं कि जिस से सृष्टि क्रमानुकूल गुण कर्मों का बोध हो जावे जिस से उस के अनुसार वर्त्ताव कर के मनुष्यों को सुख प्राप्त हो और दुःखों से बचें यही सिद्धानुवाद का प्रयोजन है । अब यह सिद्ध हो गया कि वाक्य समुदायरूप सब मान्यशास्त्रों में चार ही प्रकार के वाक्य हैं ।

ये तीन वा चार प्रकार के वाक्य जो दिखाये गये इस से शास्त्रों के अभिप्राय अच्छे प्रकार और शीघ्र बुद्धि में जम जाते हैं । इस प्रकार वाक्यविभाग न दिखाया जाय तो ठीक २ सिद्धान्त का बोध नहीं हो सकता इस लिये वाक्य विभाग दिखाना आवश्यक है । जहां २ इस पुस्तक में जो २ वाक्य आवेंगे वहां भाष्य में विधि आदि कर के लिख दिया जायगा कि यह विधि, अर्थवाद वा अनुवाद अथवा सिद्धानुवाद है । जिस से सर्वसाधारण लोगों को ज्ञात हो जायगा कि धर्मशास्त्र बनाने वाले ने हम को अमुक २ आज्ञा दी है तथा अमुक २

अर्थवाद आदि से उस को सार्थक ठहराया है । इस विषय पर अधिक लेख बढ़ सकता परन्तु प्रयोजनमात्र समझाना उचित समझ कर अधिक नहीं बढ़ाया गया ॥

अथ धर्माणामुत्तममध्यमनिकृष्टत्वे सापेक्ष- त्वप्रदर्शनं नाम पञ्चमं प्रकरणमारभ्यते ॥

इतः पूर्वं धर्मशब्दस्य शाब्दिको लाक्षणिकश्चार्थोक्तः । इदानीं धर्मस्यावान्तरभेदास्तत्स्वरूपं तत्सहायाश्च वक्तव्यास्तदनन्तरं तेषामुत्तममध्यमनिकृष्टादिसापेक्षतां वक्ष्यामः ।

वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति प्रमाणमाश्रित्य वृक्षरूपस्य धर्मस्य मूलं वेदो वेदादेव धर्मवृक्ष उत्पन्नइति विदुषां सम्मतम् । तस्य वृक्षरूपस्य धर्मस्य मुख्यास्त्रय एवावयवास्तथाचोक्तं ब्राह्मणोऽनिपत्सु “त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति” ॥

वृक्षे प्रथमनिष्पन्नस्यूलशाखानां स्कन्धइति संज्ञास्ति । तथैव धर्मस्य त्रयः स्कन्धा अवयवाइति यावत् । त्रिषु भागेषु विभक्तो धर्मइत्यर्थः । यज्ञशब्दार्थे कर्मोपासनाज्ञानानां सर्वेषामेवान्तर्भावः । वाच्येके जुह्वतिप्राणं प्राणे वाचं च सर्वदेव्यादिना सत्यभाषणप्राणायामादिधर्मोपि यज्ञान्तर्गतएव । अध्ययनं वेदादिशास्त्राणां तदाशयानां वाऽऽप्तमुखाच्छ्रवणं शुभगुणानां तज्जन्यसंस्काराणां धारणं च धर्मः । तेषामेव श्रवणेन धृतानां धर्मरूपसंस्काराणां परोपकाराय वितरणं दानम् । यद्वाऽन्येषां सुखहेतूनां स्वयं धृतपदार्थानां धनादीनां वितरणं दानम् । येन वस्तुना गुणेन कर्मणा वचनेन वा विना कस्यचिद्दुःखं प्राप्तं तच्च वस्त्वादिकं यदि स्वस्य सांनिध्येऽस्ति तेन तद्वस्त्वाद्यंशो दुःखिने देयइति दानमेव परमोधर्मइति । अन्ये च ये धर्मावयवा उपलभ्यन्ते ते चास्यैव त्रिविधस्य धर्मस्यावान्तरभेदाः

शास्वारूपा भवितुमर्हन्ति । यथा मनुष्येण दयाऽवश्यं रक्षणीया तस्याश्च चिन्हं परदुःखनिवारणे परिश्रमः । यो दुःखितस्य दुःखं दूरीकर्तुं प्रवर्तते तस्य त्वदि दयाऽनुकम्पा वाऽस्तीत्यनुमानात्प्रतीयते । एवमन्येपि भेदा अन्तर्गता भवन्ति ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

इति मनुस्मृतौ षष्ठाध्याये । यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् । दानं दया ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ अहिंसा समता शान्तिस्तपः शौचममत्सरः । हाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥ इति महाभारते वनपर्वणि यज्ञसंवादे । तथा— इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा धृणा । अलोभइति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते । उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति । इत्यपि महाभारत उद्योगपर्वणि विदुरप्रजागरेऽस्ति । अयं च तेषामेव त्रयाणां सर्वो विस्तरोऽस्ति । धर्मस्य मुख्यं स्वरूपं तु सत्यमेव । अतएवोक्तं शास्त्रेषु— नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परमिति । तथा—नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति । अतो ज्ञायते यत्र२ छलकपटादेः प्रवेशस्तत्रतत्र यज्ञाध्ययनदानादीनामपि धर्मत्वाभावएव । एतेनात्मौपम्येन सर्वप्राणिषु प्रवृत्तिरपि धर्मस्य स्वरूपमिति व्याख्यातं भवति । नहि कश्चिच्छलादिपूर्वकं स्वार्थं किमपि कृत्यमिच्छति तद्वत्परार्थापि प्रवृत्तिः सत्यो धर्मइति । कुत्रचिद्वानृशंस्यं परो धर्मः । क्वापि मातापित्राचार्यादीनां सेवा परमो धर्मइत्यादिप्रकारेणानेकधर्मलक्षणानां यथावसरं यथाप्रयोजनं च प्राधान्यं प्रदर्शितम् । तच्च सर्वं सापेक्षं

प्राधान्यम् । निरपेक्षं निरतिशयं वा सत्यस्य प्राधान्यं, नास्ति धर्म-
स्वरूपेषु तादृशं प्राधान्यं कस्यचिदपीति सत्यमेव धर्मस्य स्वरूपम् ।
कर्मणोऽपि धर्म इति नामास्तीति पूर्वमुक्तम् । तथा च धर्मस्य मान-
सवाचिककायिकभेदेन त्रैविध्यादशभेदा वात्स्यायनभाष्ये प्रदर्शिताः ।

दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुना-
न्याचरति । वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं पर-
द्रव्याभीप्सां नास्ति क्यं चेति । सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय ।
अथ शुभा शरीरेण दानं पवित्राणं परिचरणं च । वाचा सत्यं हितं
प्रियं स्वाध्यायं चेति मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति सेयं धर्माय ।
अ० १ । आ० १ सू० २ ।

यावन्तो धर्माधर्मयोरवान्तरभेदास्ते मुख्या दशविधा एव । एते-
षामेवान्ये धर्माधर्मभेदा भविष्यन्ति । यथाऽसूयामत्सरतादीनां
परद्रोहादिष्वन्तर्भावः । यथा वा कृतज्ञतादीनां दयादिषु च । ध-
र्मस्य सहकारिसाधनानि प्रायशोऽस्मिन् मानवधर्ममीमांसाभाष्ये
व्याख्यास्यन्ते । तादर्थ्यात्ताच्छब्दमिति न्यायेन साधनव्याख्या-
तृत्वादपि धर्मशास्त्रत्वम् ॥

धर्मस्य मुख्यतया द्वावेव भेदौ सामान्यो विशेषश्च स्वस्वक-
क्षायां द्वयोरपि प्राबल्यं प्राधान्यं च । सामान्यो धर्मः सर्वमनुष्य
सात्रैरनुष्ठातुं योग्यः स्वीकर्तव्यश्च । अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमि-
न्द्रियनिग्रहः । एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ इ-
त्यादिप्रकारेण बहुत्र व्याख्यातः सामान्यो धर्मः सर्वैरुपास्यः ।
यदर्थं च विशिष्टो धर्म उक्तस्तैरपि सामान्यः कारणरूपो धर्मः से-
व्य एव । नहि हिंसको मिथ्यावादी वाऽध्यापनाध्ययनजपतपत्रादि

धर्म्यकर्माण्यनुष्ठातुमर्हति । अनुष्ठानेन वा तस्य साफल्यं भवितु-
मशक्यम् । अतएव मनुनापि कारणभूतस्य सामान्यधर्मस्य प्रा-
धान्यं प्रदर्शितम्—यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान्
बुधः । यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् । अत्र यमा-
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः । तेषां सेवनपुरस्सरं शौचा-
दिनियमानां सेवनं शुभकरम् । विशेषइति भेदोऽधिकारिभेदात् ।
कर्मानुकूलाः शुभाशुभवासनास्तदनुकूलः संस्कारसंचयस्तस्य देशका-
लवस्तुभेदेन भिन्नत्वेन बुद्धिवैचित्र्यादधिकारिभेदः । यथा—युद्धं
चेत्स्यात्तदा क्षत्रियत्वं परीक्ष्यते—यो युद्धे निर्भयोऽपराङ्मुखो धर्म्य-
युद्धेन शरीरं त्यक्तुमुद्यतः सएव क्षत्रियः । यद्यपि क्षत्रियस्यान्येऽपि
विशिष्टधर्माः सन्ति तथापि तेष्वप्ययं विशिष्टः । क्षतात्त्रायतइति
निर्वचनेनापीदमेवावगम्यते नहि स्वयं मरणभयेनोद्दिग्गः पुरुषः
कंचित्क्षतात्त्रायतुमर्हति नहि भीतेन भयाद्रक्षणं सम्भवति । तस्मा-
त्क्षतात्त्राणमेव क्षत्रियस्य क्षत्रियत्वम् । इदं जात्या कर्मणा वा
यथा सम्भवति तथा ब्राह्मणादिवर्णविचारप्रकरणे वक्ष्यामः ॥

अस्मिन् प्रकरणे धर्माणां सापेक्षत्वं विचार्यमिति प्रस्तुतम्—
कस्यचिद्व्यपेक्षयापेक्षयैवेतरस्योत्तमतानिकृष्टता वा भवितुमर्हति ।
अयं चोत्तमनिकृष्टव्यवहारः सर्ववस्तुषु सापेक्षो भवत्येव । यथा
देवदत्तउत्तमः पण्डितो यज्ञदत्तश्च निकृष्टः । अत्र द्वयोरपि सापेक्षे
एवोत्तमत्वनिकृष्टत्वे । नहि देवदत्तादुत्तमो यज्ञदत्ताच्च निकृष्टोऽन्यः
कश्चित्पृथिव्यां नास्तीति वक्तुं शक्यते । यथा च वराटिकापेक्षया
पणस्य तदपेक्षया रजतमुद्रायास्तदपेक्षयापि सुवर्णमुद्रायाश्च प्राश-
स्त्यमित्यादिप्रकारेणैव निकृष्टतापि कस्यचिदपेक्षया सर्वद्रविणवाच-

केष्वस्त्येव । तथैव प्रकृते धर्मलक्षणप्रसारेऽपि यत्र २ कस्यचिदु-
त्तमत्वं निकृष्टत्वं वा निरूप्यते तत्र २ सापेक्षमेव विज्ञेयम् । यथा
मातापित्राचार्याणां सेवा तदाज्ञापालनं च परमो धर्मइत्युक्तम् । नैव
तस्य सत्याचरणापेक्षया प्राशस्त्यमपित्वन्यसम्बन्धिविद्वत्सेवनापेक्ष-
या प्राशस्त्यमर्थात् पूर्वतो द्वितीयाध्यायै योनिसम्बन्धे विद्यासम्बन्धे च
विद्यावयोवृद्धानां सेवाशुश्रूषे तदाज्ञानुकूलाचरणं च कार्यमित्युक्तम् ।
तदपेक्षया योनिसम्बन्धे मातापित्रोर्विद्यासम्बन्धे च गुरोराज्ञापालन-
मेव तेषां प्रियाचरणं च वरमित्युक्तं भवति । अतएव सर्वैः सह यथा-
योग्यवर्त्तनं सामान्यम् । मात्रादीनां सेवा च तदपेक्षया विशिष्टा
तथा च सर्वशास्त्राध्ययनं सामान्येन धर्मः । तदपेक्षया विशेषतया
वेदाध्ययनं प्रशस्तो धर्मः । कुत्रचित्कस्यचिदपेक्षया हीनत्वं प्रतिपा-
दितम् । तत्र कथंचित्स्वस्वप्रसंगे द्वयोरपि धर्मत्वं सम्भवेत्तथापि
यस्य हीनत्वमकर्तव्यत्वमुच्यते यस्य करणं तदानीं कस्यचिदपेक्षया
हानिकरं तस्याधर्मत्वमुच्यते तत्र भयानकवचांसि च प्रतिपाद्यन्ते
यस्य च विशिष्टप्रबलफलप्रदत्वेन कर्तव्यत्वमिष्टं तस्य धर्मत्वमुच्य-
ते तत्र रोचकवचांस्यर्थवादरूपाण्यप्युच्यन्ते । येन तस्मिन् स पुरुषः
प्रवर्त्तते । एवं रोचकभयानकवचनान्यपि धर्मशास्त्रेषु वर्त्तन्ते । तानि
च सार्थकानि ।

एतत्कथनेन धर्माणां सापेक्षत्वं विज्ञाय यस्य यदा करणं श्रेयः
यस्यापेक्षया च यस्य करणं श्रेयस्करं तत्तु प्रयत्नेन कार्यमेव यथा
सर्वमान्यानां सेवा शुश्रूषा च कर्तुमशक्या चेन्मातापित्राचार्याणां
तु कार्यैव सर्वेषां शक्याचेन्मात्रादीनां विशेषप्रयत्नेन कार्या । मात्रा-
दीनां सेवनापेक्षयाऽन्येषां सेवनं दुःखप्रदम् । मातापित्राचार्याणां
सेवां विहायान्यसेवको नैव धार्मिकइत्याशयः ॥

भाषार्थः—अब धर्मों की उत्तम मध्यम निकृष्टता का सापेक्ष होना इस पांचवें प्रकरण में दिखाते हैं—इस से पूर्व धर्म शब्द का व्याकरण और कोष सम्बन्धी दोनों अर्थ दिखाया गया है। अब धर्म के अवान्तर भेद, उस का स्वरूप और उस धर्म के सहायकारी कहने चाहिये इस के पीछे धर्मों के उत्तम मध्यम निकृष्ट होने में सापेक्षता कहेंगे।

इसी मानवधर्मशास्त्र में लिखा है कि “सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है” इस प्रमाण का आश्रय लेकर वृक्षरूप धर्म का मूल वेद है क्योंकि वेद से ही धर्मरूप वृक्ष उगता है यह विद्वानों का सिद्धान्त है उस वृक्षरूप धर्म के तीन अवयव वा भाग मुख्य हैं। सो ब्राह्मणों वा उपनिषदों में ठीक २ कहा है कि “धर्म के तीन काण्ड वा गुट्टे हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान,,। वृक्ष में पहिले निकलने वाली स्थूल शाखाओं को स्कन्ध (गुट्टा) कहते हैं। वैसे धर्म के मुख्य वा स्थूल तीन अवयव हैं यज्ञ शब्द से कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों का ग्रहण होता है इसी लिये धर्मशास्त्र में लिखा है कि “कोई विद्वान् लोग वाणी में प्राण का और कोई प्राण में वाणी का होम करते हैं” अर्थात् यह अध्यात्म यज्ञ है। जो लोग प्राण की क्रिया को वाणी में अर्थात् देखने सुननेरूप क्रिया को वाणी में समाप्त करते अर्थात् वाणी से पढ़ना पढ़ाना धर्म सम्बन्धी सत्य विषयों का उप-देश करना वा स्तुति प्रार्थना की प्रवृत्ति बढ़ाना और अन्य इन्द्रियों के कार्य को शिथिल करना जानते हैं वे ही जानो वाणी में अर्थात् कर्मेन्द्रियों में ज्ञानेन्द्रियों को शिथिल वा लीन करते हैं। और जो प्राण में वाणी का होम करते हैं वे ज्ञानेन्द्रियों में कर्मेन्द्रियों की वृत्ति को समाप्त करते हैं। क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों की मुख्य प्रवृत्ति करने वाला प्राण है। और वाणी में प्राण का वा प्राण में वाणी का कोई लोग होम करते हैं इस कथन का मुख्य अभिप्राय तो यही है कि सत्य-भाषण और प्राणायामादि धर्म सम्बन्धी कृत्य भी एक यज्ञ ही है। वेदादि शास्त्रों वा उन के अभिप्रायों को सत्यवक्ता विद्वान् के मुख से सुनना और उस सुनने से हुए अच्छे संस्कार वा शुभगुणों का धारण करना अध्ययनरूप धर्म कहाता है। उन वेदादि के ही सुनने से धारण किये धर्मरूप संस्कारों को परोपकार होने के लिये देना दान कहाता है अर्थात् शास्त्र की आज्ञानुसार अन्यो को सुख पहुंचाने के लिये विद्या वा धर्म सम्बन्धी उपदेश करना वाणी का देना। मन से अन्यो का भला चाहना मन का दान। और शास्त्र में लिखे अनुसार

सुपात्रों का धनादिसे यथायोग्य सत्कार करना शरीर से दान है। अर्थात् जिन पदार्थों से अन्य प्राणियों को सुख पहुंचे तथा वे पदार्थ अपने पास हों तो दूसरों को देना मुख्यकर दान है। प्रयोजन यह है कि जिस वस्तु को हम देना चाहते हैं वह याचक के पास भी है और उस के देने से ग्रहीता को विशेष सुख नहीं पहुंचता तो वह मुख्य दान नहीं किन्तु गौण है। इस से सिद्ध हुआ कि जिस वस्तु, गुण, कर्म वा वचन के बिना किसी को दुःख मिल रहा है और वही वस्तु आदि यदि अपने निकट है तो उस मनुष्य को उस वस्तु आदि का अंश उस दुःखी आदि को देना चाहिये यही दान परमधर्म है। और जो दया क्षमा जितेन्द्रियतादि अन्य धर्म के अवयव दीख पड़ते हैं वे इसी तीन प्रकार के अवान्तर भेद हैं। जैसे दान के अन्तर्गत दया पुस जाती है। क्योंकि दया का प्रयोजन है कि दुःखी पर दया करे तो उस को दुःख हठने के लिये औषध देवे कि जिस से उस का दुःख दूर हो तो जानो वह पुरुष दयालु है। दया दान में भेद केवल यही है कि दया केवल मानसधर्म है और दान मुख्यकर वाणी और शरीर से सम्बन्ध रखता है। इसी प्रकार अन्य भी भेद इन्हीं में आ जाते हैं ॥

मनुस्मृति के षष्ठाध्याय में लिखा है कि धृति—धैर्य, क्षमा—सहना, दम—इन्द्रियों की भीतरी वृत्ति को वश में रखना, अस्तेय—आज्ञा के बिना किसी के वस्तु को न लेना, शौच—मन वा शरीर को भीतर बाहर शुद्ध रखना अर्थात् मिथ्या व्यवहार न करना इसी लिये पञ्चमाध्याय में लिखा है कि—

योऽर्थे शुचिः स शुचिर्न मृदारिशुचिः शुचिः ॥

जो लेन देनरूप व्यवहार में शुद्ध है जो कभी मिथ्या व्यवहार वा छल प्रपञ्चादि नहीं करता है वही शुद्ध है और उस की अपेक्षा मट्टी जल से शुद्ध हुआ वैसा शुद्ध नहीं। अर्थात् इस का यह अभिप्राय नहीं है कि मट्टी जल से शुद्धि न करनी चाहिये वा करना अच्छा नहीं किन्तु अभिप्राय यह है कि एक तो केवल मट्टी जल से शरीर को शुद्ध रखता और एक पुरुष शुद्ध सत्य व्यवहार करता भीतर से किसी प्रकार का छल कपट नहीं रखता इन दोनों में व्यवहार की शुद्धि रखने वाला उस की अपेक्षा अच्छा श्रेष्ठ है। दोनों प्रकार की शुद्धि न रखने की अपेक्षा केवल शरीर को शुद्ध रखने वाला भी उत्तम है परन्तु दोनों प्रकार की भीतर बाहर शुद्धि रखने वाला केवल व्यवहार की शुद्धि रखने वाले की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है। इस प्रकार ये सब सापेक्ष हैं ॥

विषयों पर गिरने से इन्द्रियों को रोकना इन्द्रियनिग्रह कहाता है। धी-कर्त्तव्याकर्त्तव्य को न भूलना वा विचार पूर्वक परिणाम को शोध कर कार्य का प्रारम्भ करना, विद्या पढ़ना, सत्य बोलना और क्रोध को छोड़ना ये आध्यात्मिक सामान्यकर धर्म के दश चिन्ह हैं ये चिन्ह जिस में हों वह पुरुष सामान्य कर धर्मात्मा कहाता है। ये सामान्य धर्म के स्वरूप हैं। इन के साथ सामान्य विशेषण इस लिये लगाया है कि ये किसी निज ब्राह्मणादि वर्ण के धर्म नहीं किन्तु सब वर्णों वा सब आश्रमियों को सेवने योग्य हैं। यद्यपि सामान्य धर्म का सेवन किये बिना विशेष का सेवन ठीक २ उपकारी नहीं हो सकता तथापि यदि दोनों का एक साथ सेवन आ पड़े और एक ही का हो सकता हो तो वहां विशेष का सेवन करना चाहिये और सामान्य को छोड़ देना चाहिये यही विशेष धर्म में विशेषता है। और इसी आशय को लेकर कहा गया है कि “विशेषो बलवान् भवेत्” विशेष प्रबल होता है। इसी लिये इस श्लोक से पूर्व ९९ श्लोक में यह धर्म चारो आश्रम वालों को सेवने योग्य लिखा है ॥

महाभारत के वन पर्वान्तर्गत यज्ञ युधिष्ठिर संवाद में लिखा है कि—(यशः) अच्छे २ संसारी मनुष्यों को सुख पहुंचानेरूप धर्मसम्यग्धी कार्यों के करने से संसार में कीर्ति होना (सत्यम्) मन वचन कर्म से सत्य का वर्त्ताव करना (दमः) इन्द्रियों के साथ लगी मन की वृत्ति को वश में करना (शौचम्) विद्या तप आदि से भीतरी मन की और मट्टी जलादि से बाहिरी शरीर की शुद्धि करना (आर्जवम्) कोमलता का वर्त्ताव करना अर्थात् गर्व,मान अभिमान ईर्ष्या द्वेष वा क्रोधादि का छोड़ना (ह्रीः) बुरे निन्दित काम से लज्जित होना (अचापलम्) चपलता का छोड़ना (दानम्) सुपात्रों को विद्या धनादि का यथायोग्य देना (दया) चित्त में दूसरों के दुःख हटाने की इच्छा रखना वा अन्य के दुःख में दुःख मानना (ब्रह्मचर्यम्) धर्मशास्त्रों में लिखे अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का यथावत् सेवन करना वा गृहाश्रम में भी परस्त्री के साथ व्यवभिचार छोड़ कर अपनी स्त्री के साथ ऋतुकालाभिगामी होना ये सब धर्म के शरीर वा स्वरूप हैं। अर्थात् इन सब का होना ही साक्षात् धर्म का होना है। और ये लक्षण जिस में हों वही धर्मात्मा कहाता है ॥

तथा महाभारत के उसी स्थल में यह भी लिखा है कि (अहिंसा) सबकाल में सब प्राणियों से सब प्रकार द्रोह न रखना (समता) अपने तुल्य सब को सम-

भङ्गना जैसे हम अपने लिये किसी प्रकार का दुःख वा दुःख की सामग्री नहीं चाहते वैसे जान लें कि अन्य भी कोई नहीं चाहता होगा । जैसे दुःख देने वाले को हम बुरा समझते हैं वैसे यदि हम किसी को दुःख दें तो हम को भी वह वैसा ही समझे गा । इस का नाम समता है । इसी को आत्मौपम्यदर्शन भी कहते हैं (शान्तिः) व्याकुल न होना न घबराना (तपः) भूख प्यास मान अपमान आदि में हर्ष शोक न करना (शौचम्) पवित्रता रखना (अमत्सरः) ईर्ष्या मत्सरता का छोड़ना ये सब धर्म के द्वार हैं अर्थात् धर्मरूप दुर्ग में घुसना चाहे वह इन अहिंसादि का सेवन करे जो मनुष्य अहिंसादि की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया वह जानो धर्म के द्वार पर पहुंच गया । परन्तु यह भी सामान्य धर्म है अर्थात् सब मनुष्यमात्र को सेवने योग्य है ॥

तथा महाभारत उद्योगपर्व के विदुरप्रजागर में यह लिखा है कि (इज्याभ्ययनदानानि) यज्ञ करना वेदादि का पढ़ना और दान देना, तप-नानापमानादि का सहना, सत्य बोलना, क्षमा करना, बुराई से घृणा रखना, लोभ छोड़ के सन्तोष को धारण करना यह आठ प्रकार का धर्म सम्बन्धी मार्ग है इस पर चलने वाला धर्मनिष्ठ वा धर्मात्मा कहाता है । यह सब भी उन्ही तीन यज्ञादि धर्मों का व्याख्यान वा विस्तार है । इन पूर्वोक्त धर्म के आठ भेदों में से यज्ञ, अध्ययन, दान, तप ये चार दम्भ के लिये भी सेवन किये जाते हैं अर्थात् अपने को धर्मात्मा प्रसिद्ध करने के लिये ढोंगलीला करने वाले लोग भी दिखानेमात्र यज्ञादि करते वा कर सकते हैं । और पिछले सत्यादि चार धर्म के लक्षण दुरात्मा वा अधर्मियों में नहीं ठहर सकते । अर्थात् पिछले चार का सेवन दम्भ से नहीं हो सकता । परन्तु धर्म का मुख्य स्वरूप तो सत्य ही है इसी कारण शास्त्रों में सर्वोपरि सत्य की प्रशंसा लिखी है कि-सत्य से परे कोई उत्तम धर्म नहीं और मिथ्या व्यवहार से परे बुरा कोई पाप नहीं । तथा जिसमें सत्य का लेश नहीं वह धर्म नहीं है इस से सत्य और धर्म का समवाय सम्बन्ध समझना चाहिये कि जहां २ सत्य रहता वहां २ धर्म वा जहां २ धर्म है वहां २ सत्य अवश्य रहता है । इस से ज्ञात होता है कि जहां २ छल कपटादि का प्रवेश है वहां २ यज्ञादि को भी धर्म नहीं कह सकते । इसी से अपने तुल्य सब के सुख दुःख को देखना रूप समता भी धर्म का स्वरूप है यह सिद्ध हो जाता है क्योंकि मेरे साथ कोई छल कपटादि करे ऐसा कोई नहीं चाहता तो समदर्शी होना भी सत्याचरण के

अनुकूल ही बन सकता है। तात्पर्य यह कि जैसे “हाथी के पांव में सब का पांव” यह जनश्रुति—(कहावत) प्रसिद्ध है वैसे सत्य नामक धर्म के लक्षण में सब लक्षण अन्तर्गत हो जाते हैं। और कहीं आनृशंस्य को परमधर्म माना है। आनृशंस्य नाम दया वा रक्षा करने का है दोनों का तात्पर्य यह है कि दुःखी प्राणी वा मनुष्यों को दुःख से बचाना इस की उत्तमता भी सापेक्ष है। सब पर दया वा सब की रक्षा करने की अपेक्षा मनुष्य की रक्षा करना वा मनुष्य जाति पर दया करना उत्तम है। पर सत्य सब धर्म के अंशों में मिला रहता है इसी से बनावटी दया वा रक्षा को कभी धर्म नहीं कह सकते। इस लिये सत्य ही मुख्य धर्म का स्वरूप है अन्य सब उस के सहायकारी हैं ॥

कहीं माता पिता और आचार्य की सेवा को परम धर्म माना यह भी उक्त प्रकार से सापेक्ष है और सत्य के आश्रय है इत्यादि प्रकार से धर्म के अनेक लक्षणों की यथावसर वा यथाप्रयोजन प्रधानता दिखायी है वह सब की प्रधानता सापेक्ष है। निरपेक्ष वा निरतिशय (वेहद्) प्रधानता केवल सत्य की है कि जिस के तुल्य धर्म के स्वरूपों में किसी की प्रधानता नहीं इस से सिद्ध हुआ कि सत्य ही धर्म का स्वरूप है। कर्म का भी धर्म नाम है यह पहिले कह चुके हैं इसी के अनुसार कह सकते हैं कि “धर्म किया, धर्म करता है, धर्म करेगा, धर्म कर इत्यादि” इसी अंश को लेकर मन वाणी और शरीर के भेद से धर्म वा अधर्म के तीन भेद वात्स्यायन ऋषि ने न्याय भाष्य में दिखाये हैं “संसार में तीन दोष हैं जिन का नाम राग द्वेष और मोह रक्खा है अन्य दोष इन्हीं तीन के साथ लग जाते हैं जैसे काम, मत्सरता, तृष्णा, स्पृहा और लोभ राग के साथी। क्रोध, ईर्ष्या, निन्दा, पिशुनता (चुगली) द्रोह और असर्प इत्यादि द्वेष के साथी और मिथ्याज्ञान, सन्देह, अभिमान तथा प्रसाद आलस्यादि मोह के साथी हैं। इन्हीं दोषों के बशीभूत होने से मनुष्य पाप करता है अर्थात् इन दोषों की प्रेरणा से जो कुछ चेष्टा मनुष्य करता है उस के दश भेद होने से दश नाम पड़ते हैं जिस में तीन प्रकार का पाप शरीर से होता है। एक तो वेद की वा धर्मशास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध हिंसा करना (अर्थात् किन्हीं प्राणियों को किसी लोभादि के वश हो कर मारना वा उन को महाकष्ट पहुँचाने का उद्योग करना। वेदादि के अनुकूल हिंसा करना वैदिकी हिंसा कहा-ती है उस का करना पाप के अन्तर्गत नहीं किन्तु धर्म ही माना गया है। जैसे

क्षत्रिय लोग संग्राम में एक दूसरे को निर्भय हो कर मारें वहां शत्रुओं को मारने में पाप नहीं । महा अधर्मी मनुष्य को मारने में कदापि पाप नहीं । आत-तायी—जो सामने शस्त्र लेकर मारने को आता हो । उस के मारने में पाप नहीं । राजा को वध योग्य के सरखा डालने में पाप नहीं सिंह व्याघ्र वृश्चिका-दि हिंसक जन्तुओं के मारने में पाप नहीं । इत्यादि प्रकार की हिंसा वेदानुकूल है इस लिये इस को हिंसा नहीं कहते किन्तु अहिंसा के तुल्य इस को भी धर्म ही मानना चाहिये) द्वितीय चोरी—जो स्वामी की आज्ञा के बिना किसी वस्तु को ले लेना । तृतीय निषिद्ध मैथुन करना अर्थात्—माता भगिनी गुरुपत्नी आदि से व्यभिचार करना ये तीन प्रकार के शारीर पाप हैं । तथा मिथ्या बोलना, हृदय में छेद करने वाला कठोर वचन बोलना, सूचना—किसी की किसी से बुराई करना, तथा असम्बद्ध व्यर्थ बहुत बोलना ये चार प्रकार के वाचिक—वाणी से होने वाले पाप हैं । दूसरों को मारने वा दुःख देने की इच्छा रखना, दूसरों के द्रव्य को ले लेने की इच्छा रखना, तथा नास्तिकता कि-जन्मान्तर वा परलोक में जो बुरे कर्मों का बुरा फल शास्त्रों में लिखा है वा पण्डितों द्वारा सुना जाता है सो ठीक नहीं यहां निरन्तर आनन्द भोगना चाहिये परलोक किस ने देखा है आज तक लौट कर किसी ने सन्देश नहीं दिया कि वहां ऐसा नरक भोग मैंने किया, केवल भय दिखाना मात्र है इत्यादि प्रकार की इच्छा वा विचार रखना नास्तिकता कहाती है । यह तीन प्रकार का मानस—मन सम्बन्धी सहापाप है । सो यह सब पापरूप दश प्रकार का कर्म अधर्म बढ़ाने वाला है ॥

और पूर्वजन्म वा इस जन्मसम्बन्धी अच्छे पुण्य कर्मों से हृदय के बीच जो शुभ संस्कार सञ्चित होते हैं वही सञ्चित पुण्य है उस की प्रेरणा से जो मनुष्य क्रिया करता है वही दश प्रकार का पुण्य वा धर्म कहाता है, जैसे द्रव्य धनादि का हाथ से दान देना, शरणागत वा धर्मात्मा मनुष्यों वा उपकारी गौ आदि प्राणियों की सब प्रकार रक्षा करना और माता पिता वा गुरु आदि की सेवा शुश्रूषा यथावत् करना यह तीन प्रकार का शरीर से होने वाला पुण्य वा धर्म है । सत्य बोलना, सब का वा अधिक का हिलकारी वचन बोलना, प्रिय बोलना और वेदादिशास्त्र पढ़ना यह चार प्रकार का वाचिक—वाणी से होने वाला पुण्य वा धर्म है । सब पर दया करना, किसी से कुछ लेने की इच्छा न रखना किन्तु मन में सन्तोष रखना और धर्म सम्बन्धी कामों में तथा परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनादि शुभ कर्म में अट्ठा रखना यह तीन प्रकार का मानस धर्म है ॥

ये ही तीन प्रकार के अधर्म दश भेदों सहित मनुस्मृति के १२ अध्याय में लिखे हैं। वहां धर्म के दश भेद यद्यपि नहीं हैं तो भी एक के कहने से द्वितीय उस का प्रतियोगी उसी में से निकल आता है जैसे हिंसा कहा तो अहिंसा शारीरिक पुण्य होगा। अहिंसा और परित्राण दोनों का एक ही आशय है अर्थात् अहिंसा में हिंसा का निषेध मात्र कर देने से तात्पर्य नहीं किन्तु उस के प्रतियोगी का ग्रहण अर्थापत्ति से समझना चाहिये। इसी प्रकार परद्रोह रखना मानस पाप और उस के बदले में दया रखना मानस पुण्य तथा झूठ बोलना वाचिक पाप और सत्य बोलना वाणी सम्बन्धी पुण्य है। इस प्रकार एक के कहने से दूसरे अर्थापत्ति से आ सकते हैं इस लिये मनुस्मृति में दोनों भिन्न २ नहीं गिनाये ॥

जितने धर्म और अधर्म के भीतरी भेद हैं वे सब मुख्य कर दश प्रकार के ही हैं अन्य भेद इन्हीं में आजाते हैं। जैसे किसी की निन्दा वा मत्सरतादि का परद्रोह के बीच मेल है अथवा जैसे कृतज्ञतादि का दयादि में मेल हो जाता है। धर्म के सहकारी साधनों का प्रायः इस मानवधर्ममीमांसा भाष्य में व्याख्यान किया जायगा। जैसे रसोई बनाने के साधन जोड़ने वाले को भी रसोई बनाता कहते हैं वैसे धर्म के सहकारी साधनों का व्याख्यान होने से भी इस को धर्म-शास्त्र ही कहेंगे ॥

धर्म के मुख्यकर दोही भेद हैं एक सामान्य दूसरा विशेष। अपनी २ कक्षा में दोनों की प्रधानता वा प्रबलता है। सामान्यधर्म वह है जिस का सब मनुष्य मात्र को सेवन करना वा स्वीकार करना योग्य है इस में किसी के लिये किसी प्रकार का भेदभाव नहीं। इस पर लिखा भी है कि—“अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, शुद्धि रखना और इन्द्रियों को वश में करना यह संक्षेप से सब वर्णों का सामान्य धर्म है यह बात मनु जी ने विशेषकर कही है। इत्यादि प्रकार से अनेक स्थलों में व्याख्यान किया गया सामान्यधर्म सब को सेवने योग्य है। और जिन के लिये विशेष धर्म भिन्न २ कहा गया है उन को भी कारणरूप सामान्य धर्म सेवने योग्य है। अर्थात् हिंसक वा मिथ्यावादी पुरुष पढ़ने पढ़ाने और जप तप आदि धर्म सम्बन्धी कर्मों का सेवन नहीं कर सकता। कदाचित् दम्भ बढ़ाने को करेगा तो उस की पोल अवश्य खुल जायगी। तथा करने पर उस की सफलता होना दुस्तर है। इसी लिये कारणरूप सामान्यधर्म की मनु जी ने भी प्रधानता दिखायी है कि—“अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह,

इन सामान्य कर्त्तव्यरूप यमों का सेवन निरन्तर करे किन्तु केवल शौचादि नियमों का सेवन न करे क्योंकि केवल नियमों का सेवन करने से और यम का सेवन न करने से मनुष्य पतित हो जाता है इस से सिद्ध हुआ कि अहिंसादि यमों का सेवन करता हुआ शौचादि नियमों का सेवन करे इसी में कल्याण है ॥

विशेषधर्म—किन्हीं निज मनुष्यों को जो कर्त्तव्य हो और जिस के करने योग्य सब न हों वह विशेष धर्म है ॥

इस पर कोई शङ्का करे कि धर्म तो सब का एकही होना चाहिये । धर्म का भेद पड़ने से ही मनुष्यों में फूट पड़ती है इस लिये ईश्वर के उपदेश किये धर्म में भेद न होना चाहिये जैसे कि पृथिवी जलादि में उस ने भेद नहीं रक्खा सब के चलने फिरने को एक ही पृथिवी एक ही वायु आकाशादि हैं । वैसे ईश्वरोपदिष्ट धर्म भी सब के लिये एकसा होना चाहिये ॥

इस का उत्तर यह है कि पृथिवी जल वायु आदि में भी भेद है सब के लिये एकसी पृथिवी वा वायु आदि नहीं है । देखो—भंगी पुरीषालय—(पाखाने) के निकट पृथित दुर्गन्धयुक्त पृथिवी में रहता है जहां हो कर श्रीमानों का निकल जाना दुस्तर है । ऐश्वर्यवान् लोग अनेक प्रकार विन्न विचित्रता से रमणीय स्वर्ग भूमि में रहते हैं जहां नीचों का पहुंचना असम्भव है किन्हीं के समीप पुष्पादि का सुगन्धित वायु चल रहा है तथा कहीं ग्रीष्म ऋतु शीतल मन्द सुगन्ध-पवन वह रहा है कहीं दुर्गन्ध युक्त उष्ण लपट चलता है जिससे शरीर जला जाता है क्या यह पृथिवी वायु आदि का भेद नहीं है ? । और यह भेद अपने २ कर्मानुसार ही होता है । कर्म के भेद से ही अधिकारियों का भेद मानना चाहिये । जैसे पुरीषालय के शोधक चाण्डालादि राजा के तुल्य सुख के अधिकारी वा प्रतिष्ठा के अधिकारी नहीं हो सकते वैसे ही सब मनुष्य सब प्रकार के धर्म का सेवन करने योग्य नहीं हो सकते । सब को सब काम कर सकने की योग्यता हो जावे ऐसा कभी न हुआ और न होगा । यही कारण अधिकारी और अधिकारों में भेद होने का है । इसी मूल पर वर्णव्यवस्था ठहरती वा माननी पड़ती है और सब को माननी भी चाहिये । संसार में कोई ऐसा समुदाय नहीं जो वर्णव्यवस्था को न मानता हो । हां केवल मानने में अवान्तर भेद अवश्य हो जाते हैं । यदि कोई कहे कि हम वर्णाश्रम भेद को नहीं मानते तो हम यही उत्तर देंगे कि जैसे सूर्य के प्रकाश बिना कोई मनुष्य नेत्र से कुछ नहीं देख सकता

तो भी कोई न माने कि मुझे सूर्य के प्रकाश की कुछ आवश्यकता नहीं मैं अपने नेत्रों से देखता हूँ । फिर ऐसे हठी मनुष्य से क्या कहा जावे । और उसको कोई पूछे कि यदि तुम नेत्र से ही देखते हो तो अन्धेरी रात में भी बिना दीपकादि के नेत्र से क्यों नहीं देख लेते ? उस समय भी तुम्हारे नेत्र तो बने ही हैं केवल सहायकारी सूर्यादि का प्रकाश नहीं है तो क्या उत्तर देगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं । इस लिये धर्म में भेद अवश्य मानना चाहिये । और सामान्य धर्म सब मनुष्यों का एक है यही सब में साधर्म्य है । धर्म के भेद से मनुष्यों में फूट नहीं पड़ती और जिससे फूट पड़ती है उस पौराणिक मतवाद का नाम धर्म नहीं । यहां शास्त्रीय व्यवस्थानुसार अन्तःकरण से धारण करने योग्य दृढ़ विचार का नाम धर्म है सो सब का विचार एकसा नहीं हो सकता । यह धर्म भेद को न मानना एक नास्तिक मत है कि जिनका सिद्धान्त वर्णाश्रम धर्म भेद के न रखने पर है । इस लिये यहां थोड़ा सा लिख दिया है इस का विशेष विचार वर्णव्यवस्था प्रकरण में किया जायगा । यहां केवल आशय यही था कि विशेष धर्म ब्राह्मणादि वर्णों का भिन्न है इसी से उसको विशेष कहते हैं । एक स्थल में विशेषता को हटाया जावे और वह हटाना ठीक हो तो अन्यत्र भी विशेषता के न ठहर सकने से विशेष की अपेक्षा रखने वाला सामान्य भी बिगड़ जायगा । इसी लिये विशेष धर्म भी मानना चाहिये ।

सामान्य और विशेष का भेद अधिकार के भेद से होता है जैसे सब मनुष्य राजा वा अधिकारी नहीं हो सकते । इस से मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि उत्तम अधिकार मिलने का सब किसी को उपाय ही न करना चाहिये किन्तु यही मुख्य कर्तव्य है कि सब लोग पूर्ण प्रयत्न करें कर्मानुकूल ही वर्तमान अधिकारियों को भी जब अधिकार मिला है तो हम को भी कर्म से अधिकार मिल सकता है । इस लिये उपाय सब को अवश्य करना चाहिये । मनुष्य जैसे शुभ अशुभ कर्मकरता है वैसी ही वासना और वैसी ही उस के हृदय में संस्कार उत्पन्न होते हैं वे संस्कार देशकाल और वस्तुओं के भेद से भिन्न २ हैं इसी कारण बुद्धि की विचित्रता होने से अधिकारियों का भेद होता है । जैसे यदि युद्ध हो तो क्षत्रिय-पन की परीक्षा हो सकती है । यदि संग्राम से विमुख हो जावे तो क्षत्रिय समुदाय में गिना जाने पर भी वह क्षत्रिय नहीं यही मानना पड़ेगा । किन्तु जो निर्भय हो कर सन्मुख युद्ध करता २ शरीर छोड़ दे वा शत्रुओं को जीत ले वही क्षत्रिय है । यद्यपि

क्षत्रिय के अन्य भी विशेष धर्म हैं तो भी उन सब में यह और भी अधिक विशेष है । जो दुःख से बचावे अर्थात् प्रबल प्राणियों से निर्बल वा दीनों को दुःख न पहुंचने देवे वही क्षत्रिय है यह क्षत्रियशब्द के अर्थ से उस का धर्म वा तत्त्व प्रतीत होता है इस अर्थ से भी यही ज्ञात होता है कि जो युद्ध में सरण भय से न डरे वही क्षत्रिय है क्योंकि जो आप सारे जाने से डरेगा वह अन्य प्रजा की रक्षा क्या कर सकता है ? जो स्वयं डर गया वह अन्य को भय से क्यों कर बचा सकता है ? इस लिये दीनों प्रकार बलवानों से बचाना ही क्षत्रियों का क्षत्रियपन है । यह ब्राह्मणादि वर्णों का धर्म जन्म से वा कर्म से जिस प्रकार मान सकते हैं सो ब्राह्मणादि वर्ण विचार प्रकरण में कहेंगे ॥

इस प्रकरण में धर्मों की सापेक्षता का मुख्य विचार करना चाहिये ऐसा प्रस्ताव हो चुका है । किसी लक्षण की अपेक्षा से ही अन्य किसी की उत्तमता वा नीचता हो सकती है । यह ऊंच नीच का व्यवहार सब वस्तुओं में सापेक्ष होता ही है । जैसे कहा जावे कि देवदत्त उत्तम पण्डित और यज्ञदत्त नीच बुद्धि है यहां दोनों की ऊंचता वा नीचता सापेक्ष है क्योंकि देवदत्त से उत्तम और यज्ञदत्त से नीच कोई मनुष्य पृथिवी पर न हो ऐसा हो नहीं सकता वा कह नहीं सकते । और जैसे कौड़ी की अपेक्षा पैसा और पैसा की अपेक्षा चान्दी के रुपये और उस की अपेक्षा सुवर्ण की मुद्रा-मोहर (अशरफी) की प्रशंसा है इत्यादि प्रकार से ही सब धन वाचकों में नीचता भी किसी की अपेक्षा से ही होती है । वैसे ही प्रकृत धर्म के लक्षणों के प्रस्तार में भी जहां २ किसी की ऊंचता वा नीचता कही जाती है वहां २ सापेक्ष ही जानना चाहिये । जैसे माता पिता और गुरु की सेवा करना वा उन की आज्ञा का पालन परमधर्म कहा है । पर उस की प्रशंसा सत्यावरण की अपेक्षा नहीं किन्तु अन्य सम्बन्धी वा विद्वान् लोगों की सेवा करने की अपेक्षा से प्रशंसा है । सब की अपेक्षा ले कर योनि सम्बन्ध में माता पिता की और विद्या सम्बन्ध में गुरु की आज्ञा का पालन और उन के साथ प्रियाचरण करना ही श्रेष्ठ है । इसी लिये सब के साथ यथा-योग्य वर्तना सामान्य धर्म है । माता आदि की सेवा उस की अपेक्षा विशेष है । तथा सब शास्त्रों का पढ़ना सामान्य से धर्म है उस की अपेक्षा वेद का पढ़ना विशेष प्रशस्त धर्म कहाता है । किसी को कहीं किसी की अपेक्षा से नीचता कही नहीं । उन में किसी प्रकार अपने २ प्रकृति में दोनों का धर्म होना सम्भव हो तो

भी जिस की निरुपेक्षा वा अकर्तव्य होना कहते हैं । जिस का करना उस समय भी किसी की अपेक्षा से हानिकारक है उस को अधर्म होना कहते और उस को न करने के लिये भयानक वाक्य भी कहे जाते हैं । और जिस के विशेष प्रबल फल देने वाले होने से उस का होना कर्तव्य इष्ट है । उस का धर्म होना कहा जाता है उस में अर्थवादरूप रोचक वचन भी कहे जाते हैं । जिस से उस कृत्य में वह पुरुष प्रवृत्त हो जावे । इस प्रकार रोचक भयानक वचन भी धर्मशास्त्रों में वर्तमान हैं और वे सब सार्थक हैं ॥

इस पूर्वोक्त कथनानुसार धर्मों की सापेक्ष उत्तमता मध्यमता वा निरुपेक्षा को जान कर जिस समय जिस का करना कल्याणकारी हो वा जिस की अपेक्षा से जिस का करना अधिक सुख मङ्गलकारी हो उस काम को प्रयत्न के साथ करना ही चाहिये । जैसे सब मान्य पुरुषों की सेवा शुश्रूषा यथायोग्य ठीक २ किसी कारण न हो सके, तो माता पिता और गुरु की सेवा तो अवश्य करनी चाहिये । यदि सब की कर सके तो मातादि की विशेष प्रयत्न के साथ वा प्रयत्न करनी चाहिये । अर्थात् मातादि की सेवा की अपेक्षा अन्य की सेवा दुःखदायी है माता पिता वा गुरु की सेवा को छोड़ के अन्य की सेवा करने वाला धर्मात्मा नहीं कहावे गा ॥

अथ क्रमप्राप्तविषयेषु सृष्टेः पर्यालोचनम् ॥

तथा चास्य ग्रन्थस्यारम्भे द्वितीयएव पद्ये जिज्ञासुभिर्ऋषि-
भिर्मनुः पृष्ठो—भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः । अन्तरप्रभवानां
च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि । अस्यैव प्रश्नस्योपरि सर्वस्यास्य धर्मशास्त्रस्य
प्रवृत्तिरस्ति । नह्यत्र सर्गव्याख्यानाय कश्चित् प्रश्नोस्ति पुनः प्रथमा-
ध्याये किमर्थं सृष्टेर्वर्णनम् ? । एवं सत्याम्नान् पृष्ठः कोविदारानाच-
ष्टइतिवत्प्रमत्तवाक्यमेतदिति प्रतिभाति ।

अत्र प्रसङ्गे व्यूलगौराङ्गेन भणितम्—नहि गौतमीयवासि-
ष्ठादिधर्मशास्त्रेषु मानवधर्मसूत्रेषु वा सृष्टेर्वर्णनमुपलभ्यते । नचेदं
सृष्टिप्रक्रियावर्णनं धर्मशास्त्रेण साकं कथमपि सम्बध्यते नहि सृष्टेर्वर्णनं

धर्मो भवितुमर्हति । धर्मशास्त्राणां परिपाठ्या च विपरीतम् । तस्मात्
सृष्टिप्रकरणरूपः प्रथमाध्यायोऽस्मिन् पुस्तके पश्चात्कैश्चित्प्रक्षिप्तइति
तदाशयः ॥

इमामेवशङ्कां पुरस्कृत्य

“जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम् ।

भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा ॥ १ ॥

आचारांश्चैव सर्वेषां कार्यकार्यविनिर्णयम् ।

यथाकामं यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥ २ ॥

इत्येतत्पद्यद्वयं पश्चाद्विनिर्माय द्वितीयपद्यात्रे धृतं कैश्चित्, तौ
च मुम्बापुर्ण्यां मुद्रिते टीकाषट्कसंयुते पुस्तके द्रष्टव्यौ । अनयोः
पद्ययोश्च व्याख्यानं भाष्यकृद्भामाधुनिकतराभ्यां नन्दनरामचन्द्रा-
भ्यां कृतमिति तत्रैव द्रष्टव्यम् । तेनानयोः स्फुटतरं प्रक्षिप्तत्वं प्रति-
भाति । यदि च पूर्वतएवेमौ स्यातां तर्हि पुरातनभाष्यकृद्भिर्मैधा-
तिथ्यादिभिरप्यनयोर्व्याख्यानं कृतं भवेत् । तच्च नास्ति तस्मात्प-
श्चात्कैश्चित्प्रक्षिप्ताविति निश्चयः । नैवात्र विशेषविचारस्यापेक्षास्ति ॥

अत्र प्रश्नोत्तरयोर्विरोधस्य निवारणाय भाष्यकाराः समादधु-
स्तेष्वादिमो मेधातिथिरित्यमाह—“शास्त्रस्य महाप्रयोजनत्वमनेन
सर्वेण प्रतिपाद्यते ब्रह्माद्याः स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयो धर्माध-
र्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते । तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतु-
नेति । वक्ष्यति च—एता दृष्ट्यास्य जीवस्य गतीः खेनैव कर्मणा ।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनइति । ततश्च निरतिशयै-
श्वर्यहेतुर्धर्मस्तद्विपरीतश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रं महाप्रयो-
जनमध्येतव्यमित्यध्यायतात्पर्यम् । ” गोविन्दराजआह “जगदु-

त्पत्तिस्थितिप्रलयानां धर्माधर्मनिमित्तकत्वात्तत्प्रतिपादनार्थत्वेनेदं
शास्त्रं महाप्रयोजनतया यत्नतोऽधिगन्तव्यमित्येतदर्थं जगदुत्पादकं
प्रकरणमारभ्यते” सर्वज्ञनारायणआह—“अत्र च वर्णक्रमेण धर्मकथ-
नस्याकाङ्क्षितत्वात्सर्वदेवसम्भवतत्त्वोक्तिज्ञानाद् ब्राह्मणादिवर्णानां
पूर्वपूर्वश्रेष्ठ्यप्रतिपादनस्येष्टत्वेन मुखादिविशिष्टस्थानोत्पादनेन च
तेषां श्रेष्ठत्वात्तदभिधानार्थं शास्त्रप्रणायकब्रह्मोत्पत्तिप्रकारं च कथयितुं
स्वस्य निष्पत्तिजननद्वारा तत्पूर्वावस्थां तावदाह” एषां कथनं प्रत्या-
चक्षाणः कुल्लूकआह—“मुनीनां धर्मविषये प्रश्ने जगत्कारणतया
ब्रह्मप्रतिपादनं धर्मकथनमेवेति नाप्रस्तुताभिधानम् । आत्मज्ञानस्या-
पि धर्मरूपत्वान्मनुनैव धृतिःक्षमादमोऽस्तेयं शौच० इतिदशविध-
धर्माभिधाने विद्याशब्दवाच्यमात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम् । ” इत्यादि-
प्रकारतया कुल्लूकेन बहूक्तम् । “ धर्मोपयोगिचातुर्वर्ण्यस्योत्पत्तिक्र-
मेणैव प्राधान्याप्राधान्यं मुखतो वक्तुं ब्रह्मज्ञानाय सृष्टेराविद्यकत्वं
प्रकटयञ्छ्रोतव्यमाह” इत्याहरायवानन्दः । नन्दनरामचन्द्राभ्यामत्र
कश्चिदपि विशेषो नोक्तः । मेधातिथिगोविन्दराजयोरस्मिन् समाधान-
एकएवाशयः । एभिः समाधानैर्व्यू लरसाहवकृतआक्षेपः कथंचिन्निरस्त
इतिध्येयं धीमद्भिः । गौतमीयादिधर्मशास्त्रेषु यदि सृष्टेर्वर्णनं नास्ति
तेनात्रापि न स्यादित्युक्तम् । तानि च धर्मशास्त्राणि न प्रधानानि—
इदं च सर्वोपरि प्रधानं प्रधानएव गम्भीराणि प्रबलानि च कृत्यानि भ-
वितुमर्हन्ति सर्वेषु तादृशं महत्वं भवितुमशक्यम् । नायं नियमउपल-
भ्यते—यदेकत्र न स्यात्तदन्यत्र सन्निदार्हं भवेत् । तस्माद्येषु धर्मशा-
स्त्रेषु सृष्टेर्वर्णनं नास्ति तेष्विदमेव न्यूनत्वमिति बोध्यम् । तथा च
वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति सर्वार्थसम्मतम् । यदि च सृष्टिवर्णनं

धर्मेणासम्बद्धं भवेत्तदा वेदेऽपि सृष्टेः कथनं स्फुटमुपलभ्यते तदपि धर्मेण सम्बद्धं न स्याच्चेत्सर्वस्य वेदस्य धर्ममूलकत्वं नोपपद्येत । यदा चेदं मानवधर्मशास्त्रमेव प्रधानं तदास्य या परिपाटी सैव धर्मशास्त्राणामिति । अन्यानि चास्यैवाश्रयभूतानि । तस्माद्धर्मशास्त्रस्य प्रारम्भे सृष्टिकथनं युक्ततरमेवेत्यवगन्तव्यम् ॥

मेधातिथ्यादिभाष्यकारैर्यथामति यथाविद्यं समाधानानि दत्तानि तानि च कस्मिंश्चिदंशे कथमपि सम्भवन्ति । तेषां निरसने महान्तं प्रयासमकृत्वैव यथामति स्वानुमतिं प्रकाशयामः । यत्किमपि वक्तव्यमुपन्यस्यते तत्र सर्वत्रैव तस्य विषयस्य चतुर्था विभज्य कथनं कार्यं तथा च क्रियमाणं सुलभं भवति । तथाचोक्तं योगभाष्ये व्यासदेवेन—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति । एवं सर्वत्र पूर्वं तस्य स्वरूपनिरूपणम् । द्वितीयस्तस्य हेतुमूलकारणं यतस्तदुत्पद्यते । तृतीयस्तस्य प्रतियोगी शत्रुरिति यावत् । चतुर्थं तस्य फलम् । अयं च प्रतिकूलवस्तुषु क्रमः । अनुकूलेषु च कारणमुखेन व्याख्यानम् । एवमत्रापि धर्मस्तस्य मूलं कारणं द्वितीयम् । प्रतिकूलोऽधर्मस्तृतीयः । धर्मस्य फलं चतुर्थम् । निमूलस्य वस्तुनः शशविषाणवदनृतत्वं न स्यादिति तस्य समूलत्वं साध्यम् । समूलत्वसाधने च धर्मस्य सृष्टेर्वर्णनं प्रस्तुतमेव । प्रतिकूलस्य ह्रासमन्तरेणानुकूलस्य सम्यक् प्रवृत्तिर्भवितुमशक्येति कृत्वा शत्रुभूतस्याधर्मस्य व्याख्यानपुरस्सरं निवृत्तिः कार्यैव । यत्किमपि मनुष्येण क्रियते तत्समूलमेव कार्यम् । धर्मस्य मूलं वेदस्तस्य च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावात्प्रवृत्तिः । धर्मस्याधारा ब्राह्मणादयो वर्णास्ते च परमेश्वरेण धर्मेण सहैव पृथक् २ धर्मप्रवृत्त्यर्थं चोत्पादिताः ।

एवमनेकविधतया सर्गेण साकं धर्मस्य मुख्यः सम्बन्धः । सर्गार-
म्भादेव यस्य धर्मस्य प्रवृत्तिः स एव सनातनो धर्म इति ज्ञापयितु-
मपि सर्गेण धर्मस्य सम्बन्धो दर्शनीयः । अस्य—जगतस्तिस्त्र एवावस्थाः
सन्ति—उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः । तत्र दशात्रये धर्मस्य स्थितिरुत्तर-
दात्रा महाप्राज्ञेन मनुना प्रतिपादनीया । नैव महर्षिभिः स्थिति-
दशायामेव धर्मः पृष्ठस्तस्य प्रलयोत्पत्त्योः कथनमात्रान् पृष्ठः कोवि-
दारानाच्छेवहिरोधः स्यात् । सामान्येन कृतस्य प्रश्नस्यावस्थात्रय
एवोत्तरदानं युज्यते तस्मान्नास्ति कश्चिद्दिरोध इति । धर्मशब्दश्च
द्रव्यजात्यादीनां स्वभावो गुणो वास्ति तस्मात्कस्यां दशायां कस्मि-
न्देष्टे काले वा कस्मिन् वस्तुनि कीदृशो गुणः स्वभावो वास्ति तस्य
याथार्थ्येन ज्ञानमेव धर्मज्ञानमिति । ज्ञानानुकूलमाचरणं च धर्मा-
चरणमिति । एवं भूतश्च धर्मो नैव कस्यांचिदेव दशायां भवितुम-
र्हत्यपि तु सर्वासु दशासु । इत्थमेव विपरीतज्ञानमधर्मो दुःखहेतुरिति
वक्तुमुचितम् । एतदज्ञायमाश्रित्यैव—अथातो धर्मं व्याख्यास्याम
इति वैशेषिककारस्य प्रतिज्ञा सम्बध्यते नहि स्मृतिकारवत्तस्मिन्नि-
बन्धे धर्मस्य व्याख्यानमुपलभ्यते तेन यस्य गुणस्य स्वभावस्य वा
धर्मवाच्यत्वं स कार्यकारणद्रव्ये सर्गस्थितिलयदशात्रये तिष्ठत्येव
तेन दशात्रयेण साकं तस्य व्याख्यानमुचितं प्रश्नस्य सामान्यदशा-
परकत्वात् । यश्च प्रलयदशायामुत्पत्तिदशायां वा धर्मो न स्यान्नैव
तस्य सनातनत्वं वक्तुं युज्यते । प्रलयदशायां धर्मिणा सह धर्मोपि
तिरोभूतस्तिष्ठति । उत्पत्तिदशायां स एवाविर्भवति । यश्च कारणे
नास्ति तस्य यदि भावः स्यात्तर्हि । शुष्कतिलेभ्योपि तैलं निस्स-
रेत् । तस्माद्दशात्रयेण साकं तादृशरूपेणैव धर्मस्यापि व्याख्यानं

युक्तम् । कीदृशगुणकसामर्थ्यात्कस्य वस्तुन उत्पत्तिरिति ज्ञानमन्तरेण कार्येऽपि गुणरूपधर्मस्य ज्ञानं न जायते । सनातना धर्माः कारणतएवायान्ति तेषामुत्पत्तिप्रकरणेन साकं ज्ञानं सुलभं भवति । यथा मुखतो ब्राह्मणममृजत्तस्मात्स वर्णेषु मुख्यः । अत्र करणादेव मुख्यत्वमागतम् । तस्माद्धर्मवर्णनेन साकं सर्गप्रक्रिया व्याख्येया । एतत्कथनेन व्यूलरसाहवस्यापि कथनं प्रत्युक्तं भवति ।

धर्मशब्दस्यार्थश्च यो धार्यते सात्मीक्रियत आकृष्यतेऽनुकूलो मन्यते स धर्मइत्युक्तम् । स च सर्वासूत्पत्तिस्थितिलयदशासु वर्णैः कथं धार्यते इति प्रश्नाशये वर्णिते प्रश्नोत्तरयोः संगतिः ।

व्यूलरसाहवकथनेन राज्यव्यवस्थाकरणमपि धर्मशास्त्रानुकूलं नास्ति । तत्र यदि कश्चित्पृच्छेत्क्षत्रियस्य को धर्मस्तदा किं वक्तव्यम् ? । अतो राज्यव्यवस्थापनमेव क्षत्रियधर्मस्तस्य च व्याख्या धर्मशास्त्रे कथं न स्यात् ? ।

व्यूलरसाहवस्याशयः केनचिद् विदुषा श्राव्यस्तदा ये मनुष्यजातेरुत्कर्षका अथवा यत्सेवनेन वेदमतानुयायिनामार्याणामुत्कर्षो भवितुं शक्यते तेषास्यामनुस्मृतौ प्रक्षिता आधुनिकैस्तत्र सज्जिता विपद्याइत्येव निस्सरिष्यतीति विचारानुगतैर्ध्येयम् । एतेन किमायाति तदपि ज्ञास्यन्त्येव धीमन्तः ॥

भाषार्थः—अब क्रम प्राप्त हुई सृष्टि प्रकरण की आलोचना करनी चाहिये । इस प्रकरण में कई अंश विचारने योग्य हैं जिनमें पहिला अंश यह है कि इस मानवधर्मशास्त्र में सृष्टि का वर्णन क्यों होना चाहिये ? क्योंकि इस का नाम धर्मशास्त्र है सृष्टि का वर्णन करना कोई धर्म नहीं है । और यही बात अन्य सहर्षियों ने मनु जी से पूछी तो इस मनुस्मृति के आरम्भ में द्वितीय श्लोक में ही लिखा है कि “हे मनु जी ! आप सब ब्राह्मणादि वर्णों और वर्णसंकरों

के धर्म कहने योग्य वा समर्थ हैं" केवल इसी एक प्रश्न के ऊपर यह सब धर्म शास्त्र बना है अर्थात् यह मनुस्मृति इसी प्रश्न का उत्तर रूप है तो इसमें सृष्टि की उत्पत्ति कहने का कोई प्रश्न भी नहीं फिर इस प्रथमाध्याय में सृष्टि का वर्णन क्यों किया गया ? और किया गया तो आन पूछने पर कचनार के उत्तर देने के तुल्य प्रमत्तदशा का कथन हो गया । इस प्रसङ्ग में इङ्गलेण्ड निवासी व्यूजर साहब ने कहा है कि गौतम और वसिष्ठ के धर्मशास्त्रों में तथा मानव धर्मसूत्रों में सृष्टि का वर्णन नहीं प्राप्त होता और न यह सृष्टिकी प्रक्रिया का वर्णन धर्मशास्त्र के साथ सम्बन्ध रखता है तथा सृष्टि का व्याख्यान धर्म भी नहीं हो सकता और धर्मशास्त्रों की परिपाटी से भी यह विपरीत है । इस से सृष्टि का प्रकरणरूप प्रथमाध्याय इस पुस्तक में पीछे किन्हीं लोगों ने मिलाया है यह उक्त गौराङ्ग महाशय का आशय है । इसी शङ्का को लेकर दो श्लोक पीछे बनाकर किन्हीं लोगों ने द्वितीय श्लोक के आगे धरे हैं कि "मनुष्य पशवादि, पक्षी सर्पादि, मक्खी मच्छरादि और वृक्षादि तथा पृथिवी आदि सब भूतों की उत्पत्ति और प्रलय को सब के आचरण और विवादों का निर्णय — राज्यव्यवस्था राज नीति आदि सम्पूर्ण कहो । " ये दोनों श्लोक मुम्बई के छपे छः टीका से युक्त पुस्तक में पाठान्तर बुद्धि से छपे हैं । और इन दोनों का व्याख्यान आधुनिक अति नवीन टीकाकार नन्दन और रामचन्द्र ने किया है । इस से इन दोनों श्लोकों का प्रक्षिप्त होना स्पष्ट प्रतीत होता है । यदि पूर्व से ये श्लोक होते तो पहिले भाष्यकार मेधातिथि आदि भी इन का भाष्य करते वा ऐसी शङ्का न करते कि "क्वास्ताः क्व निपतिताः" से ये श्लोक वास्तव में इस पुस्तक के नहीं इस से पीछे किसी ने मिलाये यही निश्चय है इस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥

इस प्रसङ्ग में जो प्रश्न और उत्तर में विरोध आता है उस को हटाने के लिये भाष्यकारों ने समाधान दिये हैं उन में पहिले मेधातिथि भाष्यकार ने लिखा है कि—“इस सृष्टिप्रक्रिया के वर्णन से इस धर्मशास्त्र का महान् प्रयोजन जताया गया है क्योंकि ब्रह्मा से लेकर वृक्षादि पर्यन्त धर्म अधर्म ही जिन के निमित्त ऐसी संसार की दशा इस प्रकरण में कही गयी हैं । वैसे कर्म होने से बहुत प्रकार के तमोगुण से ढपे हुए स्थावर योनि में जीव रहते हैं । तथा आगे बारहवें अध्याय में भी कहा है कि 'अपने कर्मों के अनुसार जीवात्मा की इन पूर्वोक्त

दशाओं को विचार पूर्वक देख कर धर्म अधर्म से हटा कर केवल धर्म में मन लगावे, इस प्रकार धर्म में मन के ठहराने से असीम ऐश्वर्य प्राप्ति का हेतु धर्म और इससे विपरीत असीम दरिद्रता का हेतु अधर्म है उन दोनों का स्वरूप जानने के अर्थ महान्फल वाले इस धर्मशास्त्र को पढ़ना चाहिये यह इस प्रथमाध्याय का तात्पर्य है, इस पीछे गोविन्द राज भाष्यकार ने लिखा है कि “जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय धर्म अधर्म के आधीन है उसके प्रतिपादनार्थ होने से यह शास्त्र महा प्रयोजन वा फल वाला है इस कारण यत्र के साथ पढ़ना चाहिये इस लिये जगत् की उत्पत्ति का प्रकरण प्रथम आरम्भ किया है, इस के पीछे सर्वज्ञ नारायण ने लिखा है कि “इस धर्म शास्त्र में ब्राह्मणादि वर्णों के क्रम से धर्म का कहना अभीष्ट होने से सम्पूर्ण देवताओं की उत्पत्ति रूप तत्त्व कथन का ज्ञान होता है उससे ब्राह्मणादि वर्णों में पूर्व २ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इष्ट होने तथा मुखादि विशेष स्थानों से उत्पत्ति होने से वे ब्राह्मणादि श्रेष्ठ हैं उस धर्म को कहने के लिये धर्मशास्त्र कर्त्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति दिखाने को अपनी उत्पत्ति द्वारा जगत् की पूर्व प्रलयावस्था को प्रथम कहते हैं, इन सब के आशयों का खण्डन करते हुए कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि “ऋषियों के धर्म विषयक प्रश्न में जगत् के कारण होने से ब्रह्म का प्रतिपादन करना भी धर्म का ही कथन है किन्तु प्रकरण विरुद्ध कुछ नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान भी धर्म ही है सो मनु ने ही धैर्य क्षमा आदि दश प्रकार के धर्म कहने में विद्या शब्द वाच्य आत्मज्ञान को धर्म कहा है, इत्यादि प्रकार से कुल्लूक भट्ट ने बहुत कुछ लिखा है। राघवानन्द भाष्यकार समाधान कहते हैं कि “धर्म के उपयोगि चार वर्णों की उत्पत्ति के क्रम से प्रधानता वा अप्रधानता मुखादि अवयवों से कहने के लिये ब्रह्मज्ञान होने के अर्थ सृष्टि के जानने की आवश्यकता प्रकट करते हुए श्रोतव्य कहते हैं, नन्दन और रामचन्द्रों ने इस विषय में कुछ नहीं कहा क्योंकि उनके उक्त दो श्लोक पुस्तक में मिलने से वैसी शङ्का ही न हुई। मेधातिथि और गोविन्दराज का समाधान विषय में एक ही आशय है। इन समाधानों से व्यूँलर साहब का किया आक्षेप किसी प्रकार कट जाता है सो बुद्धिमानों को विचारणीय है। और गौतमीयादि धर्मशास्त्रों में यदि सृष्टि का वर्णन नहीं इससे अन्य धर्मशास्त्रों में भी न हो यह अयुक्त है। क्योंकि जो विषय एक पुस्तक में न हो वह अन्य किसी में क्यों न रक्खा जावे ?। क्या एक दो अज्ञानी

वा अपूर्ण विचारशक्ति वाले हैं तो सभी वैसे होने चाहिये ? । वे गौतमादि के धर्मशास्त्र प्रधान नहीं किन्तु गौण हैं और यह मानवधर्मशास्त्र सर्वापरि प्रधान है इस लिये गम्भीर और प्रबल काम प्रधानों में ही हो सकते हैं वैसे महत्त्व सब में नहीं हो सकता । और यह नियम कहीं नहीं मिलता कि जो बात एक स्थल में न हो तो अन्यत्र होने से उसकी निन्दा हो जावे । इस लिये जिन धर्मशास्त्रों में सृष्टि का वर्णन नहीं है उन में यह भी एक प्रकार की न्यूनता है । और समस्त वेद धर्म का मूल है यह सब आर्यों के सम्मत है । यदि सृष्टि के वर्णन का धर्म के साथ सम्बन्ध न हो तो वेद में भी सृष्टि का कथन स्पष्ट है उस का भी धर्म के साथ सम्बन्ध न हो सकने से सब वेद का धर्ममूलक कहना न बने । और जब यह मानवधर्मशास्त्र मुख्य है तो इस की जो परिपाटी है वही धर्म शास्त्रों की जाननी चाहिये । इस से विरुद्ध चलने वाले ही दूषित ठहर सकते हैं । अन्य धर्मशास्त्र इसी के आश्रय भूत हैं । इस से धर्मशास्त्र के प्रारम्भ में सृष्टि का वर्णन करना ठीक ही है ॥

मेधातिथि आदि भाष्यकारों ने अपनी २ बुद्धि विद्या के अनुसार समाधान दिये हैं वे किसी अंश में किसी प्रकार सम्भव हैं । इसलिये उन का खण्डन करने में प्रयत्न न कर के यथाबुद्धि हम भी अपने विचार को प्रकाशित करते हैं—जिन किन्हीं शास्त्रों में जो कुछ जिस किसी कथनीय विषय का प्रस्ताव किया जाता है वहां सभी स्थलों में उस विषय के चार भाग कर के कथन करना चाहिये । वैसे करने से वह सुलभ होता है सो योगभाष्य में व्यासदेव ने कहा भी है कि—१ रोग २ रोग का कारण, ३ रोग रहित होना, ४ ओषधि करना । ये चार भेद त्याज्य पक्ष में हैं । इसी प्रकार सब स्थलों में प्रथम उस के स्वरूप का निरूपण करना द्वितीय उस के हेतु मूलकारण वा निदान को बताना कि जिस से वह उत्पन्न हुआ हो । तृतीय उस के प्रतिपक्षी शत्रु को जताना कि जिस से उस की निवृत्ति वा हानि हो सकती है । चतुर्थ उस को प्राप्त होने वा छोड़ देने के परिणाम वा फल को जान लेना । प्रथम जिस को त्यागना वा ग्रहण करना चाहते हैं उस के वास्तविक स्वरूप को जान लेना चाहिये । स्वरूप ज्ञान हुए बिना त्याग वा ग्रहण करना कदापि नहीं बन सकता । द्वितीय उस के हेतु मूल उपादान कारण का जानना इस कारण आवश्यक है कि जैसे धातुओं की विषमता से रोग होता है तो उस विषमता के मिटाने का उपाय करना, जब तक विषमता

न मिटेगी तब तक रोग नहीं जा सकता। वा जैसे दीपक जलने का कारण स्नेह वा चिकनाई जान लिया जाय तो उस कारण से दीपक जला सकते और कारण का अभाव कर के दीपक की निवृत्ति भी कर सकते हैं। तृतीय प्रतियोगी शत्रु का ज्ञान इस कारण आवश्यक है कि जैसे रोग का प्रतियोगी औषध वा पथ्य है। वहां अनेक प्रतियोगियों में कौन किस का प्रतियोगी है ऐसा जान लेने से औषधादि प्रतियोगी के प्रयोग से रोगादि की निवृत्ति कर सकता है। चतुर्थ फल जाने बिना निष्प्रयोजन वा निष्फल कार्य के करने में रुचि वा प्रीति नहीं हो सकती इस कारण फल का जानना आवश्यक है। यह सब प्रतिकूल वा त्याज्य वस्तु रोगादि में क्रम है। और अनुकूल में कारण मुख से (अर्थात् प्रथम कक्षा में धर्मादि के कारण को दिखा कर द्वितीय कक्षा में उस के स्वरूप को कहना जैसे प्रथम सृष्टि प्रक्रिया से धर्म का हेतु कह कर आगे स्वरूप कहा है) भी व्याख्यान होता है ॥

वैसे यहां मुख्य प्रसङ्ग में देखो—कि मुख्य वस्तु जिस का स्वरूप जानना चाहिये वह धर्म ग्राह्य और अधर्म त्याज्य है। और उस का मूलकारण द्वितीय है। कि जिस से धर्म उत्पन्न होता है उस वेद और परमेश्वर को जानना वही धर्म का भण्डार है और परमेश्वर का वा कार्य जगत् के साथ रहने वाले धर्म का सम्बन्ध दिखाना यही उत्पत्ति प्रक्रिया है। तृतीय धर्म का अधर्म और अधर्म का धर्म प्रतियोगी है। धर्म के फल सुख विशेष वा अधर्म के फल दुःख विशेष का जानना। निर्मूल वस्तु शशविषाण के तुल्य मिथ्या न हो इस लिये उस का समूल होना साध्य है और धर्म के समूल सिद्ध करने में सृष्टि का वर्णन धर्मानुकूल ही है प्रतिकूल नहीं। प्रतिकूल की हानि हुए बिना अनुकूल की सम्यक् प्रवृत्ति नहीं हो सकती ऐसा मान के शत्रुरूप अधर्म का व्याख्यान पूर्वक निवृत्ति करनी अवश्य चाहिये। जो कुछ मनुष्य करता है वह समूल ही करना चाहिये अर्थात् निर्मूल वस्तु वा विषय के जानने का कभी उद्योग न करे। धर्म का मूल वेद है और वेद की नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सुक्त स्वभाव परमेश्वर से प्रवृत्ति होती है। धर्म के आधार ब्राह्मणादि वर्ण हैं और उन सब वर्णों को परमेश्वर ने धर्म के साथ ही धर्म की प्रवृत्ति के लिये उत्पन्न किया है। ऐसे अनेक प्रकार होने से धर्म के साथ सृष्टि का मुख्य सम्बन्ध है। और सृष्टि के आरम्भ से ही जिस धर्म की प्रवृत्ति है वही सनातन धर्म है यह जताने को भी सृष्टि के

साथ धर्म का सम्बन्ध दिखाना चाहिये । इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयरूप तीन ही अवस्था हैं उन तीनों दशाओं में सर्वोपरि विचारशील बुद्धिमान् उत्तरदाता मनु जी को धर्म की स्थिति कहनी चाहिये । क्योंकि प्रश्नकर्त्ता सहर्षियों ने स्थिति दशा में ही धर्म नहीं पूछा यदि प्रश्न में ऐसा कोई शब्द पड़ा होता कि संसार की वर्त्तमान दशा में धर्म कहो तो उत्पत्ति प्रलय में धर्म का सम्बन्ध दिखाना आम के पूछने में कचनार के उत्तर देने के समान विरुद्ध होता सो तो है नहीं इस कारण सामान्य से किये प्रश्न का तीनों अवस्था में उत्तर देना ही ठीक है इस से कुछ विरोध नहीं है । और धर्मशब्द भी द्रव्य वा जाति वाचकों का गुण वा स्वभाव है तिस से किस दशा, देश, काल वा वस्तु में कैसा गुण वा स्वभाव है उस का यथार्थरूप से जान लेना ही धर्मज्ञान है और ज्ञान के अनुकूल आचरण करना धर्म का आचरण कहाता है । ऐसा धर्म किसी एक ही दशा में नहीं हो सकता किन्तु सब दशाओं में स्वरूप भेद से रहता है । इसी प्रकार विपरीतज्ञान अधर्म दुःख का हेतु है यह कह सकते हैं । इसी पूर्वोक्त आशय को लेकर के ही “हम इस कारण अब धर्म की व्याख्या करेंगे, यह वैशेषिककार की प्रतिज्ञा बन सकती है क्योंकि मनुस्मृति आदि ग्रन्थकारों के समान उस वैशेषिक ग्रन्थ में धर्म का व्याख्यान नहीं दीख पड़ता है । इस लिये जिस गुण वा स्वभाव का नाम धर्म है वह कार्यरूप वा कारणरूप वस्तु में उत्पत्ति स्थिति वा प्रलय तीनों दशा में अवस्थित अवश्य रहता है । इस कारण प्रश्न के सामान्य दशा परक होने से तीनों दशा के साथ उस का व्याख्यान उचित है और जो प्रलय वा उत्पत्ति दशा में धर्म न रहे उस का सनातन होना नहीं कह सकते । इस लिये सब दशा के साथ धर्म मानना चाहिये ।

प्रलय दशा में धर्म के साथ धर्म भी दबा हुआ रहता है उत्पत्तिदशा में वही धर्म धर्मी के साथ प्रकट हो जाता है । जो कारणदशा में नहीं है उस का यदि कार्यदशा में भाव माना जावे तो सूखे बिकनाहट रहित तिलों में से भी तेल निकलना चाहिये सो नहीं होता तो धर्म को भी सब दशाओं के साथ अवस्थित मानना चाहिये इस कारण तीनों दशा के साथ दशा के तुल्यरूप से ही धर्म का व्याख्यान होना भी ठीक है । कैसे गुण वाले सामर्थ्य वा कारण से किस वस्तु की उत्पत्ति हुई ? ऐसा ज्ञान हुए बिना कार्य में भी गुणरूप धर्म का ठीकर ज्ञान नहीं हो सकता । और वैसा ज्ञान उत्पत्तिदशा का क्रम पूर्वक वर्णन होने

बिना नहीं हो सकता इस कारण धर्म का मर्म ज्ञान [होने के लिये सृष्टि का वर्णन पहिले किया गया। तथा सनातन धर्म कारण से ही कार्य में आते हैं उन का उत्पत्ति प्रकरण के साथ सुगमता से ज्ञान हो सकता है। जैसे मुख से ब्राह्मण रचा गया इस लिये वर्णों में ब्राह्मण मुख्य है। यहां कारण से ही मुख्यता आयी है। इस कारण धर्म की व्याख्या के साथ सृष्टि की प्रक्रिया कहनी चाहिये। तथा एक उत्तर यह भी है कि जब कोई किसी वस्तु को पूछ कर जानना चाहे तो उत्तरदाता को उचित होगा कि प्रश्नकर्ता की ठीक दृष्टि होने के लिये उस विषय वा वस्तु को मूल वा उत्पत्ति सहित समझा दे जिस से किसी प्रकार का सन्देह शेष न रह जावे। इस कारण धर्म प्रकरण में सृष्टि का भी वर्णन होना उचित है। इस कथन से व्यूलरसाहब का भी उतर आगया।

और धर्म शब्द का अर्थ भी जो धारण, आत्मा वा अन्तःकरण से मिलित वा अनुकूल मान के आकर्षण किया जावे वह धर्म कहा गया है वह सब उत्पत्ति स्थिति और प्रलयदशा में वर्णों से किस प्रकार धारण किया जाता है ऐसा प्रश्न का आशय माना जावे तो प्रश्न उत्तर में कुछ भी विरोध नहीं किन्तु मेल है। व्यूलरसाहब के कहने से राज्य की व्यवस्था करना भी धर्मशास्त्र के अनुकूल नहीं। तब ऐसी दशा में यदि कोई पूछे कि क्षत्रिय का क्या धर्म है ? तो क्या कहना चाहिये ?। इस से राज्य की व्यवस्था करना क्षत्रिय का धर्म है उस की व्याख्या धर्मशास्त्र में क्यों न हो ?। व्यूलरसाहब का आशय कोई विद्वान् सुने तो यही निकलेगा कि जो मनुष्यजाति की उन्नति के कारण हैं अथवा जिस के सेवन से वेदमत के अनुगामीमात्र आर्य लोगों की उन्नति हो सकती है वे ही विषय इस मनुस्मृति पुस्तक में आधुनिक लोगों ने मिलाये हैं। जैसे राजधर्म की प्रक्षिप्त कहा इत्यादि। इस पर विचारशीलों का ध्यान देना चाहिये कि इस से क्या तत्त्व निकलता है ? सो भी बुद्धिमान् लोग विचार ही लेंगे। अर्थात् भारतवासियों की पुरानीदशा को निरुष्ट कहना। वर्तमान में तो प्रत्यक्ष हीन दशा में हैं। अर्थात् उन को आर्यों की उच्चदशा कदापि अभीष्ट नहीं। इस से अनेक राजनैतिक लोग गूढ़ प्रयोजनसिद्धियां मानते हैं ॥

सृष्टिप्रक्रियायां वेदादिग्रन्थेषु केचित्परस्परं विरोधं वदन्ति तस्य निवारणाय सर्वेषां वचस्तामत्र संग्रहो दुर्लभः। तथासति विस्तरश्च

महान् भवेदिति ज्ञात्वा समासेनेदमुच्यते—वेदादिषु कुत्रचिद्विषय-
वर्णने शब्दानामेव भेदेन केषांचिद्भ्रमो जायतेऽत्र विरोधोऽस्तीति
वस्तुतस्तत्र विरोधो नास्ति । एकमेव विषयं नानावक्तारः स्वस्वकथ-
नशैलीं पुरस्कृत्यैव कथयन्ति नास्ति तत्र विदुषां सारांशविदां मनी-
षासु विरोधः । अज्ञास्तु परस्परं सदैव विरुध्यन्ते तेषां विरोधेन नास्ति
काचिद्धानिरिति । यथा सर्वत्र सृष्टिप्रक्रियायां सर्गारम्भात्पूर्वं प्रलय-
दशायाश्चान्ते उक्तम् । स एक्षत बहुस्यां प्रजायेय । कुत्रचित् प्रश्नो-
पनिषदि—स तपोऽतप्यत । मनुस्मृतौ—सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सि-
सृक्षुर्विविधाः प्रजाः । इत्यादिवचनानामेकएवाशयः । तथा प्रश्नोपनि-
षदि—स तपस्तप्ता मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेति । तथा च
मनुस्मृतौ—द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्द्धेन नारी
तस्यां विराजमसृजत्प्रभुः । इत्येतयोरेकएवाशयः । कथने च कथंचि-
द्वैपरीत्यमुपलभ्यते । लोकेष्येकाशयकमविरुद्धमेवैकविषयं व्याख्या-
तृभेदाद्भिन्नमिव प्रतियन्ति तथैव शास्त्रेषु वास्तविको विरोधो नास्ति ।

सृष्टिप्रक्रियायां वेदानां यः सिद्धान्तः स एवास्मिन् मानवध-
र्मशास्त्रेऽपि बोद्धव्यः । वेदेषु यत्र २ सृष्टेर्वर्णनं तत्र २ सर्वत्र पूर्वं
प्रलयदशायाः स्वरूपं दर्शितम्— । यथा ऋग्वेदे अ० ८ अ० ७ व०
१७ मं० ३ उक्तम्—तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेत सलिलं सर्व-
मा इदम् ॥ इत्यादिमन्त्राणामेवाशयमाकृष्य वाक्यभेदेन मनुना-
प्युक्तम्—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञे-
यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ महिना जायतैकमित्यस्य मन्त्रवाक्यस्या-
शयो—महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः । इत्यादिप्रकारेण
वेदानुकूलमेवात्र सृष्टेर्वर्णनमिति ॥

न्यायमीमांसासांख्यादिषु कुत्र २ चित्सृष्टेर्वर्णनमितरेतरं विरुद्धमिव भासते तत्रापि तत्त्वतो विरोधो नास्ति तत्रैकैकस्मिन्स्वस्वाभीष्टकारणस्य प्राधान्यं प्रदर्शितम् । तानि च सर्वशास्त्रेषु स्वीकृतानि सर्वाणि कारणानि सृष्टिप्रक्रियायामुपयुक्तानि भवन्ति । कालकर्मोपादाननिमित्तानामेव मुख्यतया कारणत्वेन शास्त्रेषु प्राधान्यं प्रदर्शितम् । एषामेव वेदेष्वपि प्राधान्यमुपलभ्यते—तथाचोक्तमथर्ववेदे । काण्डे १९ वर्गेः ५३ । ५४ । कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् । स्वयम्भूः कश्यपः कालात्तपः कालादजोयत ॥ १० ॥ कालादापः समभवन्कालाद्ब्रह्म तपो दिशः । कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ॥ १ ॥ इत्यादयोऽनेकशो मन्त्राः कालमेव सर्गकारणं वर्णयन्ति तदाश्रयेणैव शास्त्रकारैः कालस्य महत्त्वं वर्णितम् । वस्तुतस्तु सर्गस्थितिलयेषु काल एव प्रथमं कारणम् । नहि कदाप्यर्द्धरात्रे सूर्य उदेति मध्याह्ने वाऽस्तमेति । एवमनियते सृष्टिरपि नोत्पद्यते । काले सर्वमुत्पद्यते काले विनश्यति काले स्थितिमेति । काले वृक्षाः फलन्ति । काले वर्षति पर्जन्यः । एवं कालेनैव सर्वं जायते । अतएवोक्तम्—कालः प्रजा असृजनेति—प्रलयानन्तरं यदोत्पत्तेः समय आयाति तदैव परमेश्वरोपि जगद्रचयति । प्रलयदशायां सर्गं कर्तुमीश्वरोऽप्यशक्तः । अत एवोक्तम्—कालो अग्रे प्रजापतिम् । अर्थात्काल एव परमेश्वरं सृष्टिकरणाय प्रेरयति । यथा च प्रातःकाले सूर्योदयो मनुष्यान्प्रेर्य निद्रात उत्थापयति उद्योगं कारयति । कश्यपः सर्वस्य दर्शकः सर्वज्ञः सर्वधारः सर्वस्थितिहेतुः सर्वरक्षकः सर्वसाक्षी परमेश्वरः कस्यचिन्मनुष्यस्य सहायतामन्तरेण सर्गाद्योद्योगं करोति । तस्मात्स्वयम्भूरित्युच्यते । स एवंभूतोपि कालप्रेरणयैव स्वाभा-

विकशक्त्या सर्वं करोति । तपः सृष्टिकरणस्य ज्ञानमपि कालादेवाज्जा-
यत । इदमित्यंमया कर्त्तव्यमिति । मनुष्योपि मानुषीं सृष्टिं कालादेव
कर्त्तुं जानाति । एवम्भूतस्य कालस्य प्राधान्यं वैशेषिकशास्त्रेऽस्ति ॥

तथा कर्मादीनामपि सर्गकारणकत्वप्रतिपादिका वेदे बहवो
मन्त्राः सन्ति तेषामन्वेषणेन सङ्ग्रहः कार्यः । कर्मणः प्राधान्यं
मीमांसायां न्याये चास्ति । सांख्य उपादानस्य वेदान्ते च निमि-
त्तकारणस्य व्याख्यानं कृतमस्ति । तानि च स्वस्वावसरे सर्वाणि
प्रधानानि । तस्मान्नास्ति तेषु विरोधः ॥

परमेश्वरस्य यानि कर्माणि विद्द्भिः स्वीक्रियन्ते नैव तानि
मनुष्यवत्तेन क्रियन्ते किन्तु सूर्योदयानन्तरं बहूनि कार्याणि
सूर्यादेव निमित्ताद्भवन्ति सति सूर्ये तेषां तादृशभावोऽसति च तथा-
ऽभावएव सूर्यस्य निमित्तकारणत्वं द्योतयति । तथैव परमात्मनि
प्रादुर्भूते सृष्टिरूपद्यते नैव स कुलालवद्धस्तेन कार्यं करोति । एत-
मेवाशयमङ्गीकृत्य केचित्सर्गक्रियायां परमात्मन उपयोगं नापेक्ष-
न्ते तेषां च भ्रान्तिरेव । नैव ते सृष्टिप्रक्रियायां निमित्तकारणमन्त-
रेण प्रतिपादयितुं शक्ताः । नहि जड़वस्तूनां संयोगमात्रेणैव पूर्वि-
का सृष्टिर्भवितुमर्हति तस्माच्छ्रौतस्मार्त्तसिद्धान्तेन सर्वज्ञचेतनकर्तृ-
का सृष्टिरिति सर्वशिष्टविद्वत्सम्मतमनुसरणीयम् ।

तत्रावान्तरप्रलयेषु या सृष्टिरूपद्यते यस्या अत्र वर्णनं नास्त्य-
पितु ब्राह्मकल्पस्येदं वर्णनम् । अवान्तरप्रलया ब्रह्मण एकएव दिने
कतिचिद्भवन्ति तेषु भूतसृष्टेः सर्वथा प्रलयो न भवति । केषुकेषुचि-
न्निबन्धेष्ववान्तरप्रलयानन्तरं सृष्टेर्वर्णनमस्ति तेन सार्द्धमस्या
ब्राह्मदिनसृष्टेर्विरोधः स्यात्स तु विरोधो नावधार्यो विषयभेदात् ।

एकस्मिन्नेव विषये विरोधस्य सत्त्वात् । तेषां च प्रलयसर्गभेदानामत्र व्याख्यावसरो नास्ति । अत्र तु—अस्मिन्वर्तमाने ब्राह्मदिवसे कथं सृष्टिरभूदिति विचार्यते ॥

तत्रान्यभाष्यकाराणामयं सिद्धान्तः—प्रलयो द्विविधः—महा-
प्रलयोऽवान्तरप्रलयश्च । महाप्रलये ब्रह्मापि प्रलीयते तदानीं तस्या-
युगः पूर्णत्वात् । अवान्तरप्रलयेषु स एव ब्रह्मा तिष्ठति स्वपिति वा ।
महाप्रलयानन्तरं सृष्टेर्वर्णने ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिर्वक्तव्या भवति । स
स्वदिवसैर्नियतानि शतं वर्षाणि जीवति । स एव महाप्रलयान्तउ-
त्पद्यावान्तरप्रलयेषु च प्रतिबुध्य सृष्टिं करोति । इत्यादिप्रकारेण
शरीरधारिणोऽसम्भूतमायुः स्वीकुर्वन्ति । अत्रोच्यते—नहि कस्यचि-
च्छरीरधारिण एतावदायुः सम्भवति । संयोगजन्यत्वात् । शतायुः
पुरुषः । पश्येम शरदः शतमित्यादिना वेदेष्युक्तत्वात् । शवतर्षाद-
धिकमपि—भूयश्च शरदः शतादिति वेदप्रमाणानुसारमायुः सम्भ-
वति । तथापि कोटिगुणमधिकं न सम्भवति । संयोगजन्यस्य वस्तु-
न एतादृशोऽवधिः स्यादिति को मतिमानङ्गी करिष्यति ? । तथा
परिच्छिन्नः संयोगजन्यो मनुष्योऽचिन्त्यशक्तिरनन्तशक्तिर्वापि भवितुं
नार्हति सर्वशक्तिसम्पन्नः परमेश्वरः स्वसदृशस्यान्यस्योत्पादनं कुर्या-
द्यदि स्वयं तथा जगद्रचयितुमशक्तः स्यात् । एवंचेत्सर्वशक्तित्वं नोप-
पद्येत । अनेकेश्वरवादरूपो दोषश्चैषां मते प्रसज्यते प्रयोजनमपि
नोपलभामहे यद्भूतसर्गाय कंचिद्देहिविशेषं पुरुषविशेषं वा परमात्मा
निरमिमीत । तस्मान्नायं पक्षः साधुः । केचिदत्र मेधातिथ्यादयो
भाष्यकाराः प्रचरितसांख्यमतानुसारमत्र सृष्टिं वर्णयन्ति केचित्कु-
ल्लूकभट्टादयश्चाधुनिकवेदान्तमतं परमात्मन एवोपादानकारणवाद

मूरीकृत्य सृष्टिप्रक्रियां वर्णयन्ति तत्र च परस्परं विरोधमभि-
मन्यन्ते स च तेषां भ्रम एव । नास्ति सांख्यवेदान्तयोः सृष्टौ मत-
भेदः । उपादानं चास्य जडमेव भवितुमर्हति । नहि कार्यकारणयोर्वैरू-
प्यं कथमप्युपपादयितुं युक्तम् । सांख्येऽपि नहि कश्चित्परमात्मानम-
न्तरेण स्वतन्त्रा जडभूता प्रकृतिरीक्षणपूर्विकां सृष्टिं निर्मातुं शक्नो-
ति । तस्मादविरोध एव न्याय्यः । निमित्तोपादानकारणयोश्च तत्र
प्राधान्यवर्णनेन भ्रान्तिर्जातेति सम्भाव्यते । सर्गारम्भे परमेश्वरः
सृष्टिकरणप्रकारमालोचयति । इदमेवेक्षणमिदमेव तपोऽयमेव प्रादु-
र्भावः । इदमेव तस्य प्राकट्यम् । एतेनैव स स्वयम्भूरित्युच्यते । नैतै-
र्वाक्यसमूहैरन्यस्य देहधारिणः कस्य चिदुत्पत्तिरवगन्तव्या । एते-
नैक एव परमेश्वरोऽस्याः सृष्टेर्निमित्तकारणभूतइत्युक्तं भवति ।
वादाश्च प्रवर्तन्त एव ॥

भाषार्थः—सृष्टिप्रक्रिया में कोई लोग वेदादि ग्रन्थों का परस्पर विरोध
कहते हैं उस की निवृत्ति के लिये सब वचनों का यहां संग्रह तो हो नहीं सक-
ता । और वैसा करने से लेख भी अत्यन्त बड़ जाना सम्भव है ऐसा विचार के
संक्षेप से लिखते हैं—वेदादिग्रन्थों में कहीं २ सृष्टि आदि विषयों का वर्णन शब्दों
के भेद से किया गया है अर्थात् जिस विषय के लिये एक पुस्तक में जैसे शब्द हैं
उस से भिन्न द्वितीय पुस्तक में लिखे गये तब किन्हीं को भ्रम हो जाता है कि इस
में विरोध है । और सब पुस्तकों का लेख एक प्रकार के शब्दों में हो नहीं
सकता क्योंकि देशकाल वस्तु भेद से भेद हो जाता है और अनेक कर्त्ताओं के
होने से भी उन २ की शैली अलग २ होती है परन्तु विचारशील लोग जब उस के
मुख्य सिद्धान्त पर ध्यान देते हैं तो उस मूल सिद्धान्त में कुछ भेद नहीं जान
पड़ता किन्तु अज्ञानियों की बुद्धि में परस्पर विरोध बना रहता है उस का कारण
अज्ञान है । इस में वेदादि शास्त्रों का कुछ दोष नहीं और इस अज्ञानियों के
भेद से संसार की कुछ हानि भी नहीं हो सकती ॥

तथा अन्य वेदादिग्रन्थों में जहां र सृष्टि का प्रकरण है वहां र रचना के वर्णन से पूर्व और प्रलयदशा के अन्त में कहा है कि “उस ने विचार किया कि मैं अनेकरूप सृष्टि करूँ” तथा प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि “संसार की रचना से पहिले उस ने तप किया” यहां तपशब्द से भी सृष्टि-रचना के अनुसन्धान करने से तात्पर्य है क्योंकि परमेश्वर के सम्बन्ध में तपशब्द का अर्थ ज्ञान ही लिया गया है। सो ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि “यस्य ज्ञान-स्यन्तपः” जिस का तप ज्ञान है। यही अंश यहां मनुस्मृति में भी लिखा है कि “उस ने अपने सामर्थ्य से अनेक प्रकार की प्रजा रचने की इच्छा से विचार कर के प्रथम प्राण अर्थात् सूत्रात्मा वायु को रचा” सृष्टि विषयक इत्यादि सभी पद्यों का एकही आशय है ॥

तथा प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि “उस ने तप अर्थात् सत् असत् अच्छे बुरे की प्रमाण वा कारण के अनुसार समीक्षा कर के दो वस्तुओं को अर्थात् प्रथम दो प्रकार की शक्ति को उत्पन्न किया” जिन में एक का नाम रयि और दूसरे का प्राण नाम रखा। इन्हीं दोनों का स्त्रीशक्ति और पुरुषशक्ति शब्दों से भी व्यवहार करते हैं। कहीं इन्हीं को सूर्य चन्द्रमा नामों से कहा है क्योंकि चन्द्रमा में स्त्रीशक्ति की और सूर्य में पुरुषशक्ति की प्रधानता वा उत्तेजकता है इन्हीं दोनों को भोग्य भोक्ता वा प्रकृति पुरुष नामों से भी कोई लोग कहते हैं। इस प्रकार इन दो शक्तियों का अनेक नामों से व्यवहार किया गया है। यही अंश मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है कि “उस परमेश्वर ने प्रारम्भ में अपने सत्त्वादि गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति नामक एक (जिस में अनिर्वाच्य होने से द्वित्वादि नहीं कहा जा सकता) सामर्थ्य के दो खण्ड किये जिस के अर्धभाग में पुरुष और आधे भाग में स्त्री हुई। उस स्त्री में विराट नाम ब्रह्माण्ड के प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न किया। अर्थात् प्रलय के पश्चात् स्त्री पुरुष के संयोग के बिना भी जितना जगत्-प्राणी उत्पन्न हुए वा जो कुछ जड़ वस्तु उत्पन्न हो कर दृष्टिगोचर हुए उन सब की उत्पत्ति स्त्रीपुरुषरूप दो शक्ति के मेल से हुई है। क्योंकि सब प्राणी और भूतों की उत्पत्ति से पहिले दो शक्तियों की उत्पत्ति दिखाने का यही तात्पर्य है। अनुमान होता है कि इसी आशय को लेकर किन्हीं लोगों ने प्रारम्भ में एक स्त्री वा एक पुरुष को उत्पन्न किया माना है उसी आदि पुरुषशक्ति को ब्रह्मा, स्त्रीशक्ति को सरस्वती। वा महादेव पार्वती

(आदम, हवा) आदि नाम रखे गये। सम्भव है कि शक्ति की सौकर्यातिशय विवक्षा में स्वतन्त्रकर्ता की अविवक्षा कर देने से शक्ति का प्रयोग शक्तिमान् के स्थान पर मान लिया गया जिस से अनेक असम्भव पौराणिक कथा बन गईं। यहां प्रश्नोपनिषद् और मनुस्मृति का एक ही आशय है। केवल दोनों के कथन में किसी प्रकार कुछ भेद मात्र प्रतीत होता है। लोक में भी एक आशय वाले अवितर्क एक विषय को व्याख्यान कर्त्ताओं के भेद से भिन्न जैसा मान लेते हैं। वैसे ही सृष्टि में शास्त्रों का वास्तविक विरोध नहीं है ॥

सृष्टि प्रक्रिया में वेदों का जो सिद्धान्त है वही इस मानवधर्मशास्त्र में भी समझना चाहिये। वेदों में जहां २ सृष्टि का वर्णन है वहां २ सर्वत्र वा प्रायः प्रथम प्रलय दशा का स्वरूप दिखाया गया है। जैसे ऋग्वेद अ० ८। अ० ७ व० १७। मं० ३ में लिखा है कि उत्पत्ति से पहिले अन्धकार से आच्छादित जगत् का कारण था। इत्यादि प्रकार के मूल वेद सन्त्रस्थ आशय को ले कर के ही वाक्य भेद से मनु जी ने भी लिखा है कि यह सब जगत् अन्धकार रूप अज्ञात—किसी प्रकार के चिन्ह से रहित सब ओर से सोया जैसा था। तथा उक्त मन्त्र के (महिना जायतैकम्) वाक्य का आशय भी मनुस्मृति के इसी प्रथमाध्याय में वर्णन किया गया है इत्यादि प्रकार वेदानुकूल ही यहां सृष्टि का वर्णन है ॥

न्यायमीमांसा और सांख्यादि शास्त्रों में कहीं २ सृष्टि का वर्णन परस्पर विरुद्ध जैसा प्रतीत होता है। वहां भी वास्तविक विरोध नहीं उस एक २ में अपने २ अभीष्ट व्याख्येय कारण की प्रधानता दिखायी है। वे सब शास्त्रों में माने हुए सब कारण सृष्टि प्रक्रिया में उपयोगी होते हैं। काल, कर्म उपादान और निमित्त शब्द वाच्यों की ही मुख्य कर शास्त्रों में कारण बुद्धि से प्रधानता दिखायी है। इन्हीं कालादि सृष्टि के कारणों की वेद में भी मुख्यता दीखती है। सो अथर्व वेद में भी (कालः प्रजा०) इत्यादि अनेक मन्त्र काल को ही सृष्टि का कारण कहते हैं कि काल से ही सृष्टि हुई। इसी प्रकार के मन्त्रों का आश्रय लेकर शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार से काल की महिमा का वर्णन किया है। और ठीक २ तो यह है कि उत्पत्ति स्थिति प्रलयों में काल ही प्रथम कारण है क्योंकि कभी आधी रात में सूर्य का उदय नहीं हो सकता अथवा न मध्याह्न में अस्त हो सकता है। इसी प्रकार अनियत समय में सृष्टि भी उत्पन्न नहीं हो सकती किन्तु अपने २ समय में सब उत्पन्न होते समय आने पर नष्ट होते और

अपने समय में सब वस्तु स्थिर रहता है। समय पर वृक्ष फूलते फलते समय पर मेघ वर्षता है। इसी प्रकार सब पदार्थ अपने-२ समयपर उत्पन्न होते हैं। इसी लिये कहा गया कि काल प्रजाओं को उत्पन्न करता है। अर्थात् प्रलय के पश्चात् जब उत्पत्ति का समय आता है तभी परमेश्वर भी जगत् को रचता है किन्तु समय के नियम को परमेश्वर भी नहीं तोड़ता वा तोड़ सकता। तात्पर्य यह कि प्रलय दशा के भीतर परमेश्वर भी सृष्टि रचने में असमर्थ है। इसी लिये कहा है कि काल ने ही प्रथम सृष्टि होने से पूर्व परमेश्वर को सृष्टि रचने के लिये प्रेरित किया। जैसे प्रातःकाल में सूर्य का उदय होना मनुष्यों को प्रेरणा कर निद्रा से उठाता वा उद्योग कराता है। तथा कश्यपनाम सब को दिखाने वाला, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सब की स्थिति का हेतु सर्वरक्षक सर्वसाक्षी परमेश्वर किसी मनुष्य की सहायता के बिना रचना का उद्योग करता है। इसी लिये उस को स्वयम्भू कहते हैं। वह परमेश्वर ऐसा होने पर भी काल की प्रेरणा से ही स्वाभाविकशक्ति के साथ सब करता है। तप नाम सृष्टि रचना का ज्ञान भी काल से ही होता है कि यह काम मुझ को इस प्रकार करना चाहिये। मनुष्य भी अपने शरीर से हो सकने वाली प्रत्येक रचना को काल से ही जानता है कि अमुक काम का समय आगया वह अब करना चाहिये। काल से ही जल वा प्राण उत्पन्न हुए। वेद ज्ञान और दिशा भी काल से ही उत्पन्न होती हैं काल से सूर्य का उदय और अस्त होता है। यह सब अथर्ववेद के मन्त्रों का आशय है। इसी प्रकार काल की प्रधानता वैशेषिकशास्त्र में भी विशेष कर कही है ॥

तथा वेद में कर्मादि को भी सृष्टि के कारण ठहराने वाले बहुत मन्त्र हैं उन का संग्रह खोजने से हो सकता है। कर्म की प्रधानता सीमांसा और न्याय में कही है। सांख्यशास्त्र में जगत् के उपादान कारण का और वेदान्त ब्रह्मसूत्रों में जगत् के निमित्त कारण का विशेषकर व्याख्यान किया है। वे अपने-२ अवसर पर सब प्रधान हैं। इस लिये सृष्टिमें परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं है ॥

विद्वानों ने परमेश्वर के जो काम स्वीकार किये हैं उन को वह मनुष्य के तुल्य नहीं करता किन्तु जैसे सूर्य के उदय होने पश्चात् बहुत कार्य सूर्य के निमित्त मात्र वर्तमान रहने से होते हैं। सूर्य के होने पर उन कार्यों का वैसा होना और न होने पर वैसा न होना ही सूर्य का निमित्त कारण होना जाता है। वैसे ही परमेश्वर के प्रकट होने पर सृष्टि उत्पन्न होती है (जैसे कि

स्वामी के उपस्थित सन्मुख रहने पर सेवक लोग अपना २ काम यथावत् करते हैं स्वामी को कुछ कहने तक की आवश्यकता नहीं होती। पर वह चाहता है कि ये सेवक जन ऐसा करें और सेवक भी चाहते हैं कि हम स्वामी की इच्छानुसार करें) किन्तु वह कुम्हार के तुल्य हाथ से काम नहीं करता। इसी आशय को ले कर कोई लोग सृष्टि करने में परमेश्वर की अपेक्षा नहीं समझते उनको यह भ्रान्ति ही है। क्योंकि निमित्त कारण के बिना वे लोग सृष्टि प्रक्रिया का प्रतिपादन नहीं कर सकते। अर्थात् जड़ वस्तुओं के संयोग मात्र से ईक्षण पूर्वक सृष्टि नहीं हो सकती इस लिये श्रौतस्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार सर्वज्ञ चेतन कोई इस जगत् का कर्त्ता है ऐसा सब शिष्ट विद्वानों का सम्मत हम को भी मान्य है ॥

उन अवान्तर प्रलयों में जिस प्रकार वा जो सृष्टि उत्पन्न होती है उसका यहां वर्णन नहीं है किन्तु ब्राह्म कल्प में होने वाली सृष्टि का वर्णन है। और अवान्तर प्रलय ब्रह्म के एक ही दिन में (प्रत्येक मन्वन्तर के आदि अन्त में जैसा कि सूर्यसिद्धान्त में विशेष कर वर्णन किया गया है) कई बार होते हैं उन में भूत सृष्टि का सर्वथा प्रलय नहीं होता किन्तु प्रायः प्राणियों का प्रलय होता है। किन्हीं २ ग्रन्थों में अवान्तर प्रलय के पश्चात् सृष्टि का वर्णन है उसके साथ इस ब्राह्मदिन की सृष्टि का कुछ विरोध हो तो वह विरोध नहीं जानना चाहिये क्योंकि उन दोनों सृष्टियों में देश कालादि के भेद से विषय में भेद हो गया और विषय भेद में विरोध होता नहीं किन्तु एक ही विषय में विरोध होता है। उन प्रलय और सृष्टि के भेदों के व्याख्यान का यहां अबसर नहीं किन्तु यहां तो इस वर्त्तमान ब्राह्मदिन के प्रारम्भ में कैसे सृष्टि हुई ऐसा विचार किया जाता है ॥

उस में अन्य भाष्यकारों का यह सिद्धान्त है कि प्रलय दो प्रकार का है एक महाप्रलय और द्वितीय अवान्तर प्रलय। महाप्रलय में ब्रह्मा भी नहीं रहता क्योंकि महाप्रलय का समय आते तक ब्रह्मा की आयु भी पूर्ण हो जाती है और अवान्तर प्रलयों में वही एक ब्रह्मा स्थित रहता वा सोता है। महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि का वर्णन करने में ब्रह्मा की भी उत्पत्ति कहनी पड़ती है। सो यहां मनुस्मृति के सृष्टि प्रकरण में ब्रह्मा की उत्पत्ति मानते हैं इस से महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि का वर्णन मनुस्मृति में बतलाना बनता है। ऐसा माना जावे तो इन लोगों के कथनानुसार ब्राह्म महाकल्प का यह प्रथम दिन हुआ और

इस हिसाब से ब्रह्मा अभी एक दिन का नहीं हुआ। परन्तु प्रचरित पञ्चाङ्ग और सङ्कल्प की प्रक्रिया से यह कथन विरुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि पञ्चाङ्गों के लेखानुसार सङ्कल्प में भी यह पढ़ा जाता है:—

“समस्तजगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणस्य कमलासनस्य स्वमानेन परमायुर्वर्षशतं तस्यार्द्धं ५० गतमथ ब्रह्मणो द्वितीये परार्द्धे प्रथमवर्षे प्रथममासे प्रथमपक्षे प्रथमदिवसे द्वितीययामे—इत्यादि पञ्चाङ्गेषु दृश्यते”

इस का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करने वाले ब्रह्मा की अपने दिन आदि के परिमाण से सौ वर्ष की अवस्था है उस का आधा ५० वर्ष बीत गया अब ब्रह्मा के द्वितीय उत्तरार्द्ध के प्रथम वर्ष के प्रथम मास के प्रथम पक्ष के प्रथम दिन में यह द्वितीय प्रहर है इत्यादि। पाठकों को इस से स्पष्ट विरोध प्रतीत हो जायगा। और परस्पर विरुद्ध पक्ष कदापि ठीक नहीं होते यह विद्वानों का सिद्धान्त है। और वह ब्रह्मा अपने वर्षों से नियत सौ वर्ष जीवता है। वही महाप्रलय के अन्त में फिर उत्पन्न हो कर और अवान्तर प्रलयों में जागर कर सृष्टि रचता है। इत्यादि प्रकार शरीरधारी की असम्भव आयु स्वीकार करते हैं ॥

इस का उत्तर यह है कि किसी शरीरधारी की इतनी अवस्था हो नहीं सकती क्योंकि अन्य प्राणियों के तुल्य उस का शरीर भी मट्टी आदि के परमाणुओं से मिल कर बना है। वे संयोगी पदार्थ कोई ऐसे नहीं जो अर्वाँ वर्ष चले जावें। सौ वर्ष की अवस्था वाला पुनश्च है वा मैं सौ वर्ष तक देखूँ इत्यादि प्रकार वेद में भी कहा है जिस से सिद्ध है कि मनुष्य का आयुः सौ वर्ष का है। और सौ शब्द से दैव वा ब्राह्म कोई सौ वर्ष लिये जावें सो नहीं किन्तु मानुष ही लिये जावेंगे क्योंकि वेदसम्बन्धी सब ही नियम वा आज्ञा मनुष्य पर ही घटती हैं। कोई कहे कि वेद में तो (भूयश्च शरदः शतात्) इस प्रमाण के अनुसार अधिक भी आयु हो सकती है। तो भी कोटिगुण अधिक नहीं हो सकती। संयोग से उत्पन्न होने वाले वस्तु की ऐसी अवधि हो यह कौन बुद्धिमान् मान लेगा ? ॥

तथा संयोग से उत्पन्न हुआ परिच्छिन्न—जिस की लम्बाई चौड़ाई आदि की अवधि है ऐसा मनुष्य अचिन्त्यशक्ति से युक्त और अनन्तशक्ति नहीं हो

सकता । सर्वशक्तिमान् परमेश्वर यदि अपने तुल्य अन्य ब्रह्मा को उत्पन्न करे तो जानो वह स्वयं जगत् को नहीं बना सकता । और जब जगत् को नहीं रच सकता तो उस का सर्वशक्तिमान् होना भी सिद्ध होना दुस्तर है । और ऐसा मानने से अनेक ईश्वर माननेरूप दोष भी उन के मत में आता है । और हम को ऐसा कोई प्रयोजन भी नहीं जान पड़ता कि जो प्राणियों की रचना के लिये किसी देहधारी पुरुष विशेष ब्रह्मादि को परमेश्वर बनावे । तिस से यह यह पक्ष श्रेष्ठ नहीं है ॥

कोई मेधातिथि आदि भाष्यकार इस प्रसङ्ग में प्रचरित सांख्य के मतानुसार सृष्टि का वर्णन करते हैं तथा इस मनुस्मृति के सृष्टि प्रकरण में कोई कुल्लूक भट्ट आदि परमेश्वर ही जगत् का उपादानकारण है ऐसे आधुनिक वेदान्त मत को स्वीकार कर के सृष्टिप्रक्रिया का वर्णन करते हैं । और वेदान्त तथा सांख्य के सिद्धान्त में परस्पर विरोध मानते हैं वह उन लोगों का केवल भ्रम-मात्र है किन्तु सांख्य वेदान्त में सृष्टिप्रक्रिया में मत भेद नहीं है । इस कार्य जगत् का उपादानकारण जड़ कारण ही हो सकता है । कार्य कारण की विरूपता वा विरुद्धता किसी प्रकार सिद्ध करना ठीक नहीं हो सकता । अर्थात् वेदान्त का यह सिद्धान्त नहीं है कि जगत् का उपादानकारण चेतन आत्मा है । और सांख्य में भी किसी परमात्मा के बिना स्वतन्त्र जड़ स्वरूप प्रकृति विचार पूर्वक होने वाली सृष्टि को नहीं बना सकती इस लिये दोनों का विरोध न होना ही ठीक है । वेदान्त में निमित्त कारण का तथा सांख्य में उपादान का प्रधानता के साथ वर्णन होने से लोगों के भ्रान्ति हो गई होगी कि सांख्यवादी तो केवल प्रकृति को ही जगत् का कारण मानते हैं और वेदान्त में भी ब्रह्म को ही कारण माना है ऐसा अनुमान से भ्रम होना सम्भव जान पड़ता है । सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर सृष्टि बनाने के पूर्वकल्प सम्बन्धी प्रकार का शोचता है इसी का नाम ईक्षण इसी का नाम तप और यही उस का प्रादुर्भाव है यही उसकी प्रकटता है और इसी से वह स्वयम्भू कहाता है । इन वाक्यों से अन्य किसी देहधारी की उत्पत्ति होती हो ऐसा विचार न करना चाहिये । इस सब कथन से एक ही परमेश्वर इस सृष्टि का निमित्त कारणरूप है यह कथन सिद्ध होता है वादविवाद तो बने ही रहते हैं ॥

तथा सृष्टौ भेदद्वयमेव विचारशीलैः प्रत्येतद्वयम् । एका तु मानवी वा मानसी यद्वा—ऐश्वरी सृष्टिः । द्वितीया मैथुनी वा

मानुषी सृष्टिः । तत्र पूर्वा सृष्टिः कल्पारम्भएव जायते द्वितीया तु तदनन्तरमाजगतः स्थितिदशायाः प्रत्यहं प्रतिक्षणं च जायते । तत्र स्थूलकारणापेक्षां विहाय मनुना मननशक्तिं समाश्रित्य प्रलयानन्तरं सर्गारम्भे कृता सृष्टिर्मानवीत्युच्यते । मनसा विचारेणैव कृता नतु स्थूलशरीराश्रितकर्मणा सा मानसी । सर्वशक्तिमानीश्वरएव तां कर्तुं शक्नोति नैव कश्चित्साधारण इत्यैश्वरी सा च स्त्रीपुरुषयोः संयोगमन्तरेण प्राणिनां परमसूक्ष्मकारणात्पृथिव्यादिमहाभूतानां स्थूलबीजमन्तरेण वृक्षौषधिवनस्पत्यादीनामुत्पत्तिः । एवंभूतायां कश्चिद्देहधारी मनुष्यः कर्तुं न शक्नोति सैवैश्वरी सृष्टिः । यदा च तेन स्त्रीपुरुषबीजवृक्षादय आदावुत्पाद्यानन्तरमेवं सर्वैः सृष्टिपरम्परा चालनीयेति वेदद्वारोपदिष्टं तदारभ्य मनुष्यैस्तथैव सृष्टिः क्रियते । पुत्रादीनामुत्पत्तिं वृक्षादीनामारोपणं घटपटसद्मादीनां निर्माणं च प्रतिदिनं मनुष्याः कुर्वन्ति । इयमेव सर्वा मानुषी वा मैथुनी सृष्टिरिति । तत्र सर्वस्यावरजङ्गमानामुत्पत्तौ चत्वार्येव प्रधानकारणानि—यथा—ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः । ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथेति सुश्रुतस्य शरीरस्थाने । एषां चतुर्णामेकदेशे संयोगएव मैथुनं कर्म तेन मैथुनेन कर्मणोत्पन्ना सृष्टिमैथुनीत्यभिधीयते । नतु केवलानां स्त्रीपुरुषाणां संयोगएव मैथुनमपितु स्त्रीपुरुषशक्तयोः संयोगो मैथुनं तच्च सर्ववस्तूनामुत्पत्तौ भवत्येवेति मैथुनीत्वं सर्वस्याः । यूकामक्षिकमत्कुणादेर्वृक्षौषधिवनस्पत्यादेश्चापि मैथुनपूर्विकासृष्टिरित्युक्तं भवति । बीजस्य पुंस्त्वं पृथिव्याश्च स्त्रीत्वं तयोः संयोगो मैथुनं तेन प्रकटा मैथुनी सृष्टिः । यूकामक्षिकमत्कुणादीनां सूक्ष्मजीवेभ्यः

सूक्ष्मशरीरधारिभ्य उत्पत्तिः । अर्थादेहधारिणां प्रधानतया द्वौ भेदौ स्तः—स्थूलाः सूक्ष्माश्च य इन्द्रियाणां गोचरीभूतास्ते स्थूला मशकादिपर्यन्ताः । ततोऽन्येऽतीन्द्रियाः सूक्ष्माः । यद्यपि मशकादयः केषांचिदपेक्षया सूक्ष्मा वक्तुं शक्यन्ते तथापि मर्यादा कार्येति मत्वाऽतीन्द्रियाणामेव प्राधान्यतया सूक्ष्मत्वमङ्गीकार्यम् । सूक्ष्मं कारणं स्थूलं कार्यमित्यपि न्यायतः सिद्धं प्रसिद्धं च । एवं च येषां स्थूलप्राणिनां गोमयादावुत्पन्नानां वृश्चिकादीनां स्थूलाः शरीरिणः संयोगेनोत्पादकाः कारणभूता न दृश्यन्ते तत्र गोमयादिष्ववस्थितेभ्यो विषमयसूक्ष्मातीन्द्रियशरीरधारिभ्यः कारणभूतजन्तुभ्यस्तेषामुत्पत्तिरित्यनुमानेनैवावगम्यते नहि जड़कारणमात्राच्चेतनस्योत्पत्तिः शक्या विज्ञातुम् । इत्यमेव कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टइति वैशेषिककारस्य कथनं सम्बध्यते कार्यकारणयोः सारूप्यमिति नैयायिकानां च । यद्यपि मनुष्यादिप्राणिनां शरीराणि पार्थिवानि पार्थिवभौतिकानि वा सन्ति तस्मात्तेषां पृथिव्यादिजड़मेवोपादानकारणम् । तथापि चेतनाविशिष्टशरीरेभ्य एव चेतनाविशिष्टानां प्राणिनिकायानामुत्पत्तिरिति कार्यकारणयोः सारूप्यम् । एवं गोमयादिजड़कारणमात्राद्यदि वृश्चिकादीनामुत्पत्तिस्तर्हि वृश्चिकादयोऽपि जड़ा एव भवेयुः । नहि जडे दुग्धे विकृते चेतनं दधि भवति । मृत्स्नातो वा चेतनं घटादिकं प्रादुर्भवति । तद्वदिहापि विचार्यम् । यत्र प्रत्यक्षतया कारणे तादृशो गुणो न दृश्यते कार्ये तु दृश्येत तत्र कारणे तस्य गुणस्य सूक्ष्मत्वमतीन्द्रियत्वं चानुमेयम् । एतेन चेतनसूक्ष्मशरीरधारिभ्यस्तादृशेभ्य एव दंशमशकवृश्चिकादीनामुत्पत्तिरित्युक्तं भवति ॥

एते दंशमशकादयः स्वेदजा उष्णजा वा इति यच्छास्त्रविद्भि-
रभिधीयते तत्तु तेषामण्डजादित्वजरायुजादित्ववदस्तीत्यवगन्तव्यम् ।

तथाऽण्डजा जरायुजाश्च प्राणिनश्चेतनाविशिष्टस्त्रीपुरुषसंयोगमन्तरेण न केवलादण्डान्न च जरायुमात्रादुत्पद्यन्ते किन्तु यत्र शुक्रशोणितसंयोगेन गर्भः शरीराकृतिमापद्यते सा सूक्ष्मा चर्माकृतिर्जरायुरित्युच्यते तस्माज्जरायुतो जायते जरायुभेदात्प्रविभक्तावयवभावयं दृष्टिपथमागच्छति । तथाचाण्डाकारस्य मध्ये गर्भो भूत्वा पूर्णाङ्गः सन्नण्डच्छेदाज्जातो जन्तुरण्डजः । नहि स्त्रीपुरुषयोः संयोगमन्तरेण जाताइति । तथैवात्रापि स्वेदजाः प्राणिनः स्वेदविशेषकारणात्सद्यः प्रकटतामापद्यन्ते । उष्णाधिक्यमेव शक्तिद्वयस्य संयोगेऽपि कारणम् । सूक्ष्मदेहधारिणां शक्तिद्वयविशिष्टानां जन्तूनां संयोगानन्तरमुष्णविशेषाच्छीघ्रतरं वृद्धिं गताः प्राणिनो दृश्यन्ते इति तेषां स्वेदजत्वमुष्णजत्वं वास्ति । नहि सूक्ष्माएव जन्तवः स्थूलत्वमापद्यन्ते किन्तु सूक्ष्मेभ्यः स्थूला उत्पद्यन्ते । यदि कश्चिद्देयादृशप्राणिशरीरात्कश्चिदुत्पद्यते । स तादृशएव सूक्ष्मः स्थूलो वा भवति । नहि मशकशरीरात्ततः स्थूलाः प्राणिन उत्पद्यन्ते । अस्येदमुत्तरं बोध्यम् । यथा स्थूलप्राणिनां मैथुनसंयोगेन शुक्रशोणितविक्रीभूत्वा गर्भे प्राणिन उत्पद्यन्ते न तथा सूक्ष्मप्राणिनां मैथुनसंयोगेन क्वापि वीर्यादिकं चरति । किन्तु यत्स्वेदजप्राणिनिकायानां सूक्ष्ममुपादानकारणं तत्र स्त्रीत्वं पुंस्त्वं च शक्तिद्वयं तच्च चेतनाशक्तिविशिष्टं तस्यैव संयोगेन तेषामुत्पत्तिरिति कार्यकारणयोः सारूप्यम् । सिद्धमनेन स्वेदजोऽपि मैथुनीसृष्टावन्तर्गताइति ॥

भाषार्थः—तथा सृष्टि में विचारशील पुरुषों को दो ही भेद निश्चित जानने चाहिये । एक मानवी वा मानसी सृष्टि अथवा ऐश्वरी सृष्टि और दूसरी मैथुनी वा मानुषी सृष्टि कहाती है । इन में पहिली मानवी सृष्टि कल्प के आरम्भ में ही होती है तथा दूसरे प्रकार की सृष्टि उत्पत्ति होने के पश्चात् जगत् की

स्थिति दशा रहने पर्यन्त सदा प्रतिदिन वा प्रतिक्षण होती है। उन में स्थूल कारण की अपेक्षा को छोड़ कर प्रलय के पश्चात् सृष्टि के प्रारम्भ में विचार वा मनन शक्ति का आश्रय लेकर मनु नामक परमेश्वर ने उत्पन्न की इससे मानवी सृष्टि कहाती है। मन नाम विचार के आश्रय से ही सूक्ष्म कारण से की गयी किन्तु स्थूल शरीरादि का आश्रय रखने वाले कर्म से नहीं इस लिये प्रारम्भ की सृष्टि मानसी भी कही जाती है। सर्व शक्तिमान् ईश्वर ही उस सृष्टि को कर सकता है किन्तु कोई साधारण पुरुष नहीं इस लिये उसको ऐश्वरी सृष्टि भी कहते हैं और वह सृष्टि स्थूल स्त्री पुरुष के संयोग के बिना ही उत्पन्न होती उस समय उन प्राणियों का माता पिता वही एक परमेश्वर है। परमसूक्ष्म कारण से पृथिव्यादि स्थूल भूतों की और स्थूल बीज के बिना वृक्ष ओषधि और वनस्पति आदि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार की जिस को कोई देहधारी मनुष्य नहीं बना सकता वही ऐश्वरी सृष्टि है। और जब उस ने स्त्री पुरुष बीज वृक्ष आदि एक बार प्रारम्भ में उत्पन्न कर पीछे इस प्रकार सब को सृष्टि की परम्परा चलानी चाहिये ऐसा वेद द्वारा उपदेश किया तब से लेकर मनुष्य लोग धैसे ही अपनेर योग्य सृष्टि बनाते आते हैं। पुत्रादि का उत्पन्न करना वृक्षादि का लगाना और घड़ा वस्त्र वा मकान आदि का बनाना इत्यादि सृष्टि मनुष्यों की ओर से प्रतिदिन होती है यही सब मानुषी वा मैथुनी सृष्टि है। उन सब स्थावर वृक्षादि और जङ्गम मनुष्यादि चेतन प्राणियों की उत्पत्ति में चार ही मुख्य कारण हैं—जैसे श्रुत में लिखा है कि ऋतुसमय, क्षेत्र—खेत, जल और बीज इन चार प्रकार की सामग्रियों के संयोग से जैसे वृक्षादि का अद्भुत उत्पन्न होता है वैसे यही चार प्रकार की सामग्री संयुक्त हो कर मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इन में स्थावर की उत्पत्ति मनुष्य की इच्छानुसार तथा स्वतन्त्र अकस्मात् भी होती है पर जहां स्वतन्त्र होती वहां भी मैथुन रूप कारण अवश्य मानने पड़ता है और मनुष्यादि की उत्पत्ति बिना इच्छा पूर्वक मैथुन संयोग के नहीं होती यह विषय श्रुत के शारीरस्यान में लिखा है। पूर्वोक्त समय आदि का एकत्र संयुक्त होना ही मैथुन कर्म है उस से उत्पन्न हुई सृष्टि मैथुनी कहाती है। केवल स्त्री पुरुषों के संयोगमात्र का नाम मैथुन नहीं है किन्तु किसी प्रकार स्त्रीशक्ति और पुरुष शक्ति का संयोग होना मैथुन कहाता है। सो इस प्रकार का मैथुन सब वस्तुओं की उत्पत्ति में होता ही है इसी से

पीछे उत्पन्न होने वाली सब सृष्टि मैथुनी होती है। इस से जुआं मक्खी खटमल आदि और वृक्ष ओषधि वनस्पति आदि की भी मैथुन पूर्वक ही सृष्टि होती है यह सिद्धान्त ठहरता है। बीज पुरुष और पृथिवी स्त्री उन दोनों का संयोग होना मैथुन कर्म और इस मैथुन से उत्पन्न होने वाले वृक्षादि मैथुनी सृष्टि में कहाते हैं। जुआं मक्खी खटमल आदि की सूक्ष्म शरीरधारी सूक्ष्म जीवों से उत्पत्ति होती है। अर्थात् देहधारियों के मुख्यकर दो भेद हैं एक स्थूल और द्वितीय सूक्ष्म। जो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होते वे स्थूल मशक-मच्छर पर्यन्त हैं। इन से भिन्न अतीन्द्रिय—इन्द्रियों से न दीख पड़ने वाले सूक्ष्म कहाते हैं। यद्यपि मच्छर आदि को किन्हीं की अपेक्षा से सूक्ष्म कह सकते हैं तो भी सूक्ष्मता वा स्थूलता की अवधि करनी चाहिये ऐसा मानकर इन्द्रियों से न दीख पड़ने वालों को ही मुख्यकर सूक्ष्म मानना चाहिये। सूक्ष्म कारण और स्थूल कार्य होता वा माना जाता है यह भी न्याय से सिद्ध और सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जिन गोबर आदि में उत्पन्न हुए वृश्चिक आदि स्थूल प्राणियों को संयोग से उत्पन्न करने वाले स्थूल शरीरधारी कारणरूप नहीं दीखते वहां गोबर आदि में रहने वाले विषरूप सूक्ष्म अतीन्द्रिय शरीरधारी कारणस्वरूप जन्तु अर्थात् चेतनतायुक्त जड़ कारण से उन वृश्चिक आदि की उत्पत्ति होती है यह अनुमान से ही निश्चित होता है। जड़ कारणमात्र से चेतन की उत्पत्ति हो सकती हो यह नहीं मान सकते। इसी प्रकार कारण का गुण कार्य में आता है अर्थात् जो गुण कार्य में दीख पड़े उस का होना कारण में अवश्य मानने पड़ता है। यह वैशेषिकशास्त्र का सिद्धान्त है सो भी ठीक घट जाता है। तथा कार्य कारण की एकरूपता होती वा माननी चाहिये यह न्यायशास्त्र का सिद्धान्त भी पूर्वोक्तप्रकार मानने से ठीक बन सकता है।

यद्यपि मनुष्यादि प्राणियों के शरीर पृथिवी के वा किन्हीं के मतानुसार पञ्चभूतों से बनते हैं इस लिये उन शरीरों का पृथिव्यादि जड़ ही उपादान कारण है तो भी चेतनता विशिष्ट शरीरों से ही प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति होती है इस से कार्य कारण के साधर्म्य में कोई दोष नहीं आसकता इस प्रकार गोबर आदि जड़ कारण मात्र से यदि वृश्चिक (बीछू) आदि जन्तुओं की उत्पत्ति मानी जावे तो बीछू आदि भी जड़ होने चाहिये। क्योंकि जड़ दूध के विकृत होने पर प्रदार्थान्तर दही चेतन नहीं बनता अथवा प्रशस्त मट्टी से चेतन घड़ादि नहीं उत्पन्न होते किन्तु दूध से दही तथा मट्टी से घट आदि जड़ से

जड़ ही उत्पन्न होते हैं। वैसे यहां भी विचारना चाहिये कि जहां प्रत्यक्षता से कारण में वैसे गुण नहीं दीखता और कार्य में दीखे तो वहां कारण में उस गुण का सूक्ष्म वा अतीन्द्रिय होना अनुमान से जानना चाहिये। इस से चेतन सूक्ष्म शरीरधारी वैसे ही जन्तुओं से डांश मच्छर और बीछू आदि की उत्पत्ति होती है यह सिद्ध हो गया ॥

ये डांश मच्छर आदि स्वेदज वा उष्णज अर्थात् गरमी से उत्पन्न होने वाले हैं ऐसा जो शास्त्रज्ञ लोग कहते हैं सो वह स्वेदज होमारूप गुण वा धर्म उन जीवों में अण्डज वा जरायुज होने आदि के तुल्य है ऐसा जानना चाहिये। जैसे अण्डज वा जरायुज कोई प्राणी चेतनता युक्त स्त्री पुरुष के संयोग हुए बिना केवल अण्डा वा जरायुमात्र से उत्पन्न नहीं होता किन्तु जिस के भीतर वीर्य और स्त्री के आर्तव रुधिर के संयोग से गर्भ शरीराकार बनता है वह सूक्ष्म पतले चर्म के तुल्य जरायु कहाता है उस जरायु अर्थात् जरायु के फट जाने से प्रसिद्ध अवयवों वाला सन्तान दृष्टि के सामने आता है तथा अण्डाकार के बीच उन्हीं रज वीर्य के संयोग से गर्भ हो कर पूर्ण अङ्गों वाला हुआ, अण्डे के छी जाने से उत्पन्न हुआ जन्तु अण्डज कहाता है (प्रायः जरायुज मनुष्यादि का जरायु बाहर निकलने से पहिले फट जाता है तब बाहर निकले वच्चे के हाथ पग आदि अङ्ग स्पष्ट दीख पड़ते हैं। कभी २ कोई वालक जरायु में लपटे हुए ही उत्पन्न हो जाते हैं उन के हाथ पग आदि अङ्ग बाहर निकल आने पर भी स्पष्ट पृथक् २ नहीं दीखते वैसे ही गोलाकार जान पड़ते हैं और जब तक चक्कू आदि से (उक्षय्या) नहीं फाड़ी जाती जब तक वे वच्चे रोते भी नहीं ऐसी दशा में रात्रि के समय कभी २ स्त्रियों को भ्रम हो जाता है कि यह क्या उत्पन्न हुआ ?। जब अण्डज प्राणियों का मैथुन संयोग होता है तब गर्भाशय में रजवीर्य के संयोग से अण्डा बनता वह कुछ दिन गर्भाशय में रह कर वच्चों के समान बाहर निकलता है। अण्डा वाले प्राणी पक्षिणी आदि उन की बाहर भी रक्षा रखते पीछे जब अण्डा पक जाता है तब उस में से सर्वाङ्ग पूर्ण वच्चा निकलता है) किन्तु स्त्री पुरुष के संयोग हुए बिना उत्पन्न हुए प्राणी अण्डज वा जरायुज नहीं कहाते। इसी प्रकार यहां भी स्वेदज प्राणी उष्ण विशेष के कारण से शीघ्र प्रकट हो जाते हैं। उष्ण—गरमी की अधिकता ही स्त्री पुरुषरूप दो शक्तियों के संयुक्त होने में भी कारण है। दोनों प्रकार की शक्तिवाले सूक्ष्म देहधारी जन्तुओं

का संयोग हुए पीछे गर्मी की अधिकता से अतिशीघ्र वृद्धि को प्राप्त हुए प्राणी दीखते हैं इस लिये वे स्वेदज वा उष्णज कहाते हैं (उष्णता की अधिकता से प्राणियों के शरीरों की बहुत शीघ्र वृद्धि होती है सो यह पदार्थ विद्या से भी प्रसिद्ध है । जब आम्र के बीज में अधिक गर्मी किसी प्रकार पहुंचाते हैं तभी थोड़ी गीली मट्टी और जल में गोठली धर के तत्काल वृक्ष की उत्पत्ति और पत्ते भी लग जाते और वृक्ष सूख जाता है । तथा उष्णता जिन प्राणियों में अधिक है वहां स्त्रियों में कामासक्ति के चिन्ह स्तन आदि शीघ्र निकलते उन की युवावस्था भी शीघ्र आ जाती है और शीत प्रदेशों में इस की अपेक्षा पीछे आती है इसी प्रकार उष्ण की अधिकता से सुद्र जन्तुओं के शरीर शीघ्र दृष्टिगोचर होते हैं इस लिये उन को स्वेदज वा उष्णज कहते हैं) तथा सूक्ष्म शरीरधारी स्थूल नहीं हो जाते किन्तु सूक्ष्मों से स्थूल उत्पन्न होते हैं यदि कोई कहे कि जैसे प्राणियों के शरीर से कोई उत्पन्न होता है वह वैसा ही सूक्ष्म वा स्थूल होता वा बड़ा छोटा होता है किन्तु मच्छर के शरीर से उस से बड़े २ प्राणी नहीं उत्पन्न होते न शृगाल से हाथी हों । इस का उत्तर यह है कि जैसे स्थूलप्राणियों के मैथुन संयोग होने से रज वीर्य इकट्ठे हो कर गर्भ में प्राणी उत्पन्न होते हैं वैसे सूक्ष्म प्राणियों के मैथुन संयोग से वीर्यादिक कहीं नहीं निकलता किन्तु जो स्वेदज प्राणियों के शरीरों का सूक्ष्म उपादानकारण है उसमें स्त्री और पुरुष की दोनों शक्ति रहती हैं और वह शक्ति चेतनता शक्ति से युक्त होती है उसी शक्ति के संयोग से और उष्णता के बढ़ने से उन स्वेदज प्राणियों की उत्पत्ति होती है । परन्तु वह उपादानकारणरूप दो प्रकार की शक्ति चेतनता युक्त होने से चेतन कहाती है इसी कारण केवल जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं मानी जाती और उस चेतन शक्ति को सूक्ष्म जीव भी कह सकते हैं इसी से कार्य कारण की अनुकूलता वा एकरूपता बनती है । अब इस कथन से सिद्ध हो गया कि स्वेदज और उद्भिज्ज जीव भी मैथुनी सृष्टि के अन्तर्गत हैं ॥

अथोत्पत्तिक्रमं वक्ष्यामः ।

किमादौ जड़मुत्पद्यते चेतनं वा चेतनेषु च मनुष्याः पशुपक्षि-
कीटपतङ्गादयो वा, के प्रथममुत्पद्यन्ते ? । तथा तत्त्वेष्वाकाशस्यो-
त्पत्तिः कथं सम्भवति । इत्याद्याः शतशो विप्रतिपत्तयः सृष्टिप्रक्रि-

यायां सन्ति तासां प्रतीकाराय समासत इदमुच्यते—आदौ जड़-
मुत्पद्यते नतु चेतनाः । जडेषु पृथिव्यादिभूतसर्गानन्तरमोषध्यादयो
मनुष्यभक्ष्याः पदार्थास्तदनन्तरं मनुष्यादिजङ्गमानामुत्पत्तिरिति
सर्वसम्मतः क्रमोऽनुसन्धेयः । एवं मत्वैव—तस्माद्वाएतस्मादात्मन
आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः
पृथिवी पृथिव्याओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्देतः । रेतसः
पुरुषः । इति तैत्तिरीयोपनिषदि । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृ-
तिः प्रकृतेर्महान्महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रि-
यमित्यादिसंख्ये । इत्यादिप्रमाणैः स्पष्टं प्रतीयते—आकाशादिक्रमे-
णजड़तत्त्वान्यादावुत्पद्यन्ते । असत्सु चाधारभूतेषु तत्त्वेषूत्पद्यमानाः
प्राणिनः किमाधारास्तिष्ठेयुः किंचभुक्त्वा जीवेयुरिति । प्राणिनिकायानां
च कारणानि पृथिव्यादीनि तत्त्वानि तेषामुत्पत्तिमन्तरेण नैव प्रा-
णिशरीराण्युत्पद्यन्ते नहि कारणेन विना कार्यमुत्पद्यतेऽतः सर्ववस्तूनां
कारणभूतानि द्रव्याणि पूर्वमुत्पद्यन्ते पश्चात्कार्यरूपाणि । सूक्ष्मा-
न्तिमकारणापेक्षयातन्मात्रादिसूक्ष्मभूतानां यद्यपि कार्यत्वमेवास्ति
तथापि स्थूलभूतापेक्षया तेषां कारणत्वमेवास्ति । यद्यपि कार्यरूपोऽ-
ग्निर्वायोः कार्यम् । तथापि तस्य जलोत्पत्त्यपेक्षया कारणत्वमेवास्ति ।
एवं कार्यकारणव्यवस्थासापेक्षाऽस्ति ।

सर्गारम्भे पूर्वं प्रकाशउत्पद्यते तदा च तुरीयावस्थारूपान्नि-
र्वीजसमाधितः सृष्टिं कर्तुमुद्युक्तरूपेण परमात्मा बुध्यते तस्य बोधन
मेव प्रकाशस्योत्पत्तिः । नैव तं कोऽपि बोधयत्यपि तु स स्वयमेव
बुध्यतेऽतएव तस्य स्वयम्भूरिति नाम जायते । तदेव षष्ठश्लोके
प्रादुरासीत्तमोनुद इत्यादिनोक्तम् । द्वितीयावस्थायामाकाशउत्पद्यते

यश्च सर्ववस्त्वाधारे यत्र सूर्यादिज्योतींषि नियमेन तपन्ति भ्रमन्ति
 भ्राजन्ते च । तस्य चावकाशदातृत्वस्वरूपत्वान्नित्यत्वं वक्तुमुचितं
 पुनः किमर्थमुत्पत्तिः प्रदर्श्यते । अत्रोच्यते—नहि घटादिवदाकाश
 उत्पद्यते । यदि कथंचित्तैजसवस्तूनामभावात्सर्वथाऽन्धकारः स्यात्
 कोऽपि क्वापि गन्तुमपि न शक्नुयात् । तर्हि सत्यप्यवकाशे कार्य-
 सिद्धेरहेतुत्वेन तस्याभावइव वक्तुं शक्यते प्रकाशे च सति कार्य-
 हेतुत्वादुत्पद्यतइति व्यवह्रियते । इत्थमेवाकाशशब्दः काश्टृदीप्ता-
 वित्यस्माद्धातोर्योगिकः परमात्मनो नामास्ति । योगरूढदशायां
 शब्दगुणकतत्त्वस्य च । तथा सति समन्तात्काशतइत्याकाशः सर्व-
 विधप्रकाशस्याधारः । एतेन सूर्यादिज्योतिषां प्रकाशेन विरहस्य प्रल-
 यदशायां तमःस्वरूपस्याकाशइति संज्ञा न वक्तुं शक्यतेऽतएवा-
 काशो नास्तीति व्यवहारः कर्तुं शक्यते । सर्गारम्भे च । पुनर्व्यवह्रिय-
 ते । इयमपि तस्योत्पत्तिः । तथाऽनन्तश्चावकाशोऽस्ति यत्र सृष्टिर्नास्ति
 तत्रापि शून्यमेवास्ति तत्र यावति शून्ये ब्रह्माण्डं निर्मितं तस्या-
 काशसंज्ञा सर्गारम्भे धृता ब्रह्माण्डस्थमेव शून्यं प्रकाशयुक्तं भवति
 सूर्यादिज्योतिषां तत्रैव सत्वात् । अतस्तस्याकाशत्वं नान्यशून्यस्ये-
 त्ययमप्याकाशोत्पत्तिकथनस्याशयः । इत्थमाकाश उत्पद्यते न तु
 घटादिवत् । आकाशस्य शब्दो गुणस्तत्र च शब्दस्योत्पत्तौ वायु-
 रपि सहयोगि कारणम् । तथाप्याकाशस्तस्य मूलं कारणम् । संयो-
 गविभागजश्च शब्दः संयोगविभागौ चावकाशे सत्येव भवितुमर्हत-
 इत्याकाशस्य प्रधानकरणत्वम् । तच्च शब्दगुणकत्वं प्रलयदशायां
 न सम्भवतीति मत्वा सर्गारम्भे शब्दाश्रयत्वादाकाशोत्पत्तिस्तस्य
 प्रादुर्भावो मन्तव्यो भवति ॥

आकाशाद्वायुरुत्पद्यते स च गतिमान् गतिश्च सर्वस्य वस्तुनः
 सत्येवावकाशे भवितुमर्हति । वायुरितस्ततो गमनेन शरीरं स्पृशति
 तृणादिकमितस्ततश्चालयति तेनानुमीयते वायुरस्ति यद्याकाशो न
 स्यात्तर्हि चलनमपि वायोर्न भवेत् । तच्छून्यरूपं तु सदैवास्ति किन्तु
 तैजसप्रकाशयुक्त आकाशः प्रलये नास्ति तस्मादेव तदानीं वायोर-
 प्यभावः । तैजसकारणप्रकाशप्रसाररूपाकाशाद्वायोरुत्पत्तिः । स च
 शब्दगुणकाकाशादुत्पन्नो वायुः स्वयं स्पर्शगुणो जायते । कारणगु-
 णश्च तस्मिन्नायात्यतएव शब्दस्य स्पर्शगुणहयवान् वायुः कारणरू-
 पसूक्ष्माकाशात्स्थूल उत्पद्यते । आकाशस्य भावे वायोर्भावस्तदभा-
 वे चाभावइति वाय्वाकाशयोः कार्यकारणभावः कतिविधे कार्यका-
 रणयोः सारूप्येऽत्रास्तित्वसामान्यम् । एवं वायोरपि शब्दो गुण-
 इति कारणसम्बन्धेन वक्तुं शक्यते । अतएव शब्दोत्पत्तावुक्तमाका-
 शवायुप्रभवइति । तथा वायोरग्निरुत्पद्यते । अत्र सर्वत्र प्रभवापा-
 दानवत्कारकत्वमनुसन्धायाकाशवाय्वादिशब्देषु पञ्चमी । यथा
 हिमवतो गङ्गा प्रभवतीतिवदत्रापि सम्भूत इति पदं प्रभवकारण-
 त्वं बोधयति तेन वायोराकाशोऽग्नेर्वा वायुर्घटस्य मृद्दुपादानं नास्ति ।
 साक्षादुपादाने च बाहुल्येन कार्यकारणयोः सारूप्यमपेक्षितं भवति ।
 इत्थं नात्र वायुनाग्नेः सारूप्यमपेक्षितं भवति । किन्तु सति वाया-
 वग्निरुत्पद्यतइति वायोः कारणत्वम् । यथा सति वायौ प्रदीपोऽ-
 ग्निश्च प्रज्वलति नासति । अतएव वायोर्गमनागमनं यत्र घटादेर्निरू-
 ष्यते तत्र दीपादिकं न प्रज्वलति । यथा प्रज्वलितं दीपं घटेऽवस्थाप्य
 तन्मुखे प्रच्छन्ने तत्क्षणएव प्रदीपो निर्विद्यते । एवं सति स्थूल-
 वायोर्गमनआगमने चाग्निः प्रज्वलति नान्यथेति । तेनाग्नेः कारणं

वायुरिति कथनं सम्भवति । कुत्रचिदग्निरपि वायोः कारणम् । तत्र सूक्ष्मविद्युदादिकारणरूपोऽग्निर्वायोः कारणम् । स्थूलस्याग्नेः स्थूलो वायुः कारणमिति ॥

अग्नेरापउत्पद्यन्तेऽतएव ग्रीष्मतापानन्तरं वर्षाकालः । ग्रीष्मस्य सम्यक् तपनमेव वर्षायाः कारणम् । अन्यत्राप्युष्णोत्तेजनपूर्वकं वर्षकर्मास्ति तेनाप्यग्निर्जलोत्पत्तेः कारणमायाति । असति च लोके तेजसि जलस्य द्रवीभावाभावोऽपि सम्भवएव । यदा केन चिद्यन्त्रेण जले व्याप्तोऽग्निराकृष्यते तर्हि जलाकारस्य काठिन्याज्जलाभावः स्यात् । यस्याभावे यदभावस्तत्तस्य कारणमित्यपि न्यायतः सिद्धमेव यथा तैलाभावे प्रदीपज्वलनाभावः । अद्भ्यः पृथिवी प्रादुर्भूयते । अतएव सति वर्षादिद्वारा पृथिवीं जले प्राप्ते सर्वाणि पार्थिववस्तूनि तिष्ठन्ति । जलाभावे संयुक्तपार्थिववस्तूनामवयववियोगेन विनाशः स्यात् । एतेन पृथिव्याः कारणं जलमिति सिध्यति । यत्र यत्र जलस्य प्रवृत्तिस्तत्र तत्र पृथिव्याः सम्यक्त्वम् । पृथिवीसकाशात्फलपाकान्ता ओषधयस्ताभ्यस्तत्फलरूपमन्नमन्नादक्षितात्तत्सारभूतरसादिधातुविपरिणामेन वीर्यमुत्पद्यते तच्च वीर्यं प्राणिशरीरस्योपादानकारणम् । एवमोषधिभ्योऽन्नउत्पन्ने प्राणिशरीराणामुत्पत्तिः । सत्स्वप्यन्नादिषु भक्षकप्राणिशरीरैर्विना रसादिधातवो नोत्पद्यन्ते । अतोऽन्नोषधिसृष्टेरनन्तरं सर्वशक्तिमता परमात्मना सूक्ष्मतादृशकारणात्प्राणिदेहा उत्पदितास्तैर्भक्षितान्नेन पुनः सति वीर्यादौ मैथुनी सृष्टिः प्रवृत्ता । स्थूलस्त्रीपुरुषसंयोगमन्तरेणाद्भुतशिल्पविशिष्टप्राणिशरीराणामुत्पत्तिः कर्तन्ति परमात्मनः सर्वज्ञत्वम् । तथापि सर्गारम्भे भेदद्वयमादौ बुद्धौ कल्पितम् । पुनश्च स्त्रीपुरुषशक्तिद्वयविशिष्टपरमाणु

संयोन सर्वमुत्पादितमिति स्त्रीपुरुषाभ्यामेव सर्वमुत्पद्यतइत्युक्तं
भवति । यद्वा पुरुषः परमात्मा सृष्टेर्निमित्तम् । प्रकृतिरूपादानं स्त्री
तयोः सम्बन्धेनोत्पन्ना मैथुनी सृष्टिः । सृष्टौ क्रमस्तूक्तोऽन्यदपि यथा-
सम्भवमुक्तम् । इदानीं विरम्यतेऽनल्पजल्पनेन ॥

भाषार्थः—अब संक्षेप से उत्पत्ति का क्रम लिखा जाता है । इस में संदेह
यह है कि पहिले जड़ की उत्पत्ति होती वा चेतन की और चेतनों में पशु पक्षी
कीट पतङ्गादि वा मनुष्य इन में कौन पहिले उत्पन्न होते हैं ? । तथा पांच
तत्त्वों में आकाश की उत्पत्ति कैसे सम्भव होती है इत्यादि सैकड़ों विरोध सृष्टि
प्रक्रिया में हैं उन को हटाने के लिये यहां संक्षेप से लिखते हैं । पहिले जड़
वस्तु उत्पन्न होते हैं किन्तु चेतन नहीं । जड़ों में पृथिव्यादि भूतों की रचना
के पश्चात् मनुष्यादि के भक्ष्य ओषधि आदि पदार्थ और उस के पश्चात् मनुष्यादि
चरप्राणियों की उत्पत्ति होती है परन्तु शरीर धारियों में छोटे कीट पतङ्गादि
तिस पीछे पशु पक्षी आदि प्राणी उत्पन्न होते और सब से पीछे मनुष्य उत्पन्न
होते हैं क्योंकि मनुष्य से नीचे योनि के सब प्राणी मनुष्य के उपकारार्थ हैं इस
लिये सुख के वा दुःख के साधन पहिले बनाये जाते हैं । तथा कीट पतङ्ग
आदि सूक्ष्म जन्तु हैं स्थूल से पहिले प्रायः सूक्ष्म की उत्पत्ति न्यायानुकूल माननी
चाहिये । क्योंकि कारण सदा सूक्ष्म और कार्य स्थूल होता है । यही क्रम
प्रायः सब शिष्ट लोगों के सम्मत है । ऐसा मान कर के ही तैत्तिरीय उपनिषद्
में यह लिखा है कि “उस परमेश्वर से आकाश, आकाश से वायु, वायु से
अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधि से अन्न, अन्न
से वीर्य और वीर्य से मनुष्यादि के शरीर उत्पन्न होते हैं” तथा सांख्य में लिखा
है कि “सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति कहाती उस से
द्वितीय कक्षा में महत्तत्त्व उत्पन्न होता जिस को कोई लोग हिरण्यगर्भ कहते
उसी को कोई विधि विधाता वा ब्रह्मा कहते हैं कि कार्यरूप संसार की वृद्धि
होने का यह पहिला परिणाम है और ब्रह्मा शब्द का अर्थ भी यही है कि
जिस से वृद्धि हो । तृतीय कक्षा में अहङ्कार उत्पन्न होता है अहङ्कार से पांच
सूक्ष्म भूत और उन से इन्द्रिय इत्यादि प्रकार लिखा है” इन प्रमाणों से स्पष्ट
निश्चय होता है कि आकाशादि क्रम से जड़तत्त्व पहिले उत्पन्न होते हैं । यदि

आधारस्वरूप आकाशादि तत्त्व पहिले न हों तो उत्पन्न हुए प्राणी किस के आश्रय से ठहरें और चेतन शरीरों के कारण भी पृथिव्यादि तत्त्व हैं उन कारण-रूप तत्त्वों की उत्पत्ति हुए बिना प्राणियों के शरीर उत्पन्न नहीं हो सकते क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता इस लिये सब वस्तुओं के कारणभूत द्रव्य पहिले उत्पन्न होते और पीछे कार्यवस्तु होते हैं । सूक्ष्म प्रकृतिरूप अन्तिम कारण की अपेक्षा यद्यपि तन्मात्रादि सूक्ष्मभूत भी कार्य ही हैं तो भी स्थूल भूतों की अपेक्षा से वे कारण ही समझे जाते हैं । यद्यपि कार्यरूप अग्नि, वायु का कार्य है तो भी जल की उत्पत्ति की अपेक्षा से अग्नि भी कारण है । इस प्रकार कार्य कारण व्यवस्था सापेक्ष है अर्थात् जो कारण है वह किसी की अपेक्षा से कार्य और ऐसे ही कार्य कारण हो जाता है । सृष्टि के आरम्भ में सब से पहिले प्रकाश उत्पन्न होता है तब चौथी अवस्थारूप निर्वाज सनाधि से सचेत हुआ सृष्टि करने का उद्यतरूप से परमात्मा जागता है इस प्रकार उस परमेश्वर का जागना ही प्रकाशकी उत्पत्ति है । उस को कोई अन्य जगाता नहीं किन्तु वह स्वयमेव सचेत होता है इसी लिये वह स्वयम्भू कहाता है यही बात मनुस्मृति के छठे श्लोक में (प्रादुरा०) इत्यादि प्रकार कही है । उस परमेश्वर से द्वितीयावस्था में आकाश उत्पन्न होता है जो सब वस्तुओं का आधार जिस में सूर्यादि ज्योति नियम पूर्वक तपते भ्रमते और शोभित होते हैं । उसके अवकाश देने स्वरूप होने से नित्य होना कह सकते हैं फिर उस की उत्पत्ति क्यों दिखायी जाती है ? । इस का उत्तर संक्षेप से यह है कि घड़ा आदि के तुल्य आकाश उत्पन्न नहीं होता यदि कभी किसी प्रकार तैजस वस्तुओं का सर्वथा अभाव होने से अन्धकार हो जावे । कोई कहीं जा भी न सके तो अवकाश के रहने पर भी कार्यसिद्धि का हेतु न होने से उस का अभाव जैसे कह सकते हैं । और प्रकाश रहने पर कार्यसिद्धि का हेतु होने से आकाश उत्पन्न होता ऐसा व्यवहार किया जाता है । इसी प्रकार आकाश शब्द काश धातु से यौगिक पक्ष में परमात्मा का नाम है और योगरूढ़ दशा में शब्दगुण वाले आकाश तत्त्व का नाम है । अच्छे प्रकार प्रकाशित होता इस लिये सर्वविध प्रकाश के आधार का नाम आकाश है इसी से सूर्यादि ज्योतियों के प्रकाश से रहित प्रलय दशा में अन्धकार रूप शून्य की आकाश संज्ञा नहीं कह सकते इसी से आकाश नहीं है ऐसा व्यवहार कर सकते हैं । और सृष्टि के आरम्भ में फिर व्यवहार होता है कि आकाश हो गया ।

यह भी उस आकाश की उत्पत्ति है । तथा अवकाश अनन्त है । जहां सृष्टि नहीं है वहां भी शून्यरूप पोल है उस में से जितने अवकाश में ब्रह्माण्ड रचा गया सृष्टि के आरम्भ में उस की आकाश संज्ञा धरी गयी क्योंकि सूर्यादि ज्योतियों के वहां रहने से ब्रह्माण्डस्थ ही शून्य प्रकाशयुक्त होता उसी में वायु आदि साधनों के विद्यमान रहने से शब्द की भी उत्पत्ति हो सकती है इस लिये वही आकाश है अन्य शून्य आकाश नहीं यह भी आकाश की उत्पत्ति दिखाने का आशय है इस प्रकार आकाश की उत्पत्ति होती है पर घटादि के तुल्य नहीं । आकाश का शब्द गुण है उस शब्द की उत्पत्ति में वायु भी सहयोगी कारण है वायु के बिना केवल आकाश से शब्द का अवर्ण नहीं हो सकता । पर तो भी शब्द का मूल कारण आकाश है । तथा संयोग विभाग से शब्द की उत्पत्ति होती (अर्थात् तात्त्वादि स्थानों के संयोग से वा भेरी दण्डादि के संयोग से शब्द की उत्पत्ति होती है वे संयोग विभाग बिना अवकाश के हो नहीं सकते) इस से भी शब्द का मूल कारण आकाश होता है तथा उस आकाश का शब्द गुण सहित होना प्रलयदश में नहीं घटता ऐसा मान कर है सृष्टि के आरम्भ में शब्द का आश्रय बनने से आकाश की उत्पत्ति अर्थात् प्रादुर्भाव मानने पड़ता है ॥

पीछे आकाश से वायु उत्पन्न होता है और वह वायु गतिवाला होता है । सब वस्तु की गति अवकाश होने पर ही हो सकती है । वायु इधर उधर चलने से शरीर में लगता और तृणादि को इधर उधर चलाता है इस से अनुमान होता है कि वायु है । यदि आकाश न हो तो वायु का भी चलना न हो सके । वह शून्यरूप पोल तो सदा ही है किन्तु तैजस प्रकाश से युक्त आकाश प्रलयावस्था में नहीं रहता इसी कारण उस समय वायु का भी अभाव है । तैजस कारणरूप प्रकाश के फैलनेरूप आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है वह शब्दगुणवाले आकाश से उत्पन्न हुआ वायु स्वयं स्पर्श गुणवाला होता है और उस में कारण का गुण भी आता है इसी लिये शब्द और स्पर्श दो गुणों वाला वायु अपने कारणरूप सूक्ष्म आकाश से स्थूल उत्पन्न होता है । आकाश के होने पर वायु का होना और उस के न होने पर वायु का न होना आकाश का कार्यकारण सम्बन्ध है । कार्यकारणों की एकता कई प्रकार से मानी जाती है । उन में यहां अस्तित्व सामान्य वा कारण की सत्ता में कार्य का होना अर्थात् जिस की विद्यमानता में जो रहे और जिस के न रहने पर जो न रहे

वह उस का कारण कहाता है। इस प्रकार यहां दोनो कार्यकारण की एकरूपता है। इसी प्रकार वायु का भी शब्द गुण है यह वायु के कारण आकाश के सम्बन्ध से कह सकते हैं। इसी लिये शब्द की उत्पत्ति में कहा है कि—आकाश और वायु दोनों से शब्द उत्पन्न होता है ॥

तथा वायु से अग्नि उत्पन्न होता है। यहां सब स्थलों में प्रभव उपादान के तुल्य कारकपन मान वा विचार के आकाश वायु आदि शब्दों में पञ्चमी विभक्ति की गयी है। जैसे कहा जाता है कि “हिमालय से गङ्गा निकलती वा प्रकट होती है” इसी प्रकार यहां भी निकलना वा प्रकट होना अर्थ है। और (सम्भूतः) यह पद उत्पत्ति के कारण को जताता है। इस से वायु का आकाश अथवा अग्नि का वायु घड़ा का मट्टी के समान उपादानकारण नहीं अर्थात् जैसे मट्टी स्वयं घड़ा रूप बन जाती है वैसे आकाश वायुरूप और वायु अग्निरूप नहीं बन जाता। घड़ा का उपादानकारण मट्टी है पर वायु का उपादान आकाश और अग्नि का उपादान वायु नहीं है। और जहां घड़ा के उपादान मट्टी के तुल्य साक्षात् कार्य का उपादानकारण होता है वहां विशेष कर कार्यकारण की एकरूपता अपेक्षित होती है। इसी प्रकार यहां साक्षात् उपादानकारण न होने से वायु के साथ अग्नि का सारूप्य अपेक्षित नहीं होता किन्तु वायु की विद्यमानता में अग्नि की उत्पत्ति होती है इस लिये अग्नि का कारण वायु माना जाता है। जैसे वायु के होने पर दीपक और अग्नि जलते हैं न होने पर नहीं। इसी से जहां वायु का आना जाना रोक दिया जाता है वहां दीपादि नहीं जल सकता। जैसे जलते हुए दीपक को एक घड़े में धर के घड़ा का मुख बन्द कर दिया जावे जिस से उस में किञ्चित् भी वायु न पहुंचे तो उसी क्षण भर में दीपक बुत जायगा। ऐसा होने पर स्थूल वायु के आने जाने से अग्नि जलता है अन्यथा नहीं। इस से अग्नि का कारण वायु है यह कथन सम्भव है। तथा कहीं अग्नि भी वायु का कारण होता है। उस में भेद यह है कि सूक्ष्म बिजुली आदि कारणरूप अग्नि वायु का कारण है। और यही कारण अग्नि सब से पहिले उत्पन्न होता इसी के सम्बन्ध से शून्य का आकाश नाम पड़ता है इसी की व्याप्ति से वायु चलता है इस लिये इसी को वायु का कारण मानते हैं पर स्थूल अग्नि का स्थूल वायु ही कारण है यह पूर्व से सिद्ध हो चुका ॥

अग्नि के पश्चात् जल उत्पन्न होता इसी कारण ग्रीष्म ऋतु तपने पश्चात् वर्षा ऋतु होता अर्थात् ग्रीष्म ऋतु का अच्छे प्रकार तपना ही वर्षा का कारण

है । तथा अन्य समय में भी जब २ वर्षा होती है तब २ उष्णता की उत्तेजना पूर्वक ही होती है इससे भी जलों की उत्पत्ति का कारण अग्नि आता है। यदि जगत् में अग्नि न हो तो जल में वहनारूप द्रवगुण रहना भी असम्भव है । तथा किसी यन्त्र से जल में व्याप्त अग्नि निकाल लिया जावे तो जलाकार की कठिनता हो जाने से जल का ठहरना ही सम्भव नहीं (जल में से अग्नि का भाग निकाल लेने पर ही बरफ बन जाता है वही अग्नि वायु के सम्बन्ध से फिर जलरूप हो कर वहने लगता है) और जिसके अभाव में जिस का अभाव होता है वह उसका कारण हो यह भी न्याय से सिद्ध ही है जैसे तैल के न रहने पर दीपक नहीं जलता । तथा जल से पृथिवी उत्पन्न होती है इसी कारण जब वर्षादि द्वारा पृथिवी को जल प्राप्त होता है तभी पृथिवी सम्बन्धी सब वस्तु ठहरते हैं । जल न रहे तो संयोग से बने पृथिवी सम्बन्धी सब वस्तुओं के अवयवों का वियोग हो कर विनाश हो जावे इस से पृथिवी का कारण जल सिद्ध होता है । जहां २ जल की प्रवृत्ति है वहां २ पृथिवी की ठीक दशा है । पृथिवी के सम्बन्ध से फल पकते समय स्वरूप से सूखने वा नष्ट होने वाली ओषधियां उन ओषधियों से उन का फलरूप अन्न तथा खाये हुए अन्न से साररूप रसादि धातु उत्पन्न होते और उन धातुओं का परस्पर विपरिणाम होते २ वीर्य धातु उत्पन्न होता है वह वीर्य प्राणियों के शरीरों का उपादानकारण है । इस प्रकार ओषधियों से अन्न उत्पन्न होने पर प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति होती है । अन्नादि भोग्य वस्तुओं के होने पर भी भोक्ताओं के विना रसादि धातु न होने से प्राणियों के शरीर नहीं उत्पन्न होते । इस लिये अन्न और ओषधि की रचना के अनन्तर सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने वैसे ही सृत्सकारण से प्राणियों के शरीर उत्पन्न किये । उन्होंने ने खाये अन्न से फिर वीर्यादि धातु हो कर मैथुनी सृष्टि हुई । स्थूल स्त्री पुरुषों के संयोग के विना अद्भुत शिल्पयुक्त प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति की है इस से उस परमेश्वर का सर्वज्ञ होना सिद्ध है । सृष्टि के आरम्भ में प्रथम बुद्धि में दो भेद कल्पना किये उन का नाम स्त्री पुरुष रक्खा गया पीछे स्त्री पुरुषरूप दो शक्तियों से युक्त परमाणुओं के संयोग से सब को उत्पन्न किया इस प्रकार स्त्री पुरुषों के संयोग से सब उत्पन्न होता है यह आशय निकलता है । अथवा पुरुष नाम परमात्मा सृष्टि का निमित्त और प्रकृति उपादानरूप स्त्री उन दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई सृष्टि भी मैथुनी कहाती है ।

सृष्टि प्रक्रिया में उत्पत्ति का क्रम तथा अन्य भी यथासम्भव कहा अब इस विषय में अधिक लिखना समाप्त करते हैं। आगे प्रथमाध्याय की समीक्षा लिखी जायगी ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य प्रक्षिप्तसमीक्षणम् ॥

येषां येषां पद्यानां मया प्रक्षिप्तत्वं ज्ञाप्यतेऽग्रे वक्ष्यतेऽस्मिन्नध्याये द्वितीयादिषु वा तत्र सर्वत्र स्वानुमतेः प्रकाशनमेव प्रयोजनं नतु तत्र किमप्याग्रहेण वक्तुमुचितमस्ति । यदि तत्र कश्चिद्दिद्वान् समुदायो वा विप्रतिपन्नः स्यात्तर्हि तेन सुहृद्वावपुरस्सरं वक्तव्यमिदमित्थं कार्यमिति । यदि सत्यमन्यथाभूतं द्रक्ष्यामस्तर्हि भृशं तथाभूतमविप्रतिपन्नं करिष्यामः ।

यत्र यत्रेदं पश्चात् प्रक्षिप्तमिति वक्ष्यामस्तत्र तत्र प्राधान्येनेमानि कारणानि बोध्यानि । यद्वाक्यं कथमपि वेदाशयाद्देसिद्धान्तादन्यब्राह्मणोपनिषन्न्यायमीमांसाद्यनेकग्रन्थेभ्यो वा विरुद्धं तत्प्रक्षिप्तम् । नहि वेदानुयायिशुद्धाप्ततपोनिष्ठबहुदृष्टबहुश्रुतविदितवेदितव्याधिगतयाथातथ्यानामुपीणां कथनं कथमपि वेदाद्विरुद्धं भवितुमर्हति ।

यच्चासंवद्धप्रलापवदस्थाने धृतं प्रकरणविरुद्धं दूरतो दृश्यते । नहि विद्वांस एव प्रकरणविरुद्धं कथनं क्वापि कुर्वन्ति । तृतीयं पुनरुक्तानि पद्यानि—यथा प्रथमाध्याये यदुक्तं तदेव पुनरपि तृतीये चतुर्थे वा तादृशैः पदैस्तत्पर्यायवाचकैस्तदाशयकैर्वा पुनरुक्तं प्रक्षिप्तमेव बोध्यम् ।

यच्च परस्परं विरुध्यते पूर्वं यदुक्तं ततो विरुद्धमग्रे कथनं तत्र च द्वयोरेकस्यैव याथार्थ्यं सम्भवति मतभेदवर्जम् । यत्र कुत्रापि

मतान्तरं प्रदर्शितं तत्र तु द्वितीयस्य विरुद्धसम्मतिज्ञापनायैव ग्रन्थनिर्मात्रा द्विविधानि वचांस्युक्तानि नैव तत्र विरोधोऽस्ति येन प्रक्षिप्तं स्यात् । इत्यादीनि कारणानि प्रक्षिप्तज्ञापनाय प्रभवन्ति ।

प्रथमाध्याये सृष्टिप्रक्रियायाः सामान्येन वर्णनम् । तदनन्तरं च सर्वग्रन्थस्य विषयाणां सूचीपत्रं श्लोकैरेवोक्तम् । तत्र जगतः समुत्पत्तिविषयानन्तरं संस्कारविधिर्गर्भाधानादिसंस्कारा द्वितीयाध्याय उक्ताः । तयोर्मध्ये सद्युगादीनां व्यवस्था पापपुण्ययोरुपयोगो ब्राह्मणवर्णस्य विशिष्टा प्रशंसेत्यादि कथनमप्रासङ्गिकम् । सूचीपत्राद् बाह्यं चातो प्रक्षिप्तमित्यनुमीयते । इदानीं वर्तमानपुस्तकेषु प्रथमाध्याय एकोनविंशतिशतं पद्यानि मुद्रितान्युपलभ्यन्ते । पाठान्तररूपाणि पद्यानि चातो भिन्नानि तानि च केषुकेषुचित्पुस्तकेषूपलभ्यन्ते तेनानुमीयते सद्यः प्रक्षिप्तानि । यानि च बहुकालात्प्रक्षिप्तानि तानि-सर्वपुस्तकेषूपलभ्यन्ते । आदौ त्रयोदशश्लोकास्तु निर्विघ्नाः । द्वात्रिंशः श्लोकश्चतुर्दशो विपरिणाम्यइति प्रतिभाति । द्विधाकृत्वेति श्लोकस्य मेधातिथ्यादिसर्वभाष्यकारैर्योऽर्थः कृतः स वेदादिशास्त्रादिपरीतस्तुच्छश्चेति स्पष्टमवगम्यते । वेदादिशास्त्रेषु सर्वत्रैवैकस्मादेव परमात्मनः सर्वा सृष्टिरुत्पन्नेत्युक्तम् । यस्मात्पुरुषाउत्पन्नास्तस्मादेव सर्वाः स्त्रियश्च नहि स्त्रीपुरुषभेदद्वयनिर्माणाय कस्य चिद्देहधारिणो मनुष्यस्य खण्डद्वयं कर्तुं युक्तम् । सत्यपि कथंचित्खण्डद्वयेन स्त्रीपुरुषभेदे सिद्धे तथापि पशुपक्ष्यादिषु स्त्रीभेदः कथं स्यात् । किं तत्रापि कस्यचित्पश्वादेः खण्डद्वयेन भेदः कार्यः ? । पश्यत—देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये । उच्छिष्टाज्जिरे सर्वे । इत्यथर्ववेदे ११ । ७ । २७ । स्पष्टमत्राप्सरशब्दवाच्यानां स्त्रीणामुच्छिष्टादुत्पत्तिरुक्ता ।

नह्यत्र कस्यचित्पुरुषविशेषस्य खण्डाभ्यामुत्पत्तिरस्ति । एवं वेदेषु शतशः प्रमाणानि प्राप्स्यन्ति यैः साक्षात्परमात्मत एव भोग्य-भोक्तरूपस्त्रीपुरुषद्वयस्यापि नितरामुत्पत्तिः सेत्स्यति । पुरुषस्य खण्डेनोत्पत्तिर्वेदेषु क्वापि नास्ति । तथाऽसम्भवश्चायमर्थो यदेक-पुरुषशरीरस्य खण्डद्वयकरणेन स्त्रीपुरुषौ स्याताम् । किं शिरस्त आयतं खण्डद्वयं कृतं नाभितो वा । यद्यायतौ तर्ह्येकाक्ष एककर्ण एकबाहुरेकजङ्घश्च पुरुषः स्यात् स्त्री च । मध्यतश्चेदधोभागाकृति-मानेकः स्यात् । तत्तु न दृश्यते । इत्यादिकारणैरुपहासयोग्योऽय-मर्थस्तस्मादग्राह्यः । सत्यार्थस्त्वयम्—आत्मनः स्वस्य सम्बन्धिनं कथंचिद्विकृतिमापन्नं तन्मात्रविषयाकारेणोपचितं कार्यकारणयोर्म-ध्यावस्थं सर्वस्य वस्तुनः पूर्वरूपं द्विधा द्विप्रकारकं कृत्वाऽर्द्धेन पुरुषो वीर्यसेचनसमर्थः पुमानुत्कृष्टशक्तिः काठिन्यविशिष्टः पुंस्त्वमापन्न-श्चराचरएको भेदः । द्वितीयाद्धेन गर्भधारणशक्तिमती निकृष्टा कोमलस्वभावा स्त्रीत्वमापन्ना चराचरे द्वितीयो भेदः । अयमर्थो वेदानुकूलः सम्भवितो गाम्भीर्यमापन्नश्चास्ति । एवमर्थे क्रियमाणे तत्पदं स्थानभृष्टमित्यनुमीयते । यतः सर्वस्य वस्तुनो विशेषसर्गात्पू-र्वमेवैतादृशपद्येन भाव्यम् । पश्चाद्ब्राह्मणस्य सर्गकथने ब्राह्मण्या अपि सर्जनमायास्यति । एतच्च प्रश्नोपनिषदि रयिप्राणव्दाभ्यां चन्द्रसूर्यशब्दाभ्यां वा स्पष्टं प्रदर्शितम् । इत्थं सत्येव तेनापि सर्व-मानुकूल्यं भविष्यति । युक्ततरं चैवमेवास्ति । यद्विशेषरचनातः पूर्वमेव स्त्रीपुरुषरूपभोग्यभोक्तरूपयोः सर्वस्मिन् वस्तुमात्रस्य कारण एव भेदकल्पना कार्या । इत्थमेव च प्रश्नोपनिषदि वर्णितम् । एवमत्र सर्वेषां भाष्यकाराणां भ्रम इत्यनुमीयते । अस्मिन् गूढे

गम्भीरे शास्त्रार्थे राघवानन्दभाष्यकारस्य कथंचित्स्वल्पा बुद्धिः प्रविष्टा नतु पूर्णतया । सृष्टिप्रक्रियायां त्रयोदशपद्याग्रे धृतपद्यमिदं स्थानभृष्टं न भविष्यतीति मदीया मतिः ।

(द्विधाक०) द्वात्रिंशत्पद्यस्य पश्चात्पठितानि नवपद्यानि प्रक्षिप्तानि प्रतिभान्ति तानि च “तपस्तप्त्वा०” इत्यारभ्य सृष्टं स्थावर-जङ्गममित्यन्तम् । एकस्मिन् प्रदेशे बहवो राजान इव बहवः स्रष्टारो न सम्भवन्ति । वेदेषु देवास्यसृष्टिरपि साक्षात्परमात्मतएव दर्शिता न तु बहुभ्यो मनुभ्यः । विशेषस्तत्र वक्ष्यते । अग्रे एकाशीति-पद्यादारभ्य षट्श्लोका दानमेकं कलौ युगइत्यन्ताः प्रक्षिप्ताः । नहि सृष्टिप्रकरणे युगविशेषेषु धर्मस्य न्यूनाधिकव्यवस्थापनं प्रकरणवद्धं सम्भवति । अतः प्रकरणविरुद्धमित्येको हेतुः । नहि कस्मिंश्चित्सम-यविशेषे सर्वथा धर्मोऽधर्मएव वा भवितुमर्हति तयोः सापेक्षसिद्धत्वात् प्रकाशान्धकारवत् । यदि च प्रकाशो न स्यात्कस्यान्धकारता भवेत् । यथा शीताभावे उष्णस्योष्णाभावे च शीतस्य स्थितिरसम्भवा । एवंकृतयुगेऽप्यधर्मस्य स्थितिरवश्यं मन्तव्या । वेदेऽपि पश्येम शरदः शतम् । शतायुर्वै पुरुषइत्यादीनि प्रमाणानि सन्ति न च तानि कलियुगार्थमेवेति वक्तुं शक्यते । सामान्यतया सर्वयुगार्थमिति सत्यमेव । अतो वेदविरुद्धत्वादपि हेतोः प्रक्षिप्तमेतत् ।

अग्रे सप्ताशीतिपद्यमारभ्यैकनवतिपद्यावधि पञ्चश्लोकानां दशमाध्यायस्थैर्ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थाइत्यादिपद्यैः कथंचित्पौनरुक्त्यं प्रतिभाति तत्तु समाधेयमेव । अत्र प्रथमाध्याये ब्राह्मणादिकर्मणां विभागः स्वस्वकर्मणि सर्गे नियोजनमेव प्रयोजनम् । अस्य च सृष्टिप्रक्रियया साकं सम्बन्धइति कृत्वा प्रथमाध्याये वर्णनम् ।

ब्राह्मणादिभिरापदि कथं जीविका कार्येति दर्शनाय दशमे कर्मणा-
मनुवादेन वर्णनम् । एवं नास्ति पौनरुक्त्यम् ।

अग्रे चतुर्णवतिपञ्चनवतिश्लोकौ क्षिप्तौ । एकत्रिंशच्छ्लोकेन
त्रिणवतिश्लोकेन साकं वा पुनरुक्तत्वात् । सर्वस्यास्य च गुप्तयइत्यपि
सप्ताशीतिपद्येन सार्द्धं पुनरुक्तम् । तथा नह्यन्यमुखेनान्यो भोक्तुमर्ह-
ति । नहि देवा विप्रमुखेन हव्यान्यश्नन्त्यपितु वह्निमुखेन ।
अनौहुतं द्रव्यं प्रकारान्तरेण प्रदेशान्तरं गच्छतीति न्यायतः सिद्धम् ।
नहि ब्राह्मणेन भुक्तं कथमपि मेघमण्डलं गच्छतीति वक्तुं क्यशते ।
अतो ब्राह्मणैर्भोजनभट्टैः परपाकोपासकैर्निर्मितमिदं पद्यमित्यनु-
मीयते ।

तथाऽष्टनवतिपद्यमारभ्यैकशतं यावत्प्रक्षिप्तानि । एक देशीयत्वं
तु तेषां पद्यानां स्फुटमेव । अत्र ह्यनुचिता पुनरुक्ताऽसम्बद्धा पक्ष-
पातग्रस्ता स्वार्थग्रस्ता च ब्राह्मणवर्णस्य प्रशंसास्ति तेन चत्वारीमा-
न्यपि क्षिप्तानीति प्रतिभाति । विशेषस्तत्रैव वक्ष्यते ।

द्व्युत्तरशतपद्यादारभ्य सप्तोत्तरशतं यावदपि पद्यानि निष्प्र-
योजनानि स्वल्पप्रयोजनानि वा कथंचिदसंबद्धानि पक्षपातग्रस्तानि
वेदादिशास्त्रादिरुद्धानि—आत्मश्लाघादोषग्रस्तानि—अतिप्रशंसापराणि
च सन्ति तस्मात्तुच्छत्वेन पश्चात्कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैः क्षिप्तानीत्य-
नुमीयते ।

अग्रे सप्तोत्तरशतादारभ्य दशोत्तरशतावधि पद्यचतुष्टयं चतु-
र्थाध्यायस्थ (१५५।१५६) पद्याभ्यां सार्द्धं पुनरुक्तं प्रतिभाति ।
तथापि चतुर्थाध्यायस्थपद्ययोरुपरि भाष्यकाराणामादिर्मेधातिथि-
र्नोपलभ्यते तेनानुमीयते मेधातिथेर्भाष्यकरणावसरे तावेव श्लोकौ

चतुर्थे नास्तामिति । अनेन प्रथमाध्यायस्थमाचारप्रतिपादकं पद्य-
चतुष्टयं प्रक्षिप्तं नास्तीत्यनुमीयते । एकादशोत्तरशतपद्यादारभ्य
सर्वस्य ग्रन्थस्य सूचीपत्रं, तत्र नास्ति काचिद्विप्रतिपत्तिः । एवम-
स्मिन्प्रथमाध्याये एकोनविंशतिशतं श्लोका उपलभ्यन्ते तेषूक्त-
प्रकारेण मदनमत्या यदि षड्विंशतिः पद्यानि प्रक्षिप्तानि स्युस्तदा
त्रिणवतिः पद्यान्यवशिष्टानि शुद्धान्यार्वाणि मन्तव्यानि ॥

भाषार्थः—अब प्रथमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा वा विचार
किया जाता है । मैं इस अध्याय वा दूसरे आदि अध्यायों में जिन २ श्लोकों को
प्रक्षिप्त कहूँ वा जताऊँ गा वहाँ सर्वत्र अपनी अनुमति का प्रकाश करना ही
प्रयोजन है । किन्तु वहाँ कुछ आग्रह पूर्वक कहना उचित नहीं । यदि उसमें
किसी विद्वान् वा समुदाय को विरोध जान पड़े तो उसके मित्रता पूर्वक कहना
चाहिये कि इसको इस प्रकार करना योग्य है । यदि सत्य से विपरीत हो गया
दीख वा जान पड़ेगा । तो शीघ्र वैसा अविरुद्ध सुधार दिया जायगा ।

जहाँ २ यह पीछे मिलाया गया वा यह प्रक्षिप्त है ऐसा कहेंगे वहाँ २ मुख्य
कर निम्न लिखित कारण जानने चाहिये । जो वाक्य किसी प्रकार वेद के
आशय वा वेद के सिद्धान्त से तथा अन्य ब्राह्मण उपनिषद् न्याय और भीमांसादि
अनेक ग्रन्थों से विरुद्ध हो वह प्रक्षिप्त है अर्थात् किसी विद्वान् ऋषि महर्षि
का बनाया नहीं है । क्योंकि वेदानुयायी, शुद्ध, आप्त, तपस्वी, बहुदृष्ट, बहु-
श्रुत, जिन्होंने जानने योग्य को जान लिया और यथार्थ सत्य को प्राप्त कर
लिया ऐसे ऋषियों का कथन कदापि वेद से विरुद्ध नहीं हो सकता । तथा जो
असम्बद्ध प्रलाप के तुल्य अयोग्य स्थान में प्रयुक्त, प्रकरण से विरुद्ध दूर से दीखता
है । क्योंकि विद्वान् लोग प्रकरणविरुद्ध कथन कहीं नहीं करते । इस से प्रक-
रणविरुद्ध प्रक्षिप्त है । तीसरे पुनरुक्त श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं जैसे प्रथमाध्याय
में जो कहा वही तीसरे चौथे में वैसे ही वा उसके पर्यायवाचक वा उस प्रकार
के आशय वाले पदों से फिरर कहा जावे वह पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त समझा जाता
है । तथा जो परस्पर विरुद्ध हो कि पूर्व जो कहा उससे विरुद्ध आगे कहा जावे।
उन दोनों में एक ही ठीक वा सत्य ठहर सकता है । परन्तु सम्मति भेद को
छोड़ कर अर्थात् जहाँ कहीं सम्मति भेद दिखाया गया वहाँ तो दूसरे की विरुद्ध

सम्मत जताने के लिये ही ग्रन्थ कर्ता ने दो प्रकार के वचन कहे हैं किन्तु वहाँ विरोध नहीं है जिस कारण प्रक्षिप्त है। इत्यादि कारण प्रक्षिप्त जताने के लिये होते हैं जिन का यहाँ उदाहरण मात्र दिखाया है।

प्रथमाध्याय में सृष्टि प्रक्रिया का सामान्य कर वर्णन है। उस के पश्चात् सब ग्रन्थ भर के विषयों का सूचीपत्र श्लोकों से ही कहा है। वहाँ जगत् की उत्पत्ति विषय के पश्चात् गर्भाधानादि संस्कार द्वितीयाध्याय में कहे हैं। इन उक्त दोनों विषय के बीच ही सत् युगादि की व्यवस्था, पाप पुण्य का न्यूनाधिक उपयोग, ब्राह्मणादि वर्णों के कर्म और ब्राह्मण वर्ण की विशेष प्रशंसा इत्यादि कथन प्रकरण विरुद्ध है और सूचीपत्र में लिखे विषयों से बाह्य वा एकक् है इस से प्रक्षिप्त है ऐसा अनुमान होता है। इस समय वर्तमान पुस्तकों में ११९ एक सौ उन्नीश श्लोक छपे हुए मिलते हैं। और पाठान्तर रूप श्लोक इन से भिन्न हैं। और वे किन्हीं २ पुस्तकों में मिलते हैं इस से ही उनका नाम पाठान्तर रखा गया। तिससे अनुमान होता है कि वे पाठान्तर रूप श्लोक वा वाक्य शीघ्र थोड़े काल से मिलाये गये हैं और जो बहुत काल से मिलाये गये वे सब पुस्तकों में मिल जाने से सर्वत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् जो वस्तु किसी में मिलाया जाता वह काल पाकर उसके सर्वांश से सम्बद्ध हो जाता है।

इस प्रथमाध्याय के प्रारम्भ में १३ श्लोक तो निर्विघ्न हैं। अर्थात् बत्तीशवें श्लोक के तरह के आगे चौदहवां रखना चाहिये ऐसा विचार ठीक जान पड़ता है। इस श्लोक पर मेधातिथि आदि सब भाष्यकारों ने जो अर्थ किया है वह वेदादि शास्त्रों से विपरीत और तुच्छ है। यह स्पष्ट जान पड़ता है [यह बात मेरे कहने मात्र से नहीं किन्तु जो कोई उस अर्थ को सुने गा वही ऊट पटांग कहेगा कि ब्रह्मा ने अपने शरीर को बीच से चीर के दो टुकड़े किये उनमें एक से पुरुष और दूसरे से स्त्री हुई। भला किसी पुरुष के शरीर को बीच से चीर देने से स्त्री पुरुष दो हो जायें यह सम्भव है ?। यदि ऐसा हो सकता हो तो जो पुरुष स्त्रियों के बिना दुःखी हैं जिनकी स्त्री नहीं मिलती वे अपने शरीर को चीर डालें तो उसी शरीर से स्त्री भी निकल आवे। विचार कर देखिये तो चीरने से वह पुरुष भी मर जावेगा। दो होना तो पृथक् रहा वहाँ एक भी रहना असम्भव है] वेदादि शास्त्रों में सर्वत्र ही एक परमेश्वर से सब सृष्टि उत्पन्न होती ऐसा लिखा है। जिस से पुरुष हुए उससे स्त्रियां भी उत्पन्न हुईं

किन्तु स्त्री पुरुष रूप दो भेद बनाने के लिये किसी देहधारी मनुष्य के दो खण्ड नहीं करना चाहिये । कदाचित् पुरुष के दो खण्ड होने से स्त्री पुरुष का भेद सिद्ध हो जावे (यद्यपि यह असम्भव है तो भी अभ्युपगम सिद्धान्त से मान लो कि यह ऐसा हो) तो भी पशु पक्षी आदि में स्त्री भेद कैसे होगा ? । क्या वहां भी किसी पशु आदि के दो खण्ड कर स्त्री पुरुष भेद मानना चाहिये ? । देखा ! अथर्व वेद में लिखा है कि “देव-विद्वान् पुरुष कर्म प्रधान, पितर—दीर्घ दर्शी बहुश्रुत, साधारण मनुष्य तथा गान विद्या में प्रवीण पुरुष और स्त्री ये सब उसी नित्य निराकार परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं” यहां स्पष्ट अप्सरस् शब्द वाच्य स्त्रियों की उत्पत्ति परमेश्वर से हुई लिखी है किन्तु यहां किसी पुरुष विशेष के दो टुकड़ों से उत्पत्ति नहीं है । इस प्रकार वेदों में सैकड़ों प्रमाण प्राप्त होंगे जिन के द्वारा साक्षात् परमात्मा से ही भोग्यभोक्ता रूप स्त्री पुरुष दोनों की निरन्तर उत्पत्ति सिद्ध हो जायगी । अर्थात् पुरुष के टुकड़ों से वेदों में कहीं स्त्री पुरुष के भेद की उत्पत्ति नहीं है । तथा यह अर्थ असम्भव भी है जो एक पुरुषशरीर के दो खण्ड करने से स्त्री पुरुष हो जावे । क्या शिर की ओर से लम्बाई में दो खण्ड किये वा चौड़ाई में ? । यदि लम्बा २ बीच से शरीर चीर दिया तो एक आंसू एक कान एक बांह और एक गोड़े वाला पुरुष वा स्त्री होने चाहिये ! यदि बीच नाभि वा कटिभाग से दो टुकड़े किये गये हों तो नीचे वा ऊपर के ही अवयवों वाला एक होता सो तो दीखता नहीं इत्यादि कारणों से उपहासयोग्य होने से यह अर्थ अग्राह्य है । और सत्य अर्थ यह है—किसी प्रकार विकारी हुए तन्मात्र और विषयरूप से वृद्धि के प्राप्त सब स्थूल वस्तुओं का पूर्णरूप कार्यकारण के मध्य में अवस्थित प्रकृति के कार्यरूप अपने देह को परमेश्वर ने दो भाग कर के आधे से पुरुष और आधे से स्त्री को बनाया और स्त्री में इस सब ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया अर्थात् जड़ चेतन प्रत्येक पदार्थ में स्त्री पुरुषरूप दो प्रकार का भेद किया । पुरुष में वीर्य छोड़ने की शक्ति तथा कठिनता दृढ़ और प्रबलशक्ति रक्षायी गयी तथा स्त्री में गर्भ धारणशक्ति कोमलता और निर्बलता रक्षायी गयी । इसी लिये स्त्री को अबला भी कहते हैं । यह अर्थ सम्भव वेदानुकूल और गम्भीरता युक्त भी है । ऐसा अर्थ होने पर वह श्लोक स्थान भृष्ट अर्थात् जहां रखना चाहिये वहां नहीं है । क्योंकि सब वस्तु की विशेष रचना से पूर्व ही ऐसा श्लोक होना चाहिये पीछे ब्राह्मणादि चेतन

वा जड़ की सृष्टि कहने में ब्राह्मणी आदि उस २ की सम्बन्धिनी स्त्री की रचना भी आ जायगी । यह बात प्रश्नोपनिषद् में रयि प्राण और चन्द्र सूर्य शब्दों से स्पष्ट दिखायी है । यहां भी ऐसा मानने पर ही उस के अनुकूल होगा । और ठीक भी ऐसा ही है जो विशेष रचना से पूर्व ही स्त्री पुरुषरूप भोग्यभोक्तृशक्तियों की वस्तु मात्र के सब कारण में ही भेद कल्पना करनी चाहिये ऐसा ही प्रश्नोपनिषद् में भी कहा है ।

इस प्रकार यहां सब भाष्यकारों का भ्रम ही प्रतीत होता है । इस गूढ़ और गम्भीर शास्त्र के अर्थ में राघवानन्द भाष्यकार की कुछ थोड़ी बुद्धि चली है । इस सब कथन से सिद्ध हुआ कि सृष्टिप्रक्रिया में १३ तेरहवें श्लोक के आगे इस वत्तीशर्वे (द्विधाक०) श्लोक को रक्खा जावे तो अनुचित नहीं जान पड़ेगा किन्तु ठीक सङ्गत जान पड़ेगा यह मेरी सम्मति है । (द्विधाकृत्वा०) इस वत्तीशर्वे श्लोक से पश्चात् पढ़े नौ श्लोक ३३—४१ तक अर्थात् “तपस्तप्त्वा० यहां से लेकर नौ श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं । जैसे एक देश में बहुत राजा नहीं हो सकते वैसे सृष्टिकर्त्ता भी अनेक नहीं हो सकते अर्थात् इन नव श्लोकों में कई सृष्टिकर्त्ता दिखाये हैं सो ठीक नहीं वेदों में भी साक्षात्परमात्मा से ही देवादि रचना दिखायी गयी है किन्तु अनेक मनुष्यों से नहीं इस में विशेष विचार वहां ही लिखा जायगा जहां वे पद्य पढ़े हैं ॥

आगे इक्याशी श्लोक से ले कर “दानमेकं कलौ०” इस श्लोक पर्यन्त छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं । क्योंकि सृष्टि प्रकरण में सत् युगादि में होने वाले धर्म की न्यूनाधिक व्यवस्था करना प्रकरणानुकूल नहीं हो सकती । इस से एक तो प्रकरण विरुद्ध है । द्वितीय किसी समय विशेष में सर्वथा धर्म वा अधर्म ही नहीं ठहर सकता क्योंकि वे दोनों प्रकाश और अन्धकार के तुल्य सापेक्ष हैं । यदि प्रकाश कोई वस्तु न हो तो किस को अन्धकार कहें । जैसे शीत के अभाव से उष्ण का और उष्ण के अभाव में शीत का कोई वस्तु ठहरना असम्भव है । इसी प्रकार सत्य युग में भी अधर्म की स्थिति अवश्य माननी चाहिये तथा तीसरे वेदों में भी “सौ वर्ष देहोः सौ वर्ष आयु वाला पुरुष होता है” इत्यादि प्रमाण हैं वे सब कलियुग के लिये ही हैं यह नहीं हो सकता । ऐसा हो तो अन्य युगों के आयु की भी वेद में व्यवस्था होनी चाहिये । और यह कलियुग के लिये आयु है ऐसा नहीं लिखा इस में सामान्य कर सब युगों के लिये है यही सत्य

जानी। इस कारण वेद से विरुद्ध होने से भी उक्त श्लोक प्रक्षिप्त हैं यह मेरा विचार है ॥

आगे सताशी श्लोक से लेकर एकानवे पर्यन्त पांच श्लोकों में दशमाध्याय के "ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थाः" इत्यादि श्लोकों के साथ किसी प्रकार पुनरुक्ति प्रतीत होती है परन्तु वह समाधान करने योग्य है। क्योंकि यहां प्रथमाध्याय में ब्राह्मणादि के कर्मों का विभाग है अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में अपने २ कर्म में सब वर्णों को युक्त करना ही प्रयोजन है। इस ब्राह्मणादि के कर्मविभाग का सृष्टि प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध है ऐसा मानकर प्रथमाध्याय में वर्णन है। तथा ब्राह्मणादि वर्णों को आपत्काल में कैसे जीविका करनी चाहिये यह आशय दिखाने के लिये कर्मों का अनुवाद करके दश में अध्याय में वर्णन है। इस प्रकार पुनरुक्ति दोष नहीं जान पड़ता ॥

आगे चौरानवे पंचानवे दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं क्योंकि इन दोनों की इक-त्तीश और तिरानवे श्लोक के साथ पुनरुक्ति भी आती है और चौरानवे का यह (सर्वस्यास्य च गुप्तये) अंश भी ८७ श्लोक के साथ पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है। तथा ब्राह्मण के मुख से देवता और पितृ लोग हव्य कव्य खाते हैं यह भी ठीक नहीं क्योंकि अन्य के मुख से अन्य नहीं खा सकता। होमने योग्य पदार्थ जो सूर्यादि देवों को प्राप्त होते हैं वे ब्राह्मण के मुख द्वारा नहीं किन्तु अग्नि मुख से प्राप्त होते हैं। अर्थात् अग्नि में होमा गया द्रव्य प्रकारान्तर से प्रदेशान्तर को प्राप्त होता है यह न्याय से सिद्ध है। ब्राह्मण ने भोजन किया किसी प्रकार से मेघमण्डल में जाता ही यह नहीं कह सकते। इस लिये अनुमान से जान पड़ता है कि अन्य के भोजन की प्रतिक्षण तुष्णा रखने वाले भोजनभट्ट उदरम्भर नाममात्र ब्राह्मणों ने ही ऐसे श्लोक बनाकर जिलाये हैं। केवल तिरानवे श्लोक में यथोचित प्रशंसा ब्राह्मण की कीयी गई है ॥

तथा अठानवे से लेकर एक सौ एक पर्यन्त प्रक्षिप्त हैं। उन श्लोकों का एक देशी होना तो प्रसिद्ध ही है। इन श्लोकों में अलुचित पुनरुक्त असम्बद्ध पक्ष-पात वा स्वार्थपरक ब्राह्मण वर्ण की प्रशंसा है जिस से ये भी चार श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं इन पर विशेष विचार भाव्य में हीया। तथा एक सौ दो श्लोक से लेकर एक सौ छः श्लोक पर्यन्त निष्प्रयोजन वा अल्पप्रयोजन परक श्लोक हैं। तथा किसी प्रकार असम्बद्ध, पक्षपात युक्त और वेद से विरुद्ध तथा

आत्मश्लाघा दोष वा अत्यन्त प्रशंसारूप दोष से युक्त हैं इस कारण तुच्छ होने से पीछे किन्हीं स्वार्थियों ने मिलाये ऐसा अनुमान होता है ।

आगे एक सौ सात से लेकर एक सौ दश पर्यन्त चार श्लोक चतुर्थाध्याय के १५५ । १५६ । श्लोकों के साथ पुनरुक्त जान पड़ते हैं । तो भी चतुर्थाध्याय के उक्त दो श्लोकों पर सब से पहिले भाष्यकर्त्ता मेधातिथि का भाष्य नहीं मिलता तिस से अनुमान होता है कि मेधातिथि के भाष्य करने समय में वे दोनों श्लोक चतुर्थाध्याय में नहीं थे यदि भाष्य किया होता तो क्यों नहीं मिलता । इस से प्रथमाध्यायस्य आचारप्रतिपादक चारो श्लोक प्रक्षिप्त नहीं ऐसा जान पड़ता है । आगे एकसौ ग्यारह श्लोक से लेकर सब ग्रन्थ का सूचीपत्र कहा गया है उस में कुछ विरोध नहीं है । इन दोनों प्रकार के मिला कर एक सौ उन्नीश श्लोक इस प्रथमाध्याय में मिलते हैं । उन में उक्त प्रकार मेरी सम्मति से प्रक्षिप्त समझे गये यदि २६ छद्मीश श्लोक प्रक्षिप्त ठहरें तो शेष तिरानवे श्लोक शुद्ध ऋषिकृत मानने चाहिये ॥

अथ द्वितीयाध्यायसमीक्षणम् ॥

द्वितीयाध्यायादारभ्य षष्ठाध्यायपर्यन्तं गर्भाधानादिवेदोक्त-
वेदमूलकषोडशसंस्काराणां वर्णनम् । संस्काराणां षोडशत्वे व्यास-
स्मृताविदमुक्तम्—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।

नामक्रिया निष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया ।

कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।

केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः ।

त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः ॥

अत्र षोडशसंस्काराः परिगणितास्तेषु केशान्तसंस्कारस्यैकदेशी-
यत्वमनुमीयते । दशकर्मपद्धतिकृताऽपि केशान्तः संस्कारो नाङ्गी-
कृतः । तत्रभवता दयादिस्वामिनापि केशान्तः संस्कारो न स्वीकृतः ।

यदि व्याससंहितायामपि केशान्तशब्दाग्रे विसर्गं प्रामादिकं मत्वा केशान्तशब्दः स्नानस्य—समावर्तनस्य विशेषणं तदा संस्काराणां षोडशत्वं दुर्लभं पञ्चदशत्वमेव स्यात्तच्चानिष्टम् । मनुस्मृतौ तु केशान्तः संस्कारोऽभिमतोऽस्ति—केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयतेइत्यादिना—तेन दयादिस्वामिना तु संन्यासान्तेष्टिसंस्कारौ हावधिकावूरीकृतौ तेन तदीयगणने संस्काराणां सप्तदशत्वमापद्यते । तत्र कस्यचित्कुत्राप्यन्तर्भावं कृत्वाऽन्यप्रकारेण वा समाधेयं भविष्यति । अर्थात्संस्काराणां षोडशत्वं सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धम् । नास्ति तत्र काचिद्विप्रतिपत्तिः । यद्यपि दशकर्मपद्धतिकृद्भिः पण्डितैर्दशैव कर्माण्युक्तानि तथापि नैव तैः षोडशत्वं कथमपि खण्डितमपि तूपनयनवेदारम्भस्नानानां त्रिसंस्काराणामेकत्वमेवोक्तम् । तेन हादशत्वमायाति । समयानुकूलं वानप्रस्थाश्रमादिधारणस्य प्रवृत्तिर्नास्ति । इति मत्वा दशकर्मपद्धतौ नैव धृतानीति तत्र न्यूनत्वमेव । यस्य शुभकर्मणः प्रवृत्तिर्नो स्यात्तस्य तु विशेषतया कार्य्या । एवं संस्काराः षोडशैव मन्तव्याइति राद्धान्तः ॥

व्याससंहितायां पठितेन त्रेताग्निसंग्रहशब्देन वानप्रस्थसंस्कारस्य ग्रहणमायास्यति तत्र च संन्यासस्याप्यन्तर्भावः स्यादिति सम्भवति । इत्थं चान्त्येष्टिरित्येकएव संस्कारो व्याससंहितातोऽवशिष्टो यस्तत्रभवद्भिर्दयादिस्वामिभिः स्वीकृतस्तस्य च संस्कारत्वे—निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिरिति मानवं वचनमेव मानम् । तेनान्त्येष्टेः संस्कारत्वं नामूलम् ॥

एषु षोडशसंस्कारेषु केचित्प्रधाना अपरेऽप्रधानाः । प्रधानानां विशेषतया वर्णनमस्ति । अप्रधानानां च संक्षेपेण वर्णनम् ।

इत्थमस्या मनुस्मृतेर्द्वितीयाध्याये दशपद्येषु गर्भाधानादिचूडान्तसं-
स्काराणां वर्णनम् । चतुर्दशोत्तरशतद्वयपद्येषु केवलयज्ञोपवीतवेदार-
म्भसंस्कारयोर्वर्णनम् । अतः संस्कारेष्वनयोरेव सर्वेभ्यः प्राधान्यम् ।
अत्रैव द्विजत्वं संपद्यते । प्राणिमात्रस्य जगति यावन्तीष्टसिद्धिप्रयो-
जनानि तेषु सुखस्याभीप्सा दुःखस्य जिहासा च मुख्ये प्रयोजने ।
अनयोश्च सिद्धौ प्रधानतमं कारणं विद्याभ्यासेनान्तःकरणस्य संस्क-
रणम् । स च विद्याभ्यासो ब्रह्मचर्याश्रमनियमानुष्ठानपुरस्सरं गुरु-
शुश्रूषापूर्वकं चाविच्छेदेन यावदाश्रमपरिसमाप्तिक्रियमाणः सफलो
भवति । स च संसारपरमार्थयोः सुखभाजनं भवति । इत्थं सर्वा-
श्रमाणां सुखमूलकत्वाद् ब्रह्मचर्यस्य प्राधान्यम् । तदारम्भसूचक-
त्वाच्च संस्कारयोः । संस्कारो द्विविधः शारीरिक आत्मिकश्च तत्र
स्वस्वापेक्षया द्वयोरपि कुत्रकुत्रचित्प्राधान्यं तथाप्यात्मिकसंस्कारस्य
सर्वोत्तमसुखहेतुत्वात्सर्वोपरि प्राधान्यम् । इत्थं सर्वोपरि प्राधान्य-
मभ्युपगम्य द्वितीयाध्याये ससाधनयोर्यज्ञोपवीतवेदारम्भसंस्कार-
योर्मुख्यतया वर्णनमस्ति । अस्मिन् धर्मशास्त्रे ब्रह्मचर्याश्रमस्य यथार्थं
वर्णनं तनु यथावत्तरं भविष्यति । इतो नास्त्यस्मिन् विषये किमपि
वक्तव्यम् ॥

भावार्थः—अब द्वितीयाध्याय की समीक्षा की जाती है । द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ से लेकर पचाव्याय पर्यन्त गर्भाधानादि वेदीकृत तथा वेदमूलक षोडश संस्कारों का वर्णन है । संस्कार सोलह ही हैं न्यूनाधिक नहीं इस पर व्यास-
स्मृति में यह लिखा है कि—“गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नाम-
करण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, मुण्डन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, केशान्त,
धनावर्धन, विवाह, विवाहाग्नि का ग्रहण—चतुर्थी कर्म या इसी को गृहाश्रम-
संस्कार भी कह सकते हैं । और अग्निमह तथैव इसी का नाम वानप्रस्थ

संस्कार भी कह सकते हैं।" ये सोलह संस्कार शास्त्रकारों ने माने हैं। इन में से केशान्त संस्कार अनुमान से एकदेशी प्रतीत होता है और दशकर्मपद्धति बनाने वाले ने भी केशान्त संस्कार नहीं माना। तथा श्री स्वामिदयानन्दसरस्वती जी ने भी अपनी संस्कारविधि में केशान्त संस्कार नहीं लिया। डाढ़ी मूँछ वा बगलों के बनाने का आरम्भ जिस पहिले दिन हो उसको केशान्त संस्कार कहते हैं। यदि व्यासस्मृति के "केशान्तः स्नानम्" पदों में विसर्ग को अशुद्ध मानें और यह अर्थ मानें कि जिस में सब केश मुड़ा दिये जावें ऐसा स्नान-समावर्त्तन, तो संस्कार सोलह नहीं हो सकते किन्तु १५ ही रहते हैं तथा मनु-स्मृति में केशान्त संस्कार माना है कि ब्राह्मण का सोलह वर्ष पर केशान्त हो। तथा व्याससंहिता की अपेक्षा स्वामी जी ने संन्यास और अन्त्येष्टि दो संस्कार अधिक लिये हैं इस कारण उन की संस्कारविधि में सत्रह संस्कार हो जाते हैं। उन में किसी को किसी के अन्तर्गत कर के वा अन्य किसी प्रकार समाधान करना होगा। अर्थात् संस्कार सोलह ही हैं यह तो सर्वतन्त्र सिद्धान्त से सिद्ध है इस में किसी का परस्पर विरोध नहीं है। यद्यपि दशकर्मपद्धति पुस्तक बनाने वाले पण्डितों ने दश ही कर्म कहे हैं तो भी उन्होंने ने संस्कारों की सोलह संख्या का खण्डन नहीं किया किन्तु उपनयन, वेदारम्भ और समावर्त्तनरूप तीन संस्कारों को लौकिक चाल के अनुसार एक ही कर्म माना है इस कारण दश कहने से वारह तो आजाते हैं। समय के बिगड़ जाने से वानप्रस्थ और संन्यासधारण तथा अन्त्येष्टिकर्म की प्रवृत्ति नहीं रही ऐसा मान कर दशकर्मपद्धति में उक्त तीनों संस्कार नहीं रखे। इस लिये उस में यही न्यूनता है। क्योंकि जिस शुभकर्म की प्रवृत्ति न रही हो वा न्यून हो गयी हो उस की विशेष प्रवृत्ति करनी चाहिये इस प्रकार संस्कार सोलह ही मानने चाहिये यह सिद्धान्त है ॥

व्यास संहिता में पढ़े त्रेताग्नि सङ्ग्रह शब्द से वानप्रस्थ संस्कार का ग्रहण हो जायगा। और उस में संन्यास आश्रम भी आ सकसा है क्योंकि घर से निकल कर विरक्त होना दोनों में तुल्य है। इस प्रकार अन्त्येष्टि नामक एक संस्कार व्याससंहिता से अधिक वचता है जिस को श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने माना है। उस को संस्कार बुद्धि से जानने में "समाधान से प्रशान पर्यन्त जिस के संस्कार वेद से कहे गये हैं" यह मनुस्मृति का वचन ही प्रमाण है। इस कारण अन्त्येष्टि को संस्कार मानना निर्मूल नहीं है। इन सोलह संस्कारों

में कोई प्रधान और कोई गौण हैं। मुख्य संस्कारों का विशेष कर वर्णन है। और गौणों का संक्षेप से। इस प्रकार इस मनुस्मृति के द्वितीयाध्याय के दश श्लोकों में गर्भाधानादि मुख्यन पर्यन्त संस्कारों का वर्णन है और द्वितीयाध्याय के दो सौ चौदह श्लोकों में केवल यज्ञोपवीत और वेदारम्भ संस्कारों का वर्णन है। इन दो सौ चौदह श्लोकों में से एक पैसठवें श्लोक में केशान्त और ६६। ६७ में स्त्री के संस्कार विषय में सामान्य कथन है। इस कारण संस्कारों में ये ही दोनों सब से मुख्य हैं क्योंकि इन्हीं दोनों संस्कारों के होने से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विज बनते और कहाते हैं। प्राणिमात्र के जगत् में जितने इष्ट सिद्धि के प्रयोजन हैं उन सब में सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग की इच्छा ही मुख्य प्रयोजन है। इन दोनों की सिद्धि में सर्वोपरि प्रधान साधन विद्या के अभ्यास से अन्तःकरण की शुद्धि करना है और वह विद्या का अभ्यास ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का यथावत् सेवन करने पूर्व क और गुरु की सेवा शुश्रूषा पूर्वक आश्रम की समाप्ति पर्यन्त निरन्तर किया हुआ सफल होता है और वह पुरुष (जिस ने पूर्ण विद्याभ्यास कर लिया है) संसार परमार्थ के सुख भोगने का पात्र बनता है। इस प्रकार सुख का मूल होने से सब आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम प्रधान है। और ब्रह्मचर्य आश्रम के आरम्भसूचक होने से संस्कारों (यज्ञोपवीत वेदारम्भ) की प्रधानता है। संस्कार दो प्रकार के हैं। एक शरीर सम्बन्धी और द्वितीय आत्मसम्बन्धी वा अन्तःकरण सम्बन्धी। उन में यद्यपि अपनी २ अपेक्षा से कहीं २ दोनों प्रधान हैं तो भी सर्वोत्तम सुख का हेतु होने से आत्मसम्बन्धी संस्कार सर्वोपरि उत्तम है। कारण यह कि सुख दुःख का आधार अन्तःकरण है और दुःख का मूल कारण अज्ञान है और अन्तःकरण में विद्यारूप छोंक लग जाने से अज्ञान निवृत्त हो जाता है तभी दुःखों से भी मनुष्य बच सकता है। इस प्रकार आत्मिक संस्कार की सर्वोपरि उत्तमता मान कर द्वितीयाध्याय में साधनों सहित यज्ञोपवीत और वेदारम्भ संस्कारों का मुख्यकर वर्णन है। इस मानवधर्मशास्त्र के द्वितीयाध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम का यथार्थ वर्णन है सो आगे आवेगा इस कारण इस विषय में यहां कुछ विशेष कथनीय नहीं ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रक्षिप्तसमीक्षा ॥

अत्र व्यूलरसाहवेनोक्तम्-यद्यपि द्वितीयाध्यायादारभ्य षष्ठाध्यायपर्यन्तं सर्वं कथनं धर्मसूत्रानुकूलमस्ति तथापि मध्ये कुत्रकुत्रचित्

पश्चात्प्रक्षिप्तमित्यनुमीयते तद्यथा—द्वितीयाध्याये प्रारम्भादेकादश पद्यानि पश्चात् कैश्चित्प्रक्षिप्तानि । पञ्चावधि पद्यानि कस्मिन्नपि धर्मशास्त्रे न सन्ति । षष्ठः पुनरुक्तो द्वादशपद्येन तस्यार्थस्योक्तत्वात् । सप्तमे आत्मश्लाघा दोषः । अष्टमनवमयोः फलश्रुतिः । दशमैकादशयोस्तर्कनिषेधदोषः । एवमादिमान्येकादश क्षिप्तानि ।

अस्योत्तरम्—नायं नियमः कर्तुं शक्यते यदेकस्मिन्धर्मशास्त्रेऽस्ति सर्वेषु नास्ति तत्प्रक्षिप्तं स्यात् । नहि सर्वे समानमेव वक्तुमर्हन्ति । अधुनापि पुस्तकनिर्मातारो विद्वांस एकस्मिन्नेव विषये स्वस्वमनुभवमनुसृत्य न्यूनाधिकं लिखन्ति कथयन्ति वा । तत्र नैव कस्यचित्कथनं प्रामादिकं प्रक्षिप्तं वेति वक्तुं शक्यते । यत्प्रकरणविरुद्धं धर्मविरुद्धं पक्षपातग्रस्तं वा तदेव प्रक्षिप्तम् । नह्यन्यस्मादधिकं प्रक्षिप्तं भवति ।

यच्च षष्ठद्वादशयोः पौनरुक्त्यं प्रतिभातीत्युक्तं तदपि न सम्यक्तयोस्तात्पर्यभेदात् । कथंचित्पुनरुक्तौ चानुवादोपपत्तेश्च । षष्ठपद्ये धर्मस्य मूलं प्रदर्शितम् । द्वादशे तु साक्षाद्धर्मस्य स्वरूपम् । षष्ठे तु स्वस्य मनुनो मतं प्रदर्शितम् । द्वादशे तु स्वमतमनूयान्येषां च सम्मतिः स्वमतपोषणायाहुरिति क्रियया प्रदर्शिता । एवं सति नास्ति पुनरुक्तिदोषः । सप्तमं पद्यं कथंचिदात्मश्लाघादोषग्रस्तं प्रतिभाति । तत्रापि भृगुणा मनोः प्रशंसा कृतेति नात्मश्लाघा । तस्य भृगोरयमाशयः—अस्य धर्मशास्त्रस्याध्येतारो मनसि गौरवमाधाय पठन्तु विदन्तु वा न तु सहसा वेदविरुद्धमनुमिन्युः । अष्टमनवमयोः फलश्रुतिरर्थवादो रूयर्था स्तूयमानमर्थमनुष्याः श्रद्धयति । तस्मादर्थवादः सफल एव । दशमैकादशपद्ये तर्कस्य निवर्तके नस्तोऽपि तु तादृशस्तर्को न कार्यो

येन वेदस्य तदनुकूलायाः स्मृतेर्वा खण्डनं स्यात् । यद्वा यादृशं तर्कं बौद्धा आश्रयन्ति सौगता वा तादृशस्तर्को न कार्यः । यस्तर्के-
णानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरइति द्वादशाध्यायस्थपद्येन सूच्यते
धर्मरक्षणाय धर्मप्रतिपादनाय वा तर्कः प्रयोज्यो, न तु धर्मस्य ध-
र्मप्रतिपादकशास्त्रस्य वा खण्डनायेति द्वितीयाध्यायस्थदशमैकादश-
पद्याभ्यां सूच्यते । यथा शस्त्रं दुष्टघातायैव प्रयोज्यं न तु स्वशरीर-
च्छेदायेति । यथा शस्त्रेण सर्वस्योचितानुचितस्य छेदनं भवितुमर्हति ।
यथा वा गम्याम्ययोरुभयोरपि मैथुनं भवितुमर्हति परन्तूचितस्य
छेदनं गम्यायां च मैथुनं कार्यमिति विधीयते शास्त्रेषु । तथैव तर्के-
णोचितस्यैव खण्डनं कार्यम् । रक्षणोचितस्य धर्मस्य धर्मशास्त्रस्य
वा रक्षणमिति तात्पर्यम् ।

त्रयोदशायनेकपद्यानि द्वितीयाध्याये व्यूलरसाहवेनान्यधर्म-
शास्त्रादधिकानीत्युक्तं तस्योत्तरं तु मया दत्तम् । कस्माच्चिदिदमधि-
कमतो दूषितं स्यादिति न सम्भवतीति । अस्मिन्नध्याये व्यूलर-
साहबकथनानुकूलमष्टाशीतिपद्यादारभ्य शतावधि प्रकरणविरुद्धत्वा
त्प्रक्षिप्तानीति प्रतिभाति । एतत्पद्येभ्यः पूर्वं परं च सन्ध्यायाः प्रक-
रणं मध्ये जितेन्द्रियत्वस्य कथनमिन्द्रियाणां परिणामं निरोधोपा-
यश्चेत्येवमादिकं कथनं विरुध्यते । तस्य विषयस्य मानवधर्मसूत्रेषु
वर्णनं नासीदासीच्चेदतिसंक्षेपतः । किन्तु भृगुणा पद्यनिर्माणाव-
सरं विस्तरेण वर्णितइत्यनुमीयते । सन्ध्याकर्मणि च जितेन्द्रिय-
ताया महानुपयोगः । नह्यजितेन्द्रियः पुरुषः सन्ध्याफलभागभवि-
तुमर्हति । तस्मात्तानि त्रयोदशपद्यानि यद्यपि मनुप्रोक्तानि न सन्ति
तथापि तत्र धर्मेण वेदेन वा विरोधः पक्षपातो वा नोपलभ्यते

येन तानि कथं चिदूषितानि स्युः । एवमत्र व्यूलरसाहवेन यदुक्तं तस्योत्तरं बोध्यम् ।

द्विपञ्चाशत्तमं पद्यं चिन्त्यम् । न ह्येतत्सम्भवति—यदायुष्कामः प्राञ्जुखो भुञ्जीत यशःकामो दक्षिणामुखः । श्रीकामः प्रत्यङ्मुखः सत्यकामश्चोदङ्मुख इति । चतस्र एव च यदा काष्ठास्तदा कस्यामपि दिशि मुखं कृत्वैव भोक्तुमर्हति । यद्येतत्सम्भवति तर्हि सर्वे फलचतुष्टयभाजो भवेयुस्तच्च प्रत्यक्षविरुद्धम् । यदि प्रथमयाचिताया भिक्षाया भोजने ब्रह्मचारिण इदं फलमिति चेत्तत्रापि स एव दोषः । पद्यरचनप्रकारोऽपि सम्यङ्नोपलभ्यते । नहि ब्रह्मचारिणोऽन्ये वा मनुष्यास्तादृशाः फलभाज उपलभ्यन्ते विपरीतास्तु बहवो दृश्यन्ते तस्मादनुमीयते प्रक्षिप्तं पद्यमिदम् ।

षट्षष्टितमं पद्यमपि चिन्त्यम् । जातकर्मादयः संस्काराः कन्यानां मन्त्रपाठविहीनाः कार्याः किमर्थमिदम् ? । यदि शरीरस्य संस्कारे मन्त्रपाठोऽपि हेतुस्तर्हि संस्कारार्थं शरीरस्येति कथनं विरुध्यते । यदि कथंचिन्मतं स्यात् स्त्रियः शूद्रवन्निकृष्टा वेदस्य श्रवणाधिकारिण्यो न भवन्ति तर्हि तासां विवाहेऽपि मन्त्रैः संस्कारो न कार्यस्तत्रापि ताः श्रोष्यन्ति । विवाहे तु यदा ताभिर्मन्त्रपाठं कारयितुमाज्ञापयन्ति पुनः श्रवणस्य का कथा । एतेनानुमीयते मन्त्रश्रवणे पाठे वा स्त्रीणां दोषो नास्ति । अनेकेष्वार्षपुस्तकेषूपलभ्यते—स्त्रीणां मन्त्रविहीना जातकर्मादयः संस्काराः कार्या इति तेनानुमीयते पुरातनकालेऽपि केषांचिद्वर्षाणामियमनुमतिरासीदिति । तस्याश्चैकदेशित्वान्न सर्वग्राह्या । अथि तु वैदिकोऽपि सिद्धान्तोऽयं भवितुं नार्हति । यदि वेदपाठस्य श्रवणस्य वा स्त्रीणामधिकारो न

स्यात्तर्हि वेदेऽपि प्रतिषेध उपलभ्येत स तु न दृश्यते । यदि कश्चिद्
 ब्रूयाद् वेदे विधानमपि नोपलभ्यते तर्हि यादृशं विधानं पुरुषार्थ-
 मुपलभ्यते तादृशमेव तदर्थमप्यस्ति । यानि कर्माणि वेदादिशा-
 स्त्रेषु ब्राह्मणादिवर्णानां कर्तव्यत्वेनोपदिष्टानि तानि तत्तत्स्त्रीभ्योऽ-
 पि तथैव बोध्यानि । स्त्री च पुरुषस्यार्द्धाङ्गी तस्माद्यत्र पुरुषस्या-
 धिकारस्तत्रतत्र तत्स्त्रिया अपि । यदा च स्त्रीशरीरादेव निर्मितानां
 बालानामधिकारो भवति तर्हि तदुपादानकारणीभूतानामधिकारो न
 स्यादिति पक्षपातः प्रमादोऽवा किं नास्ति ? । याश्च वेदान् शास्त्राणि वा
 पठितुमशक्तास्तासामधिकारो नास्तीति कश्चिद्देतर्हि तादृशपुरुषा-
 णामप्यधिकारो नास्ति । स्त्रीभ्योऽधिकारादानात्पुरुषा अपि विद्या-
 बुद्धिविहीना हीनसंस्कारा स्त्रीवन्नीचप्रकृतय उत्पद्यन्ते । अयमेवैत-
 देशदुर्दशाया महान् हेतुः । पूर्वं यदा विद्याशिक्षादिप्रापणेन स्त्रीणां
 संस्कारः क्रियते तदा संस्कृतासु तासु बाला अपि संस्कृताः शुभगु-
 णान्विता जायन्ते तथाचोक्तं सुश्रुतस्य शरीरे—“आहाराचारचेष्टा-
 भिर्यादृशीभिः समन्वितौ । स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि
 तादृशः” आहाराचारचेष्टाश्च विद्याशिक्षानुकूला जायन्ते तस्मात्स्त्री-
 भ्यो वेदादिशास्त्राणि पाठ्यानि श्राव्याणि च येन मूले संस्कृते वृक्षस्य
 संस्कारः स्यात् । इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते । इतिमा-
 नववचनेन ज्ञायतेऽन्नस्य पृथिवीव मनुष्याणामुत्पादिका स्त्री । पुरु-
 षशरीरे यावान् रसरुधिरमांसादिर्धातुसमुदायः स सर्वो वाच्याव-
 स्थायां मातुः शरीरादेवायातः सा यदि कथमपि निकृष्टास्ति तर्हि
 बालस्योत्तमत्वेको हेतुः । इत्थं पुरुषवत् स्त्रीणामप्यधिकारे सिद्धे
 षट्षष्टितमं पद्यं प्रक्षिप्तमिति प्रतिभाति । वक्ष्यमाणसप्तषष्टि पद्येन

साकं विरोधाच्च । अर्थात्सप्तपष्ठितमे पद्ये मनुना स्त्रीणां सर्वं कृत्यं
वैदिकमुक्तम् । विशेषो यथावसरं वक्ष्यते । विरम्यतेऽधुनाऽधिकज-
ल्पनात् ॥

भाषार्थः—अब द्वितीयाध्याय के प्रसिद्ध श्लोकों की समीक्षा करते हैं । इस अध्याय पर व्यूलरसाह्व ने कहा है कि “यद्यपि द्वितीयाध्याय से ले कर षष्ठाध्यायपर्यन्त सब कथन मनुस्मृति में धर्मसूत्रों के अनुकूल है तो भी बीच २ कहीं-२ पीछे से श्लोक मिलाये गये जान पड़ते हैं । जैसे इस द्वितीयाध्याय में प्रारम्भ से ११ ग्यारह श्लोक पीछे किन्हीं ने मिलाये हैं अर्थात् १-५ तक श्लोक किसी धर्मशास्त्र के आशय से नहीं पाये जाते । छठा श्लोक पुनरुक्त है क्योंकि बारहवें में यही बात कही गयी है जो छठे में है । सातवें पद्य में आत्मश्लाघा दोष है अर्थात् अपनी आप ही प्रशंसा की है । आठवें और नववें श्लोक में फल दिखाया गया है तथा दशवें ग्यारहवें श्लोकों में तर्क का निषेधरूप दोष आता है क्योंकि धर्म विषय की तर्क से अवश्य परीक्षा करनी चाहिये इस प्रकार आदि के ११ श्लोक प्रसिद्ध हैं” इत्यादि ।

इस का उत्तर यह है कि यह नियम नहीं कर सकते कि जो एक किसी धर्मशास्त्र में हो और सब में न हो वह प्रसिद्ध माना जावे । क्योंकि सब लोग बराबर नहीं कह सकते अर्थात् आप ही पहिले कही बात का प्रत्यक्ष अनुवाद कोई नहीं कर सकता । इस समय भी पुस्तक बनाने वाले विद्वान् लोग एक ही विषय में अपने २ अनुभव को लेकर न्यूनाधिक लिखते वा कहते हैं उन में किसी का कथन प्रसिद्ध वा प्रामादिक नहीं समझा जा सकता । किन्तु जो प्रकरण विरुद्ध, धर्मविरुद्ध वा पक्षपात युक्त हो वही प्रसिद्ध है किन्तु किसी अन्य की अपेक्षा अधिक कथन प्रसिद्ध नहीं है ।

और जो छठे बारहवें श्लोक में पुनरुक्त दोष दिया सो भी ठीक नहीं क्योंकि उन दोनों के अभिप्राय में भेद है और कदाचित् पुनः वही बात कही भी गयी हो तो अनुवादार्थ मानने में दोष नहीं । छठे श्लोक में धर्म का मूल दिखाया और बारहवें में साक्षात् धर्म का स्वरूप कहा है । छठे में मनु जी का मत दिखाया गया है और बारहवें में अपने मत का अनुवाद कर के अपना मत पुष्ट करने के लिये अन्य लोगों की सम्मति “आहुः” क्रिया से दिखायी है इस

प्रकार मानने से पुनरुक्ति दोष नहीं आता। सातवां श्लोक किसी प्रकार आत्मश्लाघा दोष से युक्त हो तो वहां भी भृगु ने मनु जी की प्रशंसा की है इस से आत्मश्लाघा नहीं है। मनु जी की प्रशंसा करने से भृगु का अभिप्राय यह है कि इस मानवधर्मशास्त्र के पढ़ने वाले लोग मन में गौरव रख के इस शास्त्र को पढ़ें विचारें किन्तु सहसा वेद विरुद्ध न मान लें। आठवें नवएं श्लोकों में जो फल श्रुति है वह रुचि बढ़ने के लिये अर्थवाद है। जिस वस्तु की गुण कीर्तन रूप स्तुति की जाती है उसमें मनुष्य श्रद्धा करते हैं इस लिये अर्थवाद सफल ही है। दशवें ग्यारहवें श्लोक तर्क के निषेध करने वाले नहीं हैं किन्तु आशय यह है कि वैसा तर्क न करना चाहिये जिससे वेद और वेदानुकूल स्मृति का भी खण्डन हो जावे अथवा बौद्ध वा सौगत आदि नाम वाले नास्तिक लोग जैसे तर्क का आश्रय लेते हैं वैसा तर्क नहीं करना चाहिये। “जो तर्क के साथ आन्दोलन करता है वह ठीक धर्म को जान लेता है अन्य नहीं” इस प्रकार कहे बारहवें अध्याय के वचन से सूचित होता है कि धर्म की रक्षा और धर्म को सिद्ध करने के लिये तर्क करना चाहिये किन्तु धर्म वा धर्म को कहने वाले शास्त्र के खण्डन के लिये तर्क नहीं करना चाहिये यह बात इस द्वितीयाध्याय के दश ग्यारह श्लोकों से जतायी गयी है। जैसे दुष्ट को मारने के लिये शस्त्र चलाना चाहिये किन्तु अपना शरीर काटने के लिये नहीं। जैसे शस्त्र से सब उचित अनुचित का छेदन हो सकता है वा जैसे गम्या अगम्या दोनों में मैथुन हो सकता है पर तो भी उचित का छेदन और गम्या में मैथुन करना चाहिये यह शास्त्रों में विधान किया गया है। वैसे ही तर्क से उचित का खण्डन करना चाहिये तथा रक्षा करने योग्य धर्म वा धर्मशास्त्र की रक्षा करनी चाहिये यह तात्पर्य है।

तेरह आदि अनेक श्लोक द्वितीय अध्याय में व्यूलरसाहव ने अन्य धर्मशास्त्र से अधिक कहे हैं। इसका उत्तर भी मैंने दे दिया है। परन्तु किसी से यह अधिक है इस लिये दूषित है यह नहीं हो सकता। तथा इस द्वितीयाध्याय में व्यूलरसाहव के कथनानुसार अठारही श्लोक से ले कर सौ श्लोक पर्यन्त प्रकरण विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं ऐसा प्रतीत होता है। इन ८८-१०० पद्यों के पूर्व और पर सन्ध्या का प्रकरण है। बीच में जितेन्द्रियता का प्रसंग इन्द्रियों का परिगणन, अवान्तर भेद और उन को विषयों से रोकने का उपाय इत्यादि कथन विरुद्ध है उस विषय का मानवधर्मसूत्रों में वर्णन नहीं था और था तो

प्रति संक्षेप से था उसी को भृगु ने पद्य बनाते समय विस्तार पूर्वक वर्णन किया ऐसा अनुमान होता है। और सन्ध्या कर्म में जितेन्द्रियता का भी बड़ा उपयोग है क्योंकि जिस के वश में अपने इन्द्रिय नहीं वह सन्ध्या के फल का भागी कदापि नहीं हो सकता इस कारण यद्यपि उक्त तेरह श्लोकों का आशय मनु जी का कहा नहीं था तथापि उन में धर्म से वा वेद से विरोध वा पक्षपात नहीं प्रतीत होता जिस से वे श्लोक किसी प्रकार दूषित कहे जावें। इस प्रकार व्यूहरसाहव ने द्वितीयाध्याय पर जो कुछ कहा है उस का उत्तर जानो।

इस अध्याय में वाचनवां श्लोक भी विचारणीय है अर्थात् इस श्लोक में जो बात कही है कि “अवस्था चाहने वाला पूर्व को मुख कर, यश चाहने वाला दक्षिण को, लक्ष्मी चाहने वाला पश्चिम को और सत्य चाहने वाला उत्तर को मुख कर भोजन करे” यह असम्भव है क्योंकि जब चार ही दिशा हैं तो कभी किसी और कभी किसी दिशा में मुख कर के भोजन करना ही पड़ेगा। तो प्रत्येक मनुष्य सब दिशाओं में मुख कर के भोजन कर सकते हैं यदि वैसा फल होना सम्भव हो तो सभी मनुष्य चारों फल के भागी होवें पर यह बात प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है अर्थात् प्रत्यक्ष में सब मनुष्यों में वैसे फल नहीं दीखते अर्थात् प्रायः पश्चिम को मुख कर भोजन करने वाले सैकड़ों दरिद्री दीख पड़ते हैं। यदि कहो कि यज्ञोपवीत होते समय प्रथम मांगी हुई भिक्षा के भोजन में ब्रह्मचारी को यह फल होता है ऐसा मानने पर भी वही दोष है। अर्थात् ब्रह्मचारी भी किसी दिशा को मुख कर स्वयमेव भोजन करेगा तो किसी न किसी प्रकार फल सब को होना चाहिये सो भी ठीक सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि ब्रह्मचारी वा अन्य मनुष्य वैसे फलभागी नहीं मिलते किन्तु अल्पायु और दरिद्रादि विपरीत तो दीख पड़ते हैं इस से अनुमान होता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

इस द्वितीयाध्याय का आसठवां श्लोक भी विचारणीय है। उस में लिखा है कि कन्याओं के जात कर्मादि संस्कार बिना सन्त्र पढ़े करने चाहिये इस पर शङ्का होती है कि ऐसा क्यों करे? यदि शरीर के संस्कार में सन्त्र पाठ भी हेतु है तो शरीर का संस्कार वा शुद्धि होने के लिये सब क्रिया ज्यों की त्यों करे यह कथन विरुद्ध पड़ता है क्योंकि शुद्धि के लिये उपाय करना कहा जावे और शुद्धि के हेतु सन्त्र पढ़ने का निषेध किया जाय यह परस्पर विरुद्ध है। यदि कदाचित् मानते हों कि शूद्र के तुल्य स्त्रियां नीच हैं इस से उन को वेद के सुनने

का अधिकार नहीं तो विवाह में भी उन का मन्त्रों से संस्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि वे मन्त्र सुन लेंगी । विवाह में जब स्वयमेव स्त्रियों को मन्त्र बोलने की आज्ञा देते हैं । तो सुनने की क्या कथा है । इस से अनुमान होता है कि मन्त्र सुनने वा बोलने में स्त्रियों को दोष नहीं है । यह बात अनेक आर्ष पुस्तकों में अर्थात् कहीं २ कर्मकाण्ड सम्बन्धी गृह्यसूत्रादि में भी मिलती है कि स्त्रियों के जात कर्मादि संस्कार मन्त्र विना पढ़े करने चाहिये इस में अनुमान होता है कि पूर्वकाल में भी किन्हीं २ ऋषि लोगों की ऐसी सम्मति होगी । परन्तु उस सम्मति के एकदेशी होने से सब को ग्राह्य नहीं अर्थात् सब ऋषियों का ऐसा मत नहीं है । और वेद सम्बन्धी सिद्धान्त भी यह नहीं हो सकता । यदि वेद पढ़ने वा सुनने का स्त्रियों को अधिकार न हो तो वेद में भी निषेध मिलना चाहिये सो नहीं दीखता । यदि कोई कहे कि वेद में स्त्रियों को वेद पढ़ाना चाहिये ऐसा विधान भी नहीं मिलता तो उत्तर यह है कि जैसा विधान पुरुषों को मिलता है वैसा ही स्त्रियों के लिये है अर्थात् जैसे कहा गया कि वेद पढ़ना चाहिये तो जिन २ पुरुषों को पढ़ना आवेगा उन २ की स्त्रियों को भी पढ़ाना अवश्य उपयोगी है । इस प्रसङ्ग में प्रमाणों का संग्रह इस लिये नहीं किया कि यह लेख अधिक न बढ़ जावे । पीछे किसी अवसर पर कुछ प्रमाण भी लिख देंगे । जो २ कर्म वेदादिशास्त्रों में ब्राह्मणादि वर्णों को कर्त्तव्य मान कर कहे गये हैं वे उन २ की स्त्रियों को भी वैसे ही कर्त्तव्य हैं क्योंकि स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गी है । स्त्री पुरुष दोनों मिल कर पूरे हैं एक २ अधूरे हैं तो जो काम पुरुष के लिये कहा गया उस के अच्छे बुरे फल में स्त्री स्वयमेव अधिकारिणी हो सकती है इस लिये जहां पुरुष को अधिकार है वहां उस की स्त्री को भी अवश्य होना चाहिये । जब स्त्री के शरीर से बने हुए बालकों को अधिकार है तो उन बालकों की उपादानकारण स्वरूप स्त्रियों को अधिकार न माना जावे यह पक्षपात मात्र है । अथवा क्या यह बड़ा प्रमाद नहीं ? कदाचित् कहो कि जो स्त्रियां वेदादिशास्त्र पढ़ने में असमर्थ हैं उन को अधिकार नहीं है तो बैसे असमर्थ निर्बुद्धि पुरुषों को भी अधिकार नहीं है । स्त्रियों को अधिकार न देने से पुरुष भी विद्या बुद्धि रहित बिगड़े संस्कारों वाले स्त्रियों के तुल्य नीचप्रकृति उत्पन्न होते हैं । यही इस देश की दुर्दशा का बड़ा हेतु है । पहिले जब विद्या और धर्मनीति की शिक्षादि को प्राप्त करा के स्त्रियों का शारीरिक वा आत्मिक

संस्कारकिया जाता है तो उन शुद्ध संस्कार को प्राप्त हुई स्त्रियों में बालक भी शुद्ध संस्कारी शुभगुण सम्पन्न उत्पन्न होते हैं। यही बात सुश्रुत, के शरीर स्थान में कही भी है कि “स्त्रीपुरुषं जैसे भोजन छादन, आचरण और चेष्टा के साथ गर्भाधान समय में संयोग करते हैं उन का पुत्र भी वैसे आचरण वा चेष्टा वाला होता है” मनुष्य के आहार आचरण और चेष्टा विद्या शिक्षा के अनुसार होते हैं अर्थात् विद्वान् और मूर्ख दोनों एक से आचार विचार नहीं रख सकते किन्तु स्वयमेव चेष्टादि बदल जाते हैं। इस लिये स्त्रियों को वेदादिशास्त्र पढ़ाने और सुनाने चाहिये जिस से मूल के संस्कार युक्त होने से वृक्षरूप पुत्रादि संस्कारी हों। “यह स्त्री प्राणियों के उत्पन्न होने के लिये खेत के तुल्य पृथिवी है” अर्थात् जैसे पृथिवी में सब अन्नादि उत्पन्न होते हैं वैसे स्त्रीरूप खेत में मनुष्यादि प्राणी उत्पन्न होते हैं प्राणियों की उत्पत्ति का खेत स्त्री है यह आशय ऊपर कहे मनु जी के वाक्य से निकलता है। पुरुष के शरीर में जितना रस रुधिर आदि धातुओं का समूह है वह सब बाल्यावस्था में प्रथम माता के शरीर से आया है वह मातारूप स्त्री यदि किसी प्रकार नीच ठहराई जावे तो बालक के उत्तम होने में क्या हेतु है ? इस प्रकार पुरुष के तुल्य स्त्रियों का भी पठन पाठन में अधिकार सिद्ध होने पर छासठवां श्लोक प्रसिद्ध प्रतीत होता है। तथा आगे कहे सरसठ श्लोक के साथ विरोध भी है। अर्थात् सरसठवें श्लोक में मनु जी ने स्त्रियों के सब कर्म वैदिक कहे हैं। इस में विशेष होगा सो वहाँ यथा-वसर कहेंगे। इस प्रकार इस द्वितीयाध्याय में दो ही श्लोक प्रसिद्ध ठहरते हैं तो शेष २४७ श्लोक ठीक समझने चाहिये। अब यहां लिख ना समाप्त करते हैं ॥

अथ गृहाश्रमविचारे विवाहनियोगपुनः- संस्काराणां विवेचनम् ॥

ब्रह्मचर्याश्रमसेवनानन्तरं मनुष्येण गृहाश्रमः कार्यस्तत्र विवा-
हकरणमेव गृहाश्रमस्य मुख्यं स्वरूपम्। अतएव गृहे तिष्ठतीति
गृहस्थइति निर्वचने गृहशब्दः सद्ब्रपर्यायो नास्ति स्याच्चेद्दानप्रस्थो
ब्रह्मचारी च द्वावपि कस्मिंश्चित्सद्ब्रान्येव तिष्ठतस्तदा तयोरपि

गृहस्थसंज्ञा स्यात् । यद्वा यतिरपि कस्यचित्सन्नानि कदाचित्तिष्ठेत्तदा तस्यापि गृहस्थइति नाम स्यात् । तस्मात्कान्तायाः पर्यायवाचको गृहशब्दः । गृहे भार्यायाः समीपे तिष्ठति स गृहस्थः । भार्या सम्बन्धश्च विवाहः । पतिपत्नीभावेन स्त्रीपुरुषयोरितरेतरं मानसो वाचिकः कायिकश्च सम्बन्धो विवाहपदवाच्यः । तस्य चाष्टौ प्र-
 काराएव मनुष्यजातौ भवितुमर्हन्ति तेषां च ब्राह्मादयःसंज्ञाशब्दाः । तेषां च यथावसरं व्याख्यानं द्रष्टव्यम् । तत्रैकपुरुषेणैकयैव सह विवाहसम्बन्धः कार्यइति “क्रीडन्तौ पुत्रैर्नष्टभिर्मोदमानौ स्वे गृहे” इत्यादिवेदमन्त्रेषु द्विवचनग्रहणादेव प्रतीयतेऽयमेव वेदस्य सिद्धान्त-
 इति । अयमेव च सनातनो धर्मइति । एवं सति ये केचित्कामासक्ताः सवर्णाऽसवर्णाभिरनेकाभिः सार्धमुद्राहं कुर्वन्ति ते वेदविरुद्धमाचर-
 न्ति । यैश्चैवं कृतं तैश्च वेदविरुद्धमाचरितमिति सिद्धम् । तथापि ये कामासक्ताः सामान्येनागम्यागमनं कुर्वन्ति पण्ययोपितो वा सेवन्ते तदपेक्षयाऽनेकविवाहकर्तारः कामिनः सुखिनो धर्मात्मानश्च सन्ति ।
 एवं कामिपुरुषाणां महापातकान्निरोधार्थमयमुपायः केषांचिन्मतं वास्ति । यदनेकामिः सह विवाहः कार्यः । अर्थादगम्यागमनापेक्षया पण्ययोषित्सेवनापेक्षया च कामासक्तपुरुषैरनेकविवाहैर्निर्वाहकरणं वरम् । न तु सनातनैकस्त्रीसेव्यपेक्षयेति । अतएव मनुनाप्युक्तम्—
 कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः । तत्र पक्षद्वयम्—
 सवर्णाभिः कतिचिद्भिरसवर्णाभिर्वा विवाहः कार्यः । सवर्णानामनेका-
 सामभावेऽप्राप्तौ वाऽसवर्णाभिः कामिभिर्विवाहः कार्यस्तत्र ब्राह्मणेन क्षत्रियावैश्याशूद्राभिः सह कार्यइति केषांचिन्मतमपरेषां मन्वादीनां
 जतेतु शूद्रया साकं ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां कदापि विवाहो न कार्यइति ।

धर्मात्मनां मानवधर्मशास्त्रस्य च सिद्धान्तः । यद्यपि नीतिमतां कथनानुकूलं विवाहस्य-भार्यासम्बन्धस्य हे फले । यथा-रतिपुत्र-फला नारीत्यादिनोच्यते । परन्तु धर्मशास्त्राणां सिद्धान्तेन सन्तानोत्पत्तिरेव मुख्यं फलम् । रतिफलकाङ्क्षिणश्च धार्मिका भवितुं नार्हन्ति—यथोक्तम्—अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते । ये चार्थे धनादिप्राप्तौ कामभोगे चासक्तास्तृष्णापरिप्लुतास्तेषां धर्मज्ञानं न भवति । अनेन भार्यासम्बन्धे सति यदि पुत्रादीनामुत्पत्तिः स्यात्तदा गृहाश्रमसाफल्यमन्यथा च नैष्कल्यम् । तथा चोक्तम् । शोच्यं मैथुनमप्रजम् । अतो विवाहकरणात्पूर्वमेव मनसि फलानुसन्धानार्थं प्रशस्यापत्यजननार्थं चोपायाः प्रदर्शिताः । इदमित्थं क्रियमाणं सफलं सुफलं च भविष्यति । विपरीतफलप्रतिषेधार्थं चोक्तमेवं भूतया कन्यया विवाहो न कार्यइत्यादि ॥

सम्यग्विचारेणापि कृते भार्यासम्बन्धे यदि कथमपि फलं न सिध्येद् द्वयोरेकतरश्च प्रेयात् । तत्र यद्यक्षतयोनिः स्त्री विधवा स्यात् पतिः प्रेयात् । यद्वा विरक्तः पतितः क्लीवोऽसाध्यरोगी सन्तानोत्पादनासमर्थो वा कथमपि स्यात्तदा तथा पत्यन्तरो वरणीयः । तस्याः पित्रा भ्रात्रा वा पत्यन्तरेण साकं सम्बन्धः कार्यः । सा चेदक्षतयोनिः स्यादित्यादिना मनुनाप्यक्षतयोनेः कन्यायाः पुनःसंस्कार उक्तः । वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा । ऋत्वागमांस्त्री-नतीत्य कन्यान्यं वरयेद्दरम् ॥ वरो यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीव-एव वा । विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥ ऊढापि देया सान्यस्मै सहावरणभूषणा ॥ इत्यादिस्मृत्यन्तरस्थानेकप्रमाणैः सिद्धमक्षतयोनिकन्यायाः पुनर्विवाहो वैदिकरीत्यैव कार्यइति । युक्त्या

चेदमेव सिध्यति—यथा जगति यत्कार्यं यस्मै प्रयोजनायारभ्यते—
तच्च यदि कथंचिन्निष्फलं स्यात्तत्पुनरपि कुर्वन्ति। अर्थाद्द्विवारं त्रिवा-
रादिकं वा यावत्सफलं भवति तावत्पुनःपुनः कुर्वन्ति। यथा क्षुन्नि-
वृत्तयेऽन्नं पचन्ति यदि स पाकः कथमपि सफलो न भवति तदा
पुनःपाकः क्रियते। तथैवात्रापि थयेकेन द्वाभ्यां वा विवाहाभ्यां फलं
न सिध्यति तर्हि पुनःपुनरपि विवाहाः कार्याः। विवाहशब्दस्या-
वान्तरभेदः पुनर्विवाहो नियोगो वा। तत्राक्षतयोनिकन्यायाः कथ-
मपि पत्युः कार्यसाधकाभावे पुनर्विवाहः कार्यः स च यावज्जन्म
तयोः सम्बन्धइति कृत्वा पुनर्विवाहइत्युच्यते। क्षतयोनेः पुत्रादी-
नामभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थेनैव नियोगः कार्यः। इमौ च पुनर्विवा-
हनियोगावापद्धमौ। अतएव न सर्वथापि तु यः पुरुषः स्त्री वा
सनातनधर्मेण ब्रह्मचर्येण स्थातुमशक्ता यदि व्यभिचारेण भ्रूणह-
त्यादिकं कुर्यादनेकापदां भाजनं वा स्यात्तदपेक्षया पुनर्विवाहनियोगा-
भ्यां निर्वाहकरणं वरम्। यदा च विवाहस्यापि केषांचिन्मते निय-
मो बन्धनं वा नास्ति। यदि कश्चित्पुरुषः काचित्स्त्री वा नेच्छति
सा विवाहमकृत्वा यावज्जन्म ब्रह्मचर्याश्रमेण तिष्ठेत्। तदा यस्य
भार्या यस्या वा पतिश्चिरयतेतस्योपरि शास्त्रस्य बन्धनं कथं स्यात्?
यत्तेन विवाहः कार्यएव किन्तु स्वातन्त्र्यमत्र द्वयोरस्ति येच पुनर्वि-
वाहनियोगौ कुर्वन्ति तदपेक्षया ब्रह्मचर्यस्थौ स्त्रीपुरुषावतिश्रेष्ठौ।
परन्तु यावज्जन्म ब्रह्मचर्याश्रमेणावस्थितिरतिगहना न ह्यकृतबुद्धिभिः
षोढुं शक्यते किन्तु कश्चिदेव षोढुं शक्नोति। नियोगस्य विधानं
नवमाध्याये कृतमस्ति तस्य विशिष्टं व्याख्यानं तत्रैव द्रष्टव्यम्।
तत्र नियोगविधानानन्तरं चतुर्भिः पदैः खण्डनमपि कृतं तस्य

समीक्षा नवमस्य प्रक्षिप्तप्रसङ्गे द्रष्टव्या । क्षतयोनेरपत्यार्थिन्या
नियोगः कार्यइति मानवः सिद्धान्तः । नियोगस्यापद्धर्मत्वं च मनुना
नवमे स्वीकृतमेव—अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदीत्या
दिना । केचिदत्र विप्रतिपन्नाः कलौ नियोगं न मन्यन्ते । उक्तं च तैः—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।

देवराञ्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेदित्यादिना ॥

प्रमत्तगीतं वेदविरुद्धमेतत् । नहि वेदेऽश्वालम्भादिकं कर्म विहितम-
स्ति । संन्यासनियोगौ च यथावसरं यथायोगं यथाऽधिकारं च कार्यौ ।
अतएव वेदे नियोगप्रसङ्गउक्तम्—आ धा ता गच्छानुत्तरा युगानि
यत्र जामयः कृणवन्नजामि । अर्थात्तानि तादृशान्युत्तराणि संवत्सरा-
एवागमिष्यन्ति यदा कुलस्त्रियस्ताभिरकर्तव्यानि कर्माणि करिष्यन्ति
तेषु समयेषु नियोगः कार्यइति । एतेन कलियुगे विशेषतया नियो-
गः कार्यः । अन्येषु युगेषु यदा विधवानामेवमाधिक्यं नासीत् । त-
दानीं धर्मप्रवृत्तेराधिक्याद्व्यभिचारोपि नासीदतो नियोगस्य पुनरु-
द्वाहस्य वा प्रयोजनमावश्यकत्वमपि नासीत् । अतोऽन्यकृतयुगा-
द्यर्थो नियोगो नास्त्यपितु कलियुगार्थो विशेषतयास्ति । तस्मादि-
दानीं भ्रूणहत्यादिवारणाय विधवानामापत्काले निर्वाहाय च यथा-
योगं नियोगपुनरुद्वाहावश्यकं कार्यौ । यदा च क्षुब्धगति तदा तस्या
निवृत्तये धीमताऽवश्यं यत्नः कार्यः । येष्वसत्यां क्षुधि भोजनदान-
विधिरस्ति नहि तानि धर्मशास्त्राणि । यदा च यादृशेन कर्मणा
मनुष्याणां दुःखनिवृत्तिः सुखावाप्तिश्च जायते तदा सादृशकर्मनु-
ष्ठानाय येषु प्रेरणास्ति तान्येव वेदादिसच्छास्त्राणि धर्मशास्त्रपदवा-
च्यानि भवितुमर्हन्ति । धर्मशास्त्राणां निर्माणस्य चैतदेव प्रयोजनं

यत्तदुक्तमार्गेण गच्छन्तो जना दुःखानि नाप्नुयुः सुखानि च यथा-
कालमवाप्नुयुः। यत्र च दुःखनिवृत्त्युपायो नैव प्रदर्शितो नैव तानि
धर्मशास्त्राणि । तस्मान्नियोगनिषेधकानां धर्मशास्त्रत्वाऽभावोऽप्रमा-
णहेतुः । अतः सामयिकदुःखनिवृत्तये विचारशीलैर्धर्मात्मभिरापदि
नियोगेन धर्मरक्षा कार्येति मानवधर्मशास्त्रस्याशयः ॥

भावार्थः—अब गृहाश्रम प्रसङ्ग में विवाह नियोगऔर पुनर्विवाहों का विचार
किया जाता है कि इस विषय में मानवधर्मशास्त्र का क्या सिद्धान्त है ? । ब्रह्म-
चर्य आश्रम सेवन के पश्चात् मनुष्य को गृहाश्रम का प्रारम्भ करना चाहिये ।
उस में विवाह करना ही गृहाश्रम का मुख्य स्वरूप है इसी कारण गृह नाम
स्त्री के समीप रहने वाला गृहस्थ कहाता है । यदि गृहस्थ शब्द का यह अर्थ
माना जावे कि जो गृह नाम घर में रहे वह गृहस्थ है तो ब्रह्मचारी और वान-
प्रस्थ भी किसी प्रकार के घर में ही ठहरते हैं तो उन की भी गृहस्थसंज्ञा होनी
चाहिये । अथवा यदि संन्यासी भी किसी के घर में ठहरा हो तो उस का भी
गृहस्थ नाम पड़ना चाहिये । अथवा जिन २ के स्त्री नहीं और वे किसी घर में
रहते हैं तो गृहस्थ कहाने चाहिये पर ऐसी परिपाटी लोक में नहीं है इस
कारण गृह शब्द स्त्री का पर्यायवाचक रखना चाहिये कि जो गृह नाम स्त्री के
समीप ठहरे वह गृहस्थ वा गृहाश्रमी भी है । और स्त्री के साथ सम्बन्ध वा मेल
होना ही विवाह है । अर्थात् स्त्री उस को अपना पति चित्त से मान ले और
पुरुष उस स्त्री को अपनी पत्नी चित्त से मान ले इस प्रकार उन दोनों का पर-
स्पर मन वाणी और शरीर से सम्बन्ध होना विवाह पद का अर्थ है । यदि
मण्डप रचना पूर्वक कन्या के घर में जो वेदोक्त क्रिया होती अर्थात् मन्त्र पढ़ते
वा होमादि करते हैं उस का नाम विवाह मान लें तो गान्धर्व, राक्षस और
पैशाच विवाहों का नाम विवाह नहीं पड़ेगा क्योंकि उन में वैदिक मङ्गलाचरण
वा शिष्ट लोगों का स्वीकृत व्यवहार प्रायः नहीं होता इसी लिये वे निन्दित विवाह
माने गये हैं । परन्तु क्षत्रियों में पहिले से ही गान्धर्व विवाह की कुछ २ प्रवृत्ति चली
आती है । और गान्धर्व विवाह में प्रायः स्त्री पुरुषों का संयोग पहिले हो जाता
है और पीछे विवाह का कृत्य अर्थात् कुछ शिष्ट व्यवहार भी होता है । इस में
विवाह की प्रसिद्धि करने से पूर्व प्रायः स्त्री पुरुषों का संयोग हो जाता है इसी

कारण श्रेष्ठ लोगों में इस की निन्दा है। यही चाल आज कल इङ्ग्लैण्डदेशवासियों में है कि कन्या और वर की इच्छा से पहिले संयोग भी हो जाता है। विवाह में वैदिकप्रक्रिया मन्त्रपाठ वा होमादि करने और अनेक सज्जन पुरुषों के सामने प्रतिज्ञा पढ़े जाने का यही प्रयोजन है कि एक तो सर्वसाधारण को प्रकट हो जावे कि अमुक का पुत्र और अमुक की कन्या का परस्पर विवाह हो गया और द्वितीय उन कन्या वरों की प्रतिज्ञा के अनेक सज्जन लोग साक्षी हो जावें कि प्रतिज्ञा से विरुद्ध चलने में उन दोनों को भय रहे कि हम को वे लोग धिक्कार देंगे। और तृतीय ऐसे बड़े आजन्म सम्बन्ध होने के प्रारम्भ में सर्वशक्तिसान् परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना करना कि वह मन्त्र का स्वामी सदा हम को धर्म पर चलने की प्रेरणा करे इत्यादि प्रयोजनों के लिये मङ्गलाचरणरूप वेदी पर कृत्य अवश्य करना चाहिये पर उस कृत्य का नाम विवाह नहीं है इसी कारण यदि वेदीमात्र का कृत्य होकर कन्या वर पृथक् हो जावें और फिर उन का मैथुन संयोग होने से पूर्व ही पुरुष का शरीर छूट जावे तो वह कन्या धर्मशास्त्रानुसूत विधवा नहीं मानी जा सकती और ऐसी दशा में उस पुरुष के मर जाने पर उस कन्या का फिर से वेदीकृतीति का विवाह हो सकता है पर लोक में इस से विरुद्ध चाल पड़ गयी है कि वेदी पर के कृत्य को ही पूरा विवाह समझ लेते हैं और उस कृत्य के पश्चात् पुरुष के मर जाने से कन्या को विधवा मान कर बैठाल रखते हैं इस का बड़ा कारण अविद्या है। इस विषय का जिन को विशेष व्याख्यान देखना हो वे “विवाहव्यवस्था” नामक पुस्तक में देखें। इस प्रकरण में तात्पर्य यही है कि वेदी पर जो वेदीकृत मङ्गलाचरण होता है वह स्वयं विवाह नहीं किन्तु विवाह की प्रसिद्धि प्रार्थना और प्रतिज्ञा होने के लिये है और विवाह का पूर्वरूप है जैसे उवर के पूर्वरूप को कोई उवर माने वा कहे तो सर्वथा विरुद्ध वा हानिकारक नहीं वैसे यहां नहीं घटता क्योंकि विवाह शब्द का अर्थ पतिपतीभाव से स्त्री पुरुष का संयोगमात्र न माना जावे तो गान्धर्वादि को विवाह नहीं कह सकते इस लिये विवाहशब्द का उक्तार्थ ही ठीक है। इसी अर्थ से द्वीपान्तर निवासियों के सम्बन्ध को भी विवाह कह सकते हैं। इस लेख से मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि ब्राह्मादि श्रेष्ठ विवाहों में वैदिक मङ्गलाचरण करना विशेष प्रयोजनीय नहीं किन्तु आशय यह है कि ब्राह्म आदि शिष्ट विवाह हैं और जिन में वेदीकृतक्रिया नहीं होती वे नीच लोगों के

विवाह हैं। इस से ब्राह्मणादि उत्तम हैं। और ब्राह्मणादि वर्णों को वैसे ही करने चाहिये। पर वेदी की क्रियामात्र को विवाह समझ लेने से ही अनेक कन्या निरपराध विधवा मानकर बैठा रखी हैं यही बड़ी हानि है यदि विवाह का ठीक अर्थ समझलें तो जिन का पुरुष से संयोग नहीं हुआ वे कन्या वास्तव में विधवा नहीं। उन का विवाह भी नहीं हुआ तो अब उन का ठीक विवाह निःसन्देह कर देना चाहिये यही मेरा प्रयोजन है।

विवाह के आठ भेद हैं अर्थात् मनुष्य जाति भर में आठ प्रकार के ही विवाह माने जा सकते हैं उन के नाम ब्राह्म, दैव आदि हैं इन का विशेष व्याख्यान वहीं तृतीयाध्याय के भाष्य में होगा। परन्तु इस प्रसङ्ग में इतनी शङ्का हो सकती है कि स्वयंवर विवाह कौन है? इस का उत्तर यह है कि स्वयंवर इन आठ से भिन्न कोई विवाह नहीं किन्तु मुख्यकर प्राजापत्य के अन्तर्गत आ सकता है क्योंकि उस में कन्या वर दोनों परस्पर पहिले प्रतिज्ञा करलें कि हम दोनों प्रसन्न हैं गृहाश्रम में धर्म करेंगे ऐसा वाणी से कह कर वेदोक्त विधि से विवाह किया जाय वह प्राजापत्य है। पद्मावती आदि के स्वयंवर में यही हुआ भी है कि पहिले वर कन्या की परस्पर प्रसन्नता होकर विवाह हुए हैं। इसी लिये इस को चार प्रशस्त विवाहों में रक्खा है कि जो आर्यों को करना चाहिये ॥

विवाह प्रसङ्ग में एक पुरुष को एक ही स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये। यह वार्ता “(क्रीडन्तौ०) पुत्र पौत्रों के साथ आनन्द करते हुए दोनों स्त्री पुरुष गृहाश्रम में धर्म का सेवन करें”। इस मन्त्र में द्विचन का ग्रहण होने से ही निश्चय होती है कि यही वेद का सिद्धान्त है। और यही सनातन धर्म है कि एक पुरुष एक ही सवर्णा स्त्री के साथ विवाह करे। ऐसा होने पर जो कोई कामी पुरुष अपने वर्ण की वा अन्य वर्णों की अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वे वेद विरुद्ध करते हैं। और पूर्वकाल में किन्हीं प्रतिष्ठित पुरुषों ने भी ऐसा किया तो जानो वेदविरुद्ध किया। अर्थात् कई विवाह कर लेने से किसी की प्रतिष्ठा नहीं होती किन्तु प्रतिष्ठा के हेतु उन लोगों के अन्य श्रेष्ठ कान थे [यद्यपि असवर्ण वा अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करना धर्मानुकूल वा प्रशंसा योग्य सुख का हेतु काम नहीं है तथापि उससे भी अधिक निरुद्ध कर्म की अपेक्षा वह अच्छा है। अर्थात् अपने से उच्च वर्ण की कन्या के साथ विवाह करना अत्यन्त बुरा है। इस लिये यदि असवर्ण के साथ विवाह किसी कारण करने ही पड़ता

हो वा अपने वर्ण की योग्य अनुकूल कन्या नहीं मिलती हो तो अपने से नीचे वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर लेना चाहिये । इस का प्रयोजन यह है कि पुरुष का अंश उत्तम और स्त्री का कुछ निकृष्ट रहने से सन्तान ठीक धर्मात्मा वा विचारशील उत्पन्न होते हैं । जैसे अन्य पदार्थों के मेल से वस्तु बनते हैं वहाँ भी यह नियम रहता है कि अमुक २ इस २ प्रकार का इतना २ पदार्थ मिलने से अमुक वस्तु ठीक बनेगा । इसी कारण वैसा ठीक मेल न मिलने से अनेक वस्तु बिगड़ जाते हैं । इस पर कुछ अधिक समाधान की आवश्यकता नहीं जो कोई निश्चय करना चाहे वह प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है अर्थात् एक ब्राह्मण से शूद्र की कन्या में उत्पन्न हुए और एक शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुए सन्तानों के गुण कर्म स्वभाव का कितना भेद पड़ता है ?] तो भी जो कामी लोग सामान्य प्रकार से अर्थात् निषिद्ध माता भगिनी पक्ष की स्त्रियों के साथ भी व्यभिचार करते हैं अथवा वेद्याओं का सेवन करते हैं उन की अपेक्षा अनेक विवाह करने वाले कामी लोग सुखी और धर्मात्मा होते हैं । इस प्रकार कामी पुरुषों को भ्रूणहत्यादि महापातकों से रोकने के लिये यह उपाय वा किन्हीं का मत अच्छा है कि जो अनेक स्त्रियों के साथ विवाह कर लेना चाहिये अर्थात् निषिद्ध स्त्रियों और वेद्याओं के साथ विवाह करने की अपेक्षा कामासक्त पुरुषों को अनेक विवाह कर के निर्वाह करना अच्छा है किन्तु एकस्त्रीव्रत वाले सनातन धर्मी की अपेक्षा से वे कामी उत्तम नहीं हैं । इसी लिये इस मनुस्मृति के तृतीयाध्याय में लिखा गया है कि जो कामासक्ति के साथ प्रवृत्त हैं उनके लिये आगे कहीं अन्य वर्णों की स्त्रियों के साथ भी विवाह हो सकता है । इस में दो पक्ष हैं कि अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करने वाले को अपने वर्ण की अनेक स्त्रियां न हों वा किसी कारण न प्राप्त हो सकें तो अपने से नीचे वर्ण की अन्य स्त्रियों के साथ विवाह करना चाहिये । उन में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की कन्याओं के साथ विवाह कर लेना चाहिये यह किन्हीं का मत है और अन्य मनु आदि के मत में तो ब्राह्मण क्षत्रियों को शूद्र की कन्या के साथ कदापि विवाह न करना चाहिये । यह अनेक धर्मात्माओं और मानवधर्मशास्त्र का मत है । यद्यपि नीति वालों के कहने वा मानने के अनुसार स्त्री सम्बन्ध-रूप विवाह के दो फल हैं । जैसे नीति में लिखा है कि रति और पुत्र ये दो फल स्त्री के हैं परन्तु धर्मशास्त्रों के सिद्धान्त से सन्तानों की उत्पत्ति ही मुख्य

फल है किन्तु रतिमात्र चाहने वाले पुरुष धर्मात्मा नहीं हो सकते । जैसे कहा है कि जो “अर्थ-धनादि और काम भोग में आसक्त नहीं उन के लिये धर्म का उपदेश किया गया है” अर्थात् जो धनादि की प्राप्ति और कामभोग में आसक्त हैं अर्थात् तृष्णारूप नदी में गोता खा रहे हैं उनको धर्म का ज्ञान नहीं होता । इस से स्त्री का सम्बन्ध होने पर यदि पुत्रादि उत्पन्न हों तो गृहाश्रम की सफलता है अन्यथा निष्फल है इसी कारण नीति में लिखा है कि “सन्तति न हो तो मैथुन करना शोचनीय है । शोच्यं मैथुनमप्रजम्” इसी कारण विवाह करने से पूर्व ही मन में फल का अनुसन्धान करने के लिये और उत्तम सन्तान होने के लिये उपाय दिखाये गये हैं कि यह कार्य इस प्रकार किया हुआ सफल और अच्छा फलदायक होता है वा होगा । और विरुद्ध अनिष्ट फल को हटाने के लिये कहा है कि इस २ प्रकार की कन्या के साथ विवाह न करना चाहिये । सम्यक् विचार पूर्वक भी यदि विवाह किया जाय और किसी कारण फल सिद्धि न हो और दो में एक मर जावे । उन में यदि अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जावे अर्थात् पति मर जावे अथवा विरक्त साधु पतित नपुंसक और असाध्यरोगी अर्थात् सन्तानों के उत्पन्न कर सकने में अशक्त किसी प्रकार हो जावे तो उस स्त्री को दूसरे पति से विवाह कर लेना चाहिये और उस के पिता या भाई को उचित है कि अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध कर दें “वह कन्या यदि अक्षतयोनि हो तो पौनर्भव नामक पुरुष के साथ उस का पुनर्विवाह करना चाहिये” इत्यादि वचनों से मनु जी ने भी अक्षतयोनि कन्या का पुनर्विवाह कहा है । तथा कात्यायन स्मृति में लिखा है कि “मन वाणी से स्त्री को स्वीकार कर के जो कोई पुरुष मर जावे और उस कन्या से संयोग न हुआ हो तो कन्या अन्य वर को तीन मास पीछे स्वीकार कर लेवे । तथा वेदी सम्बन्धी विवाह क्रिया हुए पश्चात् वर अन्य वर्ण का अर्थात् अपने से नीच वर्ण का निकले, या पतित, नपुंसक, दुष्कर्मी, सगोत्र, शूद्र, अथवा दीर्घ रोगी निकले तो विवाह हो जाने पर भी उस कन्या का विवाह अन्य अच्छे निर्दोष वर के साथ कर देना चाहिये” इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि अक्षतयोनि कन्या का पुनर्विवाह वैदिक-रीति से ही कर देना चाहिये । युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि जैसे जगत् में जो कार्य जिस प्रयोजन वा फल के लिये आरम्भ किया जाता है वह यदि किसी प्रकार निष्फल हो जावे तो उसको फिर भी करते हैं अर्थात् दो बार तीन

वार आदि भी करते हैं कि जब तक सफल न हो तब तक वार २ करते हैं जैसे क्षुधा की निवृत्ति के लिये अन्न पकाते हैं। यदि वह पाक किसी प्रकार सफल न हो तो फिर पाक किया जाता है वैसे यहां भी एक वा दो विवाहों से फल सिद्ध न हो तो वार २ कई विवाह करने चाहिये उन्ही की नियोग संज्ञा पड़ती है इसी प्रकार अनेक नियोग निकलते हैं। और विवाह का अवान्तर भेद पुनर्विवाह वा नियोग है। उनमें अक्षतयोनि कन्या का पति के मर जाने वा किसी प्रकार सन्तानोत्पत्तिरूप फल सिद्ध करने में असमर्थ होने पर पुनर्विवाह करना चाहिये और उसमें अरणपर्यन्त स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध बना रहता है इस कारण उस को पुनर्विवाह कहते हैं। क्षतयोनि स्त्री का पुत्रादि के अभाव में सन्तानोत्पत्ति के लिये ही नियोग करना चाहिये। नियोग में उन २ स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध दो पुत्रों की उत्पत्ति पर्यन्त ही रखा जाता है। ये पुनर्विवाह और नियोग दोनों आपद्धर्म हैं इसी कारण सब को नियोग वा पुनर्विवाह करने नहीं पड़ते। यदि कोई स्त्री वा पुरुष सनातनधर्मरूप ब्रह्मचर्य के साथ नहीं रह सकता हो और व्यभिचार के साथ गर्भपातादि पाप करावे वा अनेक विपत्तियां भोगे उस की अपेक्षा पुनर्विवाह वा नियोग द्वारा निर्वाह करना उत्तम है। जब विवाह का भी किन्ही के मत में नियम वा बन्धन नहीं है। यदि कोई पुरुष वा स्त्री विवाह करना न चाहे वह विवाह न करके जन्म भर ब्रह्मचर्य आश्रम के साथ रहे तो जिस की स्त्री वा जिस स्त्री का पति मर जावे उस पर शास्त्र का बन्धन क्योंकर हो सकता है? कि जो उस को विवाह करना ही चाहिये। किन्तु इस अंश में दोनों स्त्री पुरुष स्वतन्त्र हैं चाहें विवाह करें वा न करें। जो लोग नियोग और पुनर्विवाह करते हैं उन की अपेक्षा से ब्रह्मचर्य में स्थित स्त्री पुरुष अति श्रेष्ठ हैं। परन्तु जन्मभर ब्रह्मचर्याश्रम के साथ रहना भी अति कठिन है। साधारण लोग ऐसा नहीं सह सकते किन्तु कोई बिचारशील ब्रह्मचर्य के तेज को सह सकता है। नियोग का विधान नवमाध्याय में किया है उस का विशेष व्याख्यान भी वहीं देखना चाहिये वहां नियोग विधान किये पश्चात् चार श्लोकों से नियोग का खण्डन भी किया है उस का आन्दोलन नवमाध्याय के प्रक्षिप्त प्रसङ्ग में होगा। सन्तान चाहने वाली क्षतयोनि स्त्री को नियोग करना चाहिये यह मानवधर्मशास्त्र का सिद्धान्त है। नियोग का आपद्धर्म होना मनु जी ने नवमाध्याय में स्वयमेव स्वीकार किया है कि “अब आगे स्त्रियों के आपत्कालका धर्म कहेंगे”

अनेक लोग इस विषय में विरुद्ध निश्चय किये हुये हैं कि कलियुग में नियोग नहीं करना चाहिये । और उन लोगों ने ऋषियों के नाम से बनाये धर्म शास्त्राभासों में लिखा भी है कि “घोड़े का सारना—अश्वमेध, गौ का सारना—गौमेध, संन्यास धारण करना, मांस के पिण्ड देना और नियोग करना, ये पांच कर्म कलियुग में न करे इत्यादि” यह वेद से विरुद्ध और प्रमादी लोगों का कहा वचन है क्योंकि वेद जैसे पवित्र पुस्तक में घोड़े का सारना आदि घृणित काम कैसे हो सकता है ? अर्थात् वेद धर्म का मूल है और अहिंसा को सब लोग परम धर्म मानते हैं । यदि वेद में घोड़े आदि की हिंसा हो तो वह धर्म का मूल नहीं हो सकता । इस अंश के विशेष व्याख्यान करने का यहां अवसर नहीं । संन्यास और नियोग अवसर, योग्यता वा अधिकार के अनुसार करने चाहिये । इसी लिये वेद के नियोग प्रकरण में लिखा है कि “वैसे संवत्सर वा समय आगे आवेंगे कि जब कुलस्त्री लोग अनुचित व्यभिचारादि कर्म करेंगी उन समयों में नियोग करना चाहिये” इस से सिद्ध होता है कि कलियुग में विशेष कर नियोग कर्तव्य है । अन्य युगों में जब विधवाओं की अधिकता नहीं थी और उस समय धर्म के प्रचार की अधिकता से व्यभिचार भी नहीं था इस कारण उस समय नियोग वा पुनर्विवाह का प्रयोजन वा आवश्यकता भी नहीं थी इस से सिद्ध होता है कि अन्य सत्तुग आदि के लिये नियोग नहीं है । किन्तु विशेष कर कलियुग जैसे समय के लिये नियोग है । तिससे इस समय गर्भहत्या न होने के लिये और आपत्काल में विधवाओं का निर्वाह करने के लिये योग्यतानुसार नियोग वा पुनर्विवाह अवश्य करने चाहिये । जब भूख लगती है तब उसकी निवृत्ति के लिये बुद्धिमान् को अवश्य यत्न करना चाहिये । जिन पुस्तकों में भूख न लगने पर ही भोजन देने का विधान है वे धर्मशास्त्र नहीं । जब जैसे कर्म से मनुष्यों के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति होती है उस काल में वैसे कर्मों के सेवन के लिये जिन पुस्तकों में आज्ञा लिखी है वे ही वेदादि श्रेष्ठ पुस्तक धर्मशास्त्र कहाने योग्य हैं । और धर्मशास्त्र बनने का यही प्रयोजन है कि जो उन में कहे मार्ग से चलते हुए मनुष्य दुःखों को न प्राप्त हों और यथा समय सुखों को अवश्य प्राप्त हों । जिन पुस्तकों में समयानुसार दुःख से बचने का उपाय नहीं दिखाया गया वे धर्म शास्त्र नहीं हैं । इस कारण नियोग के निषेध करने वालों का धर्मशास्त्र न होना ही प्रामाणिक न होने में हेतु है ।

इस से सामयिक दुःखों की निवृत्ति के लिये विचारशील धर्मात्मा लोगों को आपत्काल में नियोग से धर्म की रक्षा करनी चाहिये यह मानवधर्मशास्त्र का सिद्धान्त वा आशय है ॥

अथ पञ्चमहायज्ञेषु तर्पणश्राद्धयोर्विशिष्टो विचारः पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः । कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥ तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः । पञ्च कृता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ इत्यादिप्रकारेण पञ्चमहायज्ञानां सप्रयोजनं व्याख्यानं मनुना स्वयमेव कृतम् । अध्यापनं ब्रह्मयज्ञइत्यत्राध्ययनमपि तस्मिन्नध्यापने सम्भवति कुतः सत्यध्ययनेऽध्यापनस्य सत्त्वात् । अतोऽध्यापनेऽध्ययनमन्तर्गतं भवति । अध्ययने च संध्याकर्माप्यन्तर्गतं भवति सन्ध्यायामपि सावित्र्या अध्ययनस्यैव प्राधान्यात् । सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहित-इत्युक्तत्वाच्च । अतः स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञइति निष्पन्नं भवति । तर्पणाख्यो द्वितीयः पितृयज्ञस्तस्यैवावान्तरभेदः श्राद्धम् । अग्निहोत्राख्यो देवयज्ञः । वैश्वदेवाख्यो भूतयज्ञः । अतिथिपूजनं नृयज्ञः । यज्ञशब्दश्चानेकार्थः । ब्रह्मणो वेदस्य विद्यायाः परमात्मनो वा सङ्गतिः प्राप्तिः क्रियते येन स ब्रह्मयज्ञः । पितृणां यजनं पूजनं क्रियते येन स पितृयज्ञः । देवा दिव्या गुणा इज्यन्ते दीयन्ते सर्वस्मै येन स देवयज्ञः । यद्वा तस्याज्ञायालनेन देवः परमात्मा—इज्यते पूज्यते इति देवयज्ञः । भूतानि—पशुपक्षिकीटपतङ्गादिजन्तव इज्यन्ते सत्क्रियन्ते येन स भूतयज्ञः । नरो मनुष्या अकस्मादुपस्थिता भोजनावसर आगता इज्यन्ते सत्क्रियन्ते येन स नृयज्ञइति शब्दार्थाः ।

यथाकथंचिदन्यप्राणिभ्यः सुखप्रापणं धर्मः । अतएव पञ्चमहायज्ञा अपि धर्मोपार्जनहेतुत्वाद्धर्मपदवाच्या भवितुमर्हन्ति । सति

चैषां धर्मत्वेऽधर्मस्य निवर्त्तकत्वं कथमपि सम्भवति । यद्यपि पञ्च-
महायज्ञा रोगस्यौषधमिव चुह्यादिजन्यसूनानां निवर्त्तका न सम्भ-
वन्ति । तथापि सूनादोषजनितस्यापराधस्य प्रतिपक्षि पञ्चमहाय-
ज्ञजनितं सुकृत् फलं सम्भवति । अर्थात्सूनादोषस्य दुःखं फलं
पञ्चमहायज्ञानां च सुखं फलं भविष्यति । यथा दुष्कृतस्य फलं
दुःखं प्राप्तं भवति तथैव सुकृतस्य सुखमपि फलं स्यात् । यथा क्षु-
त्पिपासारूपस्य दुःखस्य निवृत्तिरन्नजलादिना जायते तदा च सुखं
जायते । इयमपि निष्कृतिरेवास्ति । यथा दुःखभोगेन शरीरेन्द्रिया-
त्मान्तःकरणानि व्याकुली भवन्ति तथैव सुखप्राप्तौ दृष्टानि पुष्टानि
च भवन्त्ययमप्येकविधः प्रतीकारोस्ति । इत्थं पञ्चमहायज्ञानां सर्व-
स्य सुकृतस्य वा दुःखप्रतीकारकत्वं सम्भवति । अनेके प्रयत्ना उपा-
या वाऽन्नजलाद्युपार्जनरूपाः प्रत्यहं मनुष्येण दुःखप्रतीकारायैव
क्रियन्ते तथैव पञ्चमहायज्ञा अपि प्रतिदिनमनुष्ठेयाः । यथा ब्रह्म-
यज्ञानुष्ठानेन मानसवाचिकदुष्कृताज्जायमानस्य दुःखस्य पूर्वमेव
वासनारूपं मूलं विच्छिद्यते पश्चात्तेषामनियतविपाकानां कर्मणां
नष्टत्वादुःखमपि नैवोत्पद्यते । तथा पितॄणां ज्ञानिनां सेवनात् पितरः
संचितानामनियतविपाकानां कर्मणां निवृत्त्युपायं दर्शयन्ति । भा-
व्याचरणं चोपदेशेन सम्यक्कुर्वन्ति तेन दुष्कर्माण्येव नाचरति येषां
फलं दुःखं स्यादित्यमन्येऽपि महायज्ञा दुःखप्रतीकारहेतवः सन्ति ।
ते च गृहस्थेनानुदिनमालस्यनिद्राप्रमादादीन् विहाय सेवनीयाः ।
इति सामान्येन संक्षिप्तो विचारः ।

अथ पितृयज्ञस्य द्वौ भेदौ तर्पणं श्राद्धं च तत्र तर्पणं सामान्येन
तृप्तिः प्रसन्नता क्षुत्पिपासादिजन्यदुःखस्य निवृत्तिर्मनसि महान्

सन्तोष आह्लादः । श्राद्धं च कर्म, येन कर्मणाऽन्नेन तृप्ताः क्षुज्जन्य-
दुःखान्निवृत्ताश्च भवन्ति । श्रद्धया दीयते यस्माच्छ्राद्धं तेन निगद्य-
ते । अत्र श्राद्धे कर्मणि भोक्तुं योग्यस्यान्नस्यापि श्राद्धं नामास्ति ।
अतएव पाणिनिसूत्रं संघटते—श्राद्धमनेन भुक्तमिति ठनौ । अ० ५ ।
२ । ८५ ॥ श्राद्धभुक्तमनेन स श्राद्धी श्राद्धिकश्चोच्यते । अत्र भक्त्या
श्रद्धया सम्पादितमन्नं श्राद्धपदवाच्यं गृह्यते । अस्मादेव प्रमाणा-
च्छ्राद्धशब्दो भोजनजन्यसत्कारकर्मणो नामेति निश्चीयते । अन्य-
त्रापि यत्र यत्र श्राद्धशब्दस्य व्याख्या शिष्टसम्मतपुस्तकेषूपलभ्यते
तत्रापि भोजनस्यैव प्रकरणम् । लौकिकपरिपाठ्याऽपि भोजनस-
त्कारकर्मणि श्राद्धशब्द उपलभ्यते । अनेके जनाः कस्मिंश्चिन्नियत-
दिवसे यदा कांश्चिद्ब्राह्मणान् भोजयन्ति तदा व्याहरन्ति । अद्या-
स्मद्गृहे श्राद्धमस्ति नैव ते पिण्डादिकं विन्यस्यन्ति । अनेन सिद्धं
भोजनसत्कारकर्मणि तदर्थमुपकल्पितेऽन्ने च श्राद्धशब्दस्य प्रवृत्ति-
रस्ति । अयमेव सत्यः सिद्धान्तः ।

अथ के पितर इत्यत्रोच्यते—पितृशब्दवाच्यप्रसङ्गे नीतिज्ञैरित्थमुक्तम्-
जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति ।

अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥

इत्थं योगरूढः पितृशब्दः स्वस्य जनके च रूढितया प्रवृत्तोऽ-
स्ति । लौकिकाश्च पितृशब्दवाच्यं जनकादन्यं नैवावगच्छन्ते । अन्य-
स्मिन् लोकव्यवहारे पितृशब्देन यथावसरं जनकउपनेता, अन्नदा-
ता, भयत्राता च गृह्यते । परन्तु श्राद्धकर्मणि विशेषतया विद्यादा-
ता पितृशब्देन गृह्यते । स्वजनकस्य सेवाशुश्रूषे तु सदैव कार्येणैव
नोचेत्कृतघ्नत्वं तस्य सम्भवति । विद्यादातुरपि प्रत्यहं भोजनादिना

सत्कारः कार्यस्तदेव श्राद्धम् । स्वस्य पितुरन्येषामुपनेत्रादीनां वा या सेवा तस्य तर्पणं नाम । श्राद्धाधिकारिणौ च हावेव स्तः पितरो देवाश्च । वाक्कर्मणि-अध्यापन उपदेशे च सदा प्रवृत्ता अर्थादध्यापनोपदेशाभ्यां विद्याप्रचारेण जगदुपकाराय प्रतिक्षणं प्रवृत्ता देवाः । मानसकर्मणि सदैव ज्ञाने रताः सदा सदसद्विवेकं कुर्वन्ति । अत्यल्पं मितं भाषन्ते यद्वा वाचंयमास्तिष्ठन्ति । यस्ययस्य विषयस्य सम्यगनुभवं कुर्वन्ति येन जगदुपकारः सम्यक् सम्भवति तमेव विषयं पुस्तकादिद्वारा विशदी कृत्य प्रचारयन्ति ते पितरः । वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते । अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् । इत्यादिप्रमाणैस्तत्पूर्वोक्तं सिध्यति । अतएव श्राद्धप्रसङ्गे मनुनैवोक्तम् । ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः । हव्यानि च यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥

कविभ्यो ज्ञानिभ्यो हितानि सत्त्वगुणप्रधानानि मेध्यानि भोक्तुं योग्यानि वस्तूनि कव्यानि । होतुं योग्यानि च हव्यानि । तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामइत्युपनिषत्स्वपि ज्ञानिनएव श्राद्धम् । ज्ञानिनः सदसद्विवेक्तारो जना यैः सम्यग् भक्त्या श्रद्धया च सेव्यते तदुपरि प्रसन्ना भूत्वा सेवकानां कल्याणकरणाय मनो दधति । सन्मार्गं चोपदिशन्ति संकेतमात्रेण वा निर्दिशन्ति । इदमित्थं कार्यमिदं च न कार्यमिति । तथा कृत्वा भक्ता अपि कल्याणभाजो भवन्ति । अतः कारणाज्ज्ञाननिष्ठानां पितृणामन्नादिदानेन श्रद्धया सेवाशुश्रूषे कार्ये । सत्कारेष्वन्नेन सत्कारएव सर्वेषु मुख्योऽस्ति । यतोऽन्नं वै प्राणिनः प्राणाइति । भोजनेनैवास्य शरीरस्योत्पत्तिस्थितिप्रलया भवन्ति । सात्त्विके चाहारे प्राप्ते शरीरमारोग्यं सात्त्विकी

बुद्धिः प्रवला भवति तेन च धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिः । वस्त्रा-
भूषणादिसुखसाधनानामलाभेऽपि शरीरं तिष्ठति केवलान्नाश्रयेण
जलेन च । अन्नजलाप्राप्तौ च लक्षशो मुद्रासु सतीषु सर्वस्मिन् वा
पृथिवीराज्येऽपि प्राप्ते सति शरीरस्थितिर्भवितुमशक्या । अतस्तर्पणे
श्राद्धे चान्नजलाभ्यां सत्कारस्य प्राधान्यम् । पूर्वकालात्सतामपीय-
मेव परिपाव्यस्ति । अतोऽन्नेन मुख्यतया सर्वैः श्राद्धं कार्यम् ॥

किं श्राद्धमपि नित्यं कर्मात् नैमित्तिकम् ? । उभयथा भवितु-
मर्हति । तद्यथा—मनुष्येण नित्यमेव श्राद्धं कार्यमिति विधीयते ।
तथाचोक्तं मनुनैव—कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा । पयोमूलफ-
लैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ पञ्चमहायज्ञानां नित्यकर्मत्वेनापि श्रा-
द्धस्य नैमित्तिकत्वमेवायाति । अयं चोत्सर्गः । अपवादतया च नैमि-
त्तिकमपि श्राद्धम् । यः कश्चित्प्रतिदिनं श्राद्धं कर्तुमशक्तः सत्कारसाध-
नानामप्राप्तत्वात् । यं वा पूजार्हाः पितरः प्रतिदिनं नैव प्राप्नुवन्ति ।
तेन साधनलाभे पूज्ये चागते श्राद्धं कार्यम् । नैमित्तिकश्राद्धाय
कश्चित्समयोऽपि नियन्तव्यः । पूर्वजैश्च नैमित्तिकश्राद्धाय समयो
नियतइत्यनुमीयते । अतएव—श्राद्धे शरदइति पाणिनिसूत्रस्य (४।३
१२) व्यवस्था सम्भवति । अन्येषु ऋतुषु श्राद्धं न भवति न वा
कर्तव्यमिति तात्पर्यं नास्ति । किन्त्वन्यर्तुवाचकशब्देभ्यश्च न भ-
विष्यत्यपित्वणोव तेन शारदिकं श्राद्धम् । शैशिरं श्राद्धमित्यपि भ-
वितुं शक्नोति । तथापि केनचिदपवादेन सूत्रेण कस्माच्चिद्विशेष-
तया प्रत्ययविधानं तस्य वस्तुनः कर्मणो भावस्य वा समयविशे-
षे प्रचाराधिक्यं सूचयति । यथा शरदि रोगआतपश्च प्राधान्यमाप-
द्यतेऽतएव शरच्छब्दादिभाषारोगातपयोरिति विशिष्टं विधीयते ।

तथैवात्रापि शरदि नैमित्तिकश्राद्धस्य विशेषोऽनुमातव्यः । साधन-
दौर्लभ्ये च श्राद्धस्य नैमित्तिकत्वमुक्तम् । तानि च साधनानि भोज्येषु
प्रधानानि दुग्धसम्भवानि । दुग्धादेव दधि, तक्रं श्रीखण्डमनेकवि-
धं मिष्टं च स्वादिष्टं सम्पद्यते । वर्षया च गवादिपशुभक्ष्यघासा-
दीनां तदानीमेव प्राधान्येनोत्पत्तिः । घासादिबाहुल्येन च दुग्धस्य
प्राचुर्येण प्रस्रवणं तेन पायसादीनि वस्तूनि सुलभतया प्राप्यन्ते
श्राद्धे च पायसादिपुष्टवस्तूनां प्रायेण संप्रयोगः । अन्नेषु शालीनां
प्राधान्यम् । शालयोऽपि वर्षाधिक्याच्छरदयोत्पद्यन्ते । एतस्मादेव
कारणादाश्वयुजे मासि पूर्वकालान्नैमित्तिकश्राद्धस्य परिपाठ्यासीत् ।
सा चेदानीं सत्या परम्परा नष्टा । परन्तु सत्पुरुषैश्चाचार्यैः पूर्वोक्तप्र-
कारेण पुनरपि सत्या परम्परा प्रचारणीया । ये च कथमपि नित्य-
श्राद्धं कर्तुमशक्तास्तदर्थं नैमित्तिकश्राद्धस्य समयविशेषोऽपि निय-
न्तव्यः । यथाऽन्येषां येषां कार्याणां समयो नियम्यते तान्येव यथा-
र्थ्येन यथातथा वा भवन्ति।येषां समयएव कश्चिदपि नास्ति तानि शुभ-
कार्याणि प्रायेणालस्यादिवशान्मनुष्यैर्न क्रियन्ते । अद्यश्वः करिष्या-
मइत्येवं वदतामेव कालआगच्छति । तदा च शोकसागरे निमज्ज-
न्ति । अतो यदि पूर्वजनियतनैमित्तिकश्राद्धस्य शरत्समयोऽमावा-
स्यादिर्वा कथमपि दूषितः स्यात्तर्ह्यार्यैरन्यः कश्चित्समयो नियन्त-
व्योऽमुकामुकसमयेऽस्माभिर्नैमित्तिकं श्राद्धं कर्तव्यम् । तदानीं पूर्व-
तएव पूज्यानामाह्वानं भोगसाधनानां च सञ्चयः कार्यः । एवं बह-
वः कुर्वन्त्यपि । तथाप्यार्यैर्विशेषतया शुभकर्मप्रचाराय [यानि कर्मा-
ण्यज्ञानेन विपरीतभावं प्राप्तानि तैश्च हानिरेव जायते तानि] श्रा-
द्धादिकर्माणि नियते नियते समये सत्योद्देशेन प्रवर्तनीयानि । एवं

कृतएव विपरीतानां निवृत्तिर्भवितुं शक्या न च विपरीतभावस्य खण्डनमात्रेण । तस्माद्विवेकिनां यथाकालं यथासाधनं चान्नादिसामग्र्या श्रद्धया भक्त्या च सेवनरूपं श्राद्धं सज्जनैरास्तिकैरवश्यं कर्तव्यमिति वैदिकः स्मार्तश्च सिद्धान्तः ॥

भाषार्थः—अब पञ्चमहायज्ञों में से तर्पण वा श्राद्ध पर विशेष विचार किया जाता है । “विशेष कर गृहस्थ पुरुष को पांच काम प्रतिदिन ऐसे करने पड़ते हैं कि जिन से दोष लगते रहते हैं । जैसे एक प्रतिदिन चूल्हा जलने से ईंधन वा पृथिवी के अनेक जन्तु जलते, द्वितीय चक्की पिषने वा पिषवाने से अनेक जन्तु अन्न के साथ पिष जाते तीसरे मार्जनी (झाड़ू) द्वारा अनेक कोमल छोटे जन्तु मरते, चौथे उखली मूसल से कूटने द्वारा अनेक मरते और पांचवें जलपात्र—घड़े आदि जहां रखे रहते हैं उन के नीचे शीतलप्रदेश चाहने वाले प्रायः जन्तु आ ठहरते और घड़ादि के दुरने से मारे जाते हैं । ये कार्य प्रायः गृहस्थों को करने पड़ते हैं । इन के करने बिना नहीं बच सकते और जब करने पड़ते हैं तो जीव जन्तुओं के प्रत्येक पदार्थ में रहने से हानि वा हिंसा भी होती है । इसी कारण गृहस्थों को दोष भी अवश्य लगते हैं । इस लिये उस दोष के बदले गृहस्थों को कुछ पुण्य भी नियमपूर्वक अवश्य करना चाहिये उसी पुण्यरूप कर्म को प्रायश्चित्त भी कह सकते हैं क्योंकि ईश्वर की सृष्टि में कुछ किसी का अपकार हो जावे तो उस को उस के बदले प्रत्युपकार भी करना चाहिये । इस कारण ऋषि लोगों ने वेद का आशय लेकर पञ्चमहायज्ञ व्याख्या कर स्पष्ट समर्थ किये हैं कि इन को इस कारण और इस २ प्रकार सब गृहस्थ लोग प्रतिदिन किया करें” इत्यादि प्रकार से तृतीयाध्यायादि में पञ्चमहायज्ञों का प्रयोजन सहित व्याख्यान मनु जी ने स्वयमेव किया है ।

अध्यापन अर्थात् पढ़ाने का नाम ब्रह्मयज्ञ है । ऐसे प्रसङ्ग में पढ़ाने के अन्तर्गत पढ़ना भी आ जाता है क्योंकि पढ़ने वाले और पढ़ना होने पर ही पढ़ाना बन सकता है । और पढ़ने के अन्तर्गत सन्ध्याकर्म भी आ जाता है क्योंकि सन्ध्या में गायत्री का पढ़ना ही मुख्य कर्म है इसी लिये सन्ध्या के प्रसङ्ग में मनुस्मृति में लिखा है कि एकान्त बन आदि में जाकर सावित्री को पढ़े । इस सब कथन से स्वाध्याय का नाम ब्रह्मयज्ञ ठहरता है कि नित्य नियम से जिस २

वेद भाग का पढ़ना पढ़ाना वा जप पाठ आदि करना हो वह सब स्वाध्याय तथा ब्रह्मयज्ञ कहाता है ।

द्वितीय तर्पण नामक पितृयज्ञ है उसी का अवान्तर भेद आहु है । अग्नि-होत्र देवयज्ञ कहाता, वैश्वदेव-भूतयज्ञ और अतिथि पूजन नृयज्ञ कहाता है । और यज्ञ-शब्द के अनेकार्थ हैं । ब्रह्म-नाम वेद सम्बन्धिनी विद्या वा परमेश्वर की प्राप्ति जिस द्वारा की जाती है वह ब्रह्मयज्ञ, पितृ-नाम सदसद्विवेकी ज्ञानी पुरुषों की पूजा सत्कार जिस द्वारा किया जाय वह पितृयज्ञ, देव-नाम सर्वोत्तम गुण सब के लिये जिस द्वारा पहुंचाये जावें वह देवयज्ञ अथवा परमेश्वर की आज्ञा पालन द्वारा देव-नाम परमात्मा का पूजन जिस से किया जाय वह अग्निहोत्र देवयज्ञ, भूत-नाम पशु पक्षी कीत पतङ्गादि का सत्कार जिस द्वारा किया जाय वह भूतयज्ञ बलिवैश्वदेव कहाता है और नर-नाम उपदेशादि द्वारा सब को ठीक मार्ग पर चलाने वाले अकस्मात् उपस्थित हुए अर्थात् भोजन के समय आये मनुष्यों का सत्कार जिस से किया जाता है वह नृयज्ञ कहाता है ये पञ्चमहायज्ञों के नामार्थ वा शब्द सम्बन्धी अर्थ हैं ।

जिस किसी प्रकार अन्य प्राणियों को सुख पहुंचाना धर्म कहाता है । इसी अर्थ से पञ्चमहायज्ञ भी धर्म का सञ्चय कराने वाले होने से धर्मपद वाच्य हो सकते हैं । और जब ये धर्म हैं तो अधर्म की निवृत्ति भी किसी प्रकार हो सकती है । यद्यपि पञ्चमहायज्ञ ओषधि से रोग की निवृत्ति होने के समान चूल्हा-दि से होने वाले हिंसारूप दोषों के निवर्त्तक होने सम्भव नहीं । तो भी हिंसा रूप दोष से होने वाले अपराध का प्रतिपक्षी—विरोधी पञ्चमहायज्ञ से होने वाला पुण्य फल हो सकता है । अर्थात् जीवहिंसा का दुःख फल है और पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठान का सुख फल होगा । सुख से दुःख की निवृत्ति होती ही है । तथा जैसे बुरे कर्म का फल दुःख मिलता है वैसे अच्छे कर्म का सुख फल हो । वा जैसे भूख प्यास से होने वाले दुःख की निवृत्ति अन्न जलादि से होती है तब सुख उत्पन्न हो जाता है । यह भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त है अर्थात् वैसे ही पञ्चमहायज्ञ के सेवन से पुण्य फल का उदय हो कर दुःख का नाश होता है । जैसे दुःख भोगने से शरीर इन्द्रिय आत्मा और अन्तःकरण व्याकुल वा निर्बल हो जाते हैं वैसे ही सुख मिलने पर हृष्ट पुष्ट हो जाते हैं यह भी एक प्रकार दुःख निवृत्ति का उपाय है । इस प्रकार पञ्चमहायज्ञ वा सब सुकृत—पुण्य कर्म

दुःख को हटाने वाले हो सकते हैं। तथा अनेक अन्न जलादि सुख के साधनों के उपार्जनरूप प्रयत्न वा उपाय दुःख हटाने के लिये ही प्रतिदिन मनुष्य करता है। वैसे ही पञ्चमहायज्ञ भी प्रतिदिन सेवन करने योग्य हैं। जैसे—ब्रह्मयज्ञ के सेवन से मानस वाचिक दुष्कर्म से होने वाले दुःख की वासनारूप जड़ पहिले ही कट जाती है। पीछे उन (जिन का फल होना निश्चित नहीं जो ओषधि करने से रोग के समान साध्य हैं ऐसे) सञ्चित कर्मों का नाश हो जाने से दुःख भी उत्पन्न नहीं होता। तथा पितृ नामक ज्ञानियों के सेवन करने से ज्ञानीलोग अनियतविपाक सञ्चित दुष्ट कर्मों की निवृत्ति का उपाय दिखाते हैं। आगे होने वाले आचरणों को उपदेश से सुधार देते हैं तिस से दुष्ट कर्म नहीं करता जिन का फल दुःख ही। इस प्रकार अन्य भी महायज्ञ दुःख के हटाने में हेतु हैं। गृहस्थ पुरुष को उचित है कि आलस्य निद्रा और प्रमादादि को छोड़ कर उन का सेवन करे। यह संक्षेप से सामान्य पञ्चयज्ञों का विचार है ॥

अब पितृयज्ञ के दो भेद हैं तर्पण और आहु उन में तर्पण सामान्य कर भूख प्यास आदि से होने वाले दुःख की निवृत्तिरूप तृप्ति वा प्रसन्नता, मन में पूरा सन्तोष वा आनन्दरूप माना जाता है। और आहु नाम कर्म विशेष का है कि जिस कर्म के द्वारा अन्न से तृप्त हुए जन क्षुधा से होने वाले दुःख से निवृत्त होते हैं। अहु से जिस कारण दिया जाता इस लिये उस पितृ सम्बन्धी दानकर्म को आहु कहते हैं। अथवा अहु पूर्वक दिये जाने वाले अन्न का नाम भी आहु हो सकता है। इसी अर्थ से आहुभोजी शब्द सार्थक बन जाता है कि आहु—नाम अहु पूर्वक बनाये अन्न का खाने वाला। तथा इसी विचार के अनुसार—
५। २।८५। वां पाणिनि सूत्र घट जाता है कि जिस ने आहु का भोजन किया हो वह आहुी वा आहुिक कहावे गा। यहां भक्ति अहु से पकाये हुए अन्न का नाम आहु है। इसी प्रमाण से आहु शब्द भोजन से होने वाले सत्काररूप कर्म का नाम है यह निश्चित होता है। अन्यत्र भी जहां २ श्रेष्ठ लोगों के बनाये वा माननीय पुस्तकों में आहु शब्द की व्याख्या दीख पड़ती है वहां भी भोजन का ही प्रकरण है। लौकिक परिपाटी से भी भोजन सम्बन्धी सत्कार कर्म में आहु शब्द प्राप्त होता है। अनेक मनुष्य किसी नियत दिन जब किन्ही ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं तब कहते हैं कि आज हमारे घर में आहु है किन्तु वे लोग पिण्ड आदि नहीं करते केवल भोजन कराने का नाम भी आहु बोलते हैं। इस से सिद्ध हुआ

कि भोजन से होने वाले सत्कार कर्म और उस सत्कार के लिये श्राद्ध से बनाये अन्न का नाम श्राद्ध है यही सत्य सिद्धान्त है ॥

अब पितर वा पितृ शब्द वाच्य कौन हैं ? इस बात का विचार किया जाता है । नीति में लिखा है कि, उत्पादक, यज्ञोपवीत कराने वाला, विद्या दाता, अन्नदाता, और भय से बचाने वाला ये पांच पिता माने गये हैं इस प्रकार पितृ शब्द योगरूढ़ है और अपने उत्पादक पिता में रूढ़ि भी है । लौकिक लोग पितृ शब्द कहने से उत्पादक से भिन्न को नहीं जानते । अन्य लौकिक व्यवहार में पितृ शब्द से प्रकरणानुसार जनक, यज्ञोपवीत कराने, अन्न देने वा भय से बचाने वाले का ग्रहण होता है । परन्तु श्राद्ध कर्म में विशेष कर पितृ शब्द से विद्यादाता का ग्रहण होता है और अपने २ उत्पादक पिता की सेवा शुश्रूषा तो सब को सदैव करनी ही चाहिये क्योंकि जो ऐसा नहीं करता वह कृतघ्नी अवश्य है । और ज्ञान वा विद्या देने वाले ज्ञानी पिता का भी भोजनादि से प्रति दिन सत्कार करना चाहिये वही श्राद्ध है । अपने जनक और अन्य यज्ञोपवीत कराने वाले आदि की जो सेवा है उसको सामान्य प्रकार तर्पण कहते हैं । श्राद्ध कर्म में पूजने योग्य दो ही हैं पितृ और देव । जो पुरुष वाणी के कर्म में प्रवीण हैं पढ़ाने और उपदेश करने में सदा प्रवृत्त अर्थात् पढ़ाने और उपदेशादि वाणी के कर्म द्वारा विद्या का प्रचार कर के जगत् का उपकार करने के लिये प्रतिक्षण प्रवृत्त हों वे देवता कहाते हैं इसी प्रसङ्ग पर यह भी कहना अनुचित नहीं कि वाक् वाणी, सरस्वती, विद्या ये शब्द एकार्थ हैं तो प्रशस्त विद्यावान् लोगों को देव मानना ठीक सिद्धान्त है । और जो मानसकर्म ज्ञान में सदा रमण करते अपने मन ही मन में शुद्ध आनन्द की लहरियों का अनुभव करते हैं । सदा अच्छे बुरे का विवेक करते हैं । बहुत कम नियम से बोलते वा वाणी को वश में कर के मौन रहते हैं । जिस २ विषय पर सम्यक् अनुभव करलेते हैं कि जिस के प्रचार से जगत् का ठीक २ उपकार हो सकता है । उसी विषय को पुस्तकादि द्वारा सरल कर प्रचलित करते हैं वे पितर हैं “वेदविद्या का दान देने से आचार्य—गुरु को पिता कहते हैं । अज्ञानी को बालक और ज्ञानी को पिता कहते हैं” इत्यादि मनु जी के प्रमाणों से पूर्व का कथन सिद्ध होता है । शतपथ ब्राह्मण में भी स्पष्ट लिखा है कि—

देवाः पितरो मनुष्या एतएव वागेव देवाः ।

मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ शत० १४।१।३।१२ ॥

इस का अभिप्राय यह है कि जिन में वाणी के कठोर, मिथ्याभाषण, झुगली और असम्बद्ध बोलनारूप चार दोष न हों किन्तु सत्यबोलना, हितकारी वाक्य बोलने, प्रियवाणी बोलना और वेदादिशास्त्र पढ़ना इन्हीं चार प्रसङ्गों में वाणी का व्यय करना किन्तु क्रोधादि पूर्वक नहीं बोलना यह गुण जिन में हो वे देव हैं और मानस विचार में तत्पर रहें अर्थात् मन के तीन [अन्य के वस्तु को लेने की तृष्णा, दूसरों का अनिष्ट विचार, और व्यर्थ असम्भव विचार ये] दोष जिन में न हों तथा मानस तीन गुण—सब प्राणियों पर दया, निरपेक्षा, वा सन्तोष और शुभकर्मों वा परमात्मा की उपासनादि में श्रद्धाभक्ति जिन में विशेष कर हो वे पितर कहाते हैं। सारांश यह है कि वाचिक पापों से रहित और वाचिक पुण्य करने में विशेष कर प्रवृत्त देव और मानस पापों से रहित मानस पुण्य करने में अधिक कर प्रवृत्त पितृ कहाते हैं। जिन की वाणी सब प्रकार शुद्ध है वे देव और जिन का मन सब प्रकार शुद्ध है वे पितृ लोग कहाते हैं। मानस विचारकी रक्षा वाणी से होती है इसी अभिप्राय से पितृ कार्य का रक्षक देवकार्य को माना है। तथा देव को ऋषि और पितृ को मुनि भी उक्त विचारानुसार कह सकते हैं। देव, ऋषि, पितृ, सब आते हैं वहां ऋषि पद वाच्य ब्रह्मचर्याश्रमस्य वेदाध्येता तपस्वी अग्निवासी शिष्य लिये जावेंगे इत्यादि। इसी विचार को पुष्ट करने के लिये तृतीयाध्याय के श्राद्धप्रकरण में मनु जी ने स्वयमेव कहा है कि “जिन में सत्त्वगुण की प्रधानता होने से बुद्धिबर्द्धक तथा खाने योग्य हों वे कव्यपदार्थ प्रयत्न के साथ ज्ञानियों को खवाने चाहिये। और होमने योग्य वस्तु चारों प्रकार के विद्वानों को खवाने चाहिये इसी कारण उपनिषदों में भी “आत्मज्ञानी की पूजा करे” ऐसा लिखा है इससे भी ज्ञानी लोगों का ही सत्कार आता है। सत्य असत्य का विवेक करने वाले ज्ञानी जनों की जो लोग सम्यक् श्रद्धा भक्ति से सेवा करते हैं वे उन सेवकों पर प्रसन्न हो कर कल्याण करने के लिये मन लगाते हैं। और श्रेष्ठमार्ग का उपदेश करते वा संकेतमात्र से जता देते हैं कि यह काम ऐसे करना चाहिये और यह न करना चाहिये। इसी कारण ज्ञाननिष्ठ पितृजनों के सेवक भी कल्याणभागी होते हैं। इसी से ज्ञानयुक्त पितृजनों की अन्नादि दान से श्रद्धा पूर्वक सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये। सब सत्कारों में भोजनार्थ अन्न से सत्कार करना ही सब में मुख्य है। क्योंकि वेद का सिद्धान्त है कि प्राणियों का प्राण अन्न के आश्रय है। और भोजन से

ही इस शरीर की उत्पत्ति स्थिति और नाश हो सकता है। सात्त्विक-सत्त्वगुण का बढ़ाने वाला आहार मिलने पर शरीर नीरोग और सत्त्वगुण वाली प्रबल बुद्धि होती है इसीसे धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि है। वस्त्र और भूषण आदि सुख के साधनों के न मिलने पर भी केवल अन्न और जल के आश्रय से शरीर ठहर सकता है परन्तु अन्न जल न मिलने पर लाखों रुपये वा सब पृथिवी का राज्य मिल जाने पर भी शरीर की स्थिति नहीं रह सकती इससे तर्पण और श्राद्ध में अन्न जलों से सत्कार करना मुख्य है। पूर्वकाल से श्रेष्ठ लोगों की भी यही परिपाटी चली आती है [अब थोड़े दिनों से कुछ परम्परा बिगड़ी है कि मरे हुआ के नाम से पिण्ड देने लगे और इस अंश को प्रायः आर्षपुस्तकों में भी मिला दिया] इस लिये भोजन से मुख्य कर सब को ज्ञानी पितृ लोगों का श्राद्ध करना अन्ततः उचित है ॥

अब यह विचार किया जाता है कि श्राद्ध भी नित्यकर्म है वा नैमित्तिक ? इस का उत्तर यह है कि दोनों प्रकार का हो सकता है। जैसे मनुष्य को नित्य श्राद्ध करना चाहिये यह विधि—आज्ञा है। सो मनुस्मृति में ही लिखा है कि “नित्य २ अन्न, जल, दूध वा खीर फल और कन्द मूलों से पितृ-नाम ज्ञानी पुरुषों का प्रीतिपूर्वक श्राद्ध से सत्कार करे” (यहां नित्यकर्म श्राद्ध के विधान में भोजन के पदार्थ गिनाये हैं। इन में मांस अभ्युक्त होने से नहीं रक्खा गया। इसीसे अन्यत्र जहां २ मांस का प्रयोग श्राद्ध में लिखा है वहां २ सर्वत्र प्रक्षिप्त जाने) तथा पञ्चमहायज्ञ सामान्य कर नित्यकर्म हैं उन के अन्तर्गत होने से भी श्राद्ध नित्यकर्म सिद्ध होता है यह सब कथन उत्सर्गरूप से है।

और अपवादरूप से नैमित्तिक भी श्राद्ध है। अर्थात् जो कोई प्रतिदिन भोजनादि सत्कार के साधनों के न मिल सकने से श्राद्ध नहीं कर सकता। अथवा जिसको सत्कार के योग्य पितृजन नित्य २ नहीं प्राप्त होते उस को साधनों के मिलने और पूज्य पितृजनों की प्राप्ति होने पर श्राद्ध करना चाहिये [पूजा के योग्य पितृ कहने से किन्हीं अवस्था में बड़ों का ग्रहण नहीं समझना क्योंकि—

“अज्ञो भवति वै वालः पिता भवति मन्त्रदः”

इस कथन से सिद्ध है कि ज्ञानवृद्ध का नाम पिता है किन्तु अवस्था वृद्ध का नाम नहीं] नैमित्तिक श्राद्ध के लिये कोई समय भी नियत करना चाहिये। इसी लिये हमारे पूर्वजों ने नैमित्तिक श्राद्ध के लिये समय नियत किया था ऐसा

अनुमान होता है। इसी कारण "आहु शरदः। ४। ३। १२" इस पाणिनीय सूत्र की व्यवस्था ठीक लग जाती है। इस सूत्र का आशय यह है कि ऋतुवाचक शरद् शब्द से आहु अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। यद्यपि शरद् ऋतु में अनेक सामान्य वा विशेष कार्य होते हैं तथापि शरद् ऋतु में हुए वा होने वाले आहु का ही नाम शारदिक पड़ेगा अन्य शरद् ऋतु के कामों को शारद कहेंगे। परन्तु इस कथन से यह तात्पर्य नहीं है कि शरद् ऋतु में ही आहु किया जाय अन्य में न किया जाय वा अन्य ऋतु में आहु नहीं होता। किन्तु अभिप्राय केवल यह है कि अन्य ऋतु वाचक शब्दों से ठञ् न हो किन्तु अण् ही हो तिससे "शै-शिरं आहुम्" ऐसा भी कह सकते हैं। और किसी अपवाद सूत्र से किसी प्रयोजन से विशेष कर प्रत्यय का विधान करना उस वस्तु कर्म वा भाव का किसी विशेष समय में अधिक प्रचार होना सूचित कराता है। जैसे शरद् ऋतु में रोग और सूर्य के तेज की विशेषता होती है। इसी कारण शरद् शब्द से "विभाषा रोगातपयोः" इस पाणिनीय सूत्र द्वारा विशेष प्रत्यय विधान किया जाता है। वैसे ही यहां भी शरद् ऋतु में नैमित्तिक आहु की विशेषता अनुमान से जाननी चाहिये। साधनों के ठीकर न मिलने आदि पर आहु का नैमित्तिक करना कहा गया है। वे भोजन करने योग्य वस्तु सर्वोपरि उत्तम पदार्थ दुग्ध से बनते अर्थात् खोया के पेड़ा बरफी आदि रबड़ी खीर आदि अनेक प्रकार के मीठे वा दही मठा शिखरन आदि वस्तु सब दूध से बनते हैं। और वर्षा ऋतु के होने से गौ आदि पशुओं के भोजन घासादि मुख्य कर उसी समय वा उससे कुछ पहिले अवश्य उत्पन्न होते और पशुओं के भक्ष्य घासादि की अधिकता से दूध अधिक तर उत्पन्न होता है इस कारण खीर आदि वस्तु सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं और आहु में खीर आदि पुष्ट वस्तुओं का प्रायः विधान किया है और अन्नां के बीच उत्तम चावल मुख्य माने गये हैं वे भी वर्षा की अधिकता से शरद् ऋतु में ही उत्पन्न होते हैं। इसी कारण द्वार के सहिने में पूर्वकाल से नैमित्तिक आहु की परिपाटी चलाई गई थी। और वह सत्य परम्परा अब नष्ट हो गयी अर्थात् वह आहु जिस उद्देश से पहिले चलाया गया था वैसा उद्देश अब नहीं रहा। अब कोई वैसे ज्ञानी लोगों को आहु के लिये न खोजता और न परीक्षा करता और न उसके मुख्य प्रयोजन को समझ कर आहु करता किन्तु अब विपरीत अधिक कर होता है। परन्तु सत्पुरुष आर्य अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय

वैश्यों को उचित है कि पूर्वोक्त प्रकार से फिर सत्य परम्परा का प्रचार करें । जो लोग उक्त कारण से नित्य श्राद्ध नहीं कर सकते उन के लिये नैमित्तिक श्राद्ध का समय विशेष नियत करना चाहिये यह कह चुके हैं । सो इस की अत्यन्त आवश्यकता इस लिये भी है कि अन्य भी जिन २ कार्यों का समय नियत किया जाता है वे ही काम यथार्थरूप से वा जिस किसी प्रकार अवश्य होते हैं । अर्थात् मनुष्य में प्रायः कुछ गुण ऐसे लगे हैं कि वह अधर्म की ओर तो शीघ्र झुक जाता वा ऐसे कामों में शीघ्र लगजाता है जिन से उस को प्रत्यक्ष कुछ स्वार्थसिद्धि दी-खती है । ऐसे काम अधिकांश में मुख्य धर्मसम्बन्धी नहीं हैं तात्पर्य यह कि ऐसे कामों का समय नियत न किया जाय तब भी वह प्रायः कर सकता है परन्तु जो मुख्य धर्मसम्बन्धी काम हैं वा जिन का स्वार्थ प्रत्यक्ष नहीं दीखता वा जिन कार्यों के सिद्ध होने में अत्यन्त परिश्रम की अपेक्षा है उन कार्यों के करने से प्रायः बचता रहता है और बहुत से कार्यों की मरण पर्यन्त इच्छा ही करता रहता है पर कुछ भी नहीं कर पाता इस लिये मुख्य वा सर्वोत्तम धर्मसम्बन्धी कार्यों के करने का यदि समय नियत हो तो लोकलज्जादि से तो भी कुछ करने पड़ता है और नियत समय पर प्रायः आलस्य स्वयं दूर हो जाता है। यह बात लोक में दीख भी पड़ती है कि अनेक मनुष्य लोक लज्जादि के कारण अनेक दुष्कर्मों से बच जाते और जिन शुभ कामों का समय नियत है ऐसे अनेक काम लोकलज्जा वा देखादेखी अवश्य करने पड़ते हैं । परन्तु जिन कर्त्तव्य शुभकामों का कोई समय ही नियत नहीं है उन को प्रायः लोग आलस्यादि के वश होने से नहीं कर पाते । आज कल में अमुक कार्य करेंगे इस प्रकार कहते २ ही काल आकर घेर लेता है । उस समय शोकरूप समुद्र में गोता लगाते हैं । इस लिये यदि पूर्वज लोगों के नियत किये नैमित्तिक श्राद्ध के शरद्भ्रातृ वा अमावास्या-दि समय किसी प्रकार दोषयुक्त ठहरे [अर्थात् जिस कार्य की परिपाटी मुख्य उद्देश्य को छोड़ कर अन्यथा हो जाती है वे कार्य वा उन के समय शिष्टलोगों में प्रायः दूषित समझे जाते हैं क्योंकि उन समयों में प्रायः उसी परिपाटी वालों में संशय होने सम्भव है । जैसे विष्णु के भक्त वैष्णव वा ब्रह्म के उपासक ब्राह्म इत्यादि शब्द अच्छे हैं पर वे एक २ मत विशेष के साथ प्रचरित हो जाने से दूषित हो गये इसी कारण आर्य लोग अपने को ब्राह्म, वैष्णव वा शैवादि नामों से न लिख सकते और न कह कर प्रसिद्ध कर सकते हैं इसी प्रकार यदि अशिष्ट

वा अन्धपरम्परा यस्त लोगों से परिग्रहीत होने से समय दूषित समझा जावे] तो आर्य लोगों के अन्य कोई समय नियत करना चाहिये कि अमुक २ समय में हम लोगों के नैमित्तिक श्राद्ध कर्त्तव्य है। उस नियत समय पर पूर्व से ही पूज्य पितृ-जनों का बुलाना और भोजन की सामग्री का जोड़ना उचित है और इसी प्रकार अनेक लोग करते भी हैं तो भी आर्य लोगों के विशेष कर शुभकर्म का प्रचार करने के लिये [कि जो कर्म अज्ञान से विपरीत भाव को प्राप्त हो गये हैं उन से हानि ही होती है उन] श्राद्धादि कर्मों के नियत २ समय पर सत्य उद्देश के साथ विशेष कर प्रवृत्त करना चाहिये यही सर्वसाधारण के सुधार का उदाहरण हो जायगा। ऐसा करने से ही विपरीत कर्मों की निवृत्ति हो सकती है। किन्तु विरुद्ध चाल के खण्डनमात्र से निवृत्ति होना दुस्तर है। इस लिये साधन और समय के अनुसार अन्नादि सामग्री से श्राद्ध भक्ति पूर्वक विवेकी लोगों का सेवनरूप श्राद्ध आस्तिक सज्जन लोगों के अवश्य करना चाहिये यही मुख्य सिद्धान्त है ॥

अथ पौराणिकउवाच—यादृशं श्राद्धं तर्पणं वा त्वया पूर्वमुक्तं तादृशं वेदानुकूलं मानवधर्मशास्त्राद्यनुकूलं वा सम्भवति किम् ? । मन्त्रब्राह्मणोपनिषद्बृहत्सूत्रस्मृतीतिहासपुराणाद्यखिलशिष्टसम्मत-पुस्तकेषु स्मृतानां पितॄणां श्रद्धयापिण्डाद्यर्पणं श्राद्धमिति प्रतिपादि-तमस्ति तथा च परम्परयानादिकालात्सर्वे श्राद्धं कर्माचरन्ति । वेदे-षु—आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः । पितृ-भ्यः स्वधाभिभ्यः स्वधा नमः । इत्यादिमन्त्रेषु श्राद्धस्य कृत्यमुक्त-म् । शतपथब्राह्मणे—अथ नीविमुत्सृज्य षट्कृत्वो नमस्करोति । न्युष्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् । तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्ज्याह्नेपभागिनाम् ॥ इत्यादिरीत्या मनुस्मृतावपि श्राद्धस्य पूर्ण विधानं दृश्यते । गयाश्राद्धेन पितॄणां मोक्षो जायते इति सर्वत-न्त्रकारेषु प्रसिद्धम् । एतदर्थमेव पुत्राणामावश्यकतास्ति । तथाचोक्त-मपुत्रस्य गतिर्नास्ति । एवं सर्वसम्मते स्मृतपितॄणां श्राद्धे ये केचि-द्दिश्वासं न कुर्वन्ति नास्तिकास्ते सन्तीति । अथर्ववेदे च स्मृतानां

तर्पणं स्पष्टतयैवोक्तम्—ये जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य (जलस्य) कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती । इत्यादिना
मृतपितॄणां श्राद्धं तर्पणं च सिद्धम् ॥

एवं प्राप्ते समाधानमिदमुच्यते—नास्त्यत्र सन्देहो यद्देवादिभिरेषु
ब्राह्मणाद्यार्षपुस्तकेष्वपि यथाकथञ्चिन्मृतपितॄणां श्राद्धमुपलभ्यते
तच्च स्वार्थसाधनतत्परैरेव नियोजितमित्यनुमीयते । कुत्रचिन्मृतानां
श्राद्धं नास्ति तत्रापि बुद्धेर्भ्रान्तत्वात्तथैव दृश्यते तस्य चाज्ञानमेव
कारणम् । मृतपितॄणां यद्यनादिकालाच्छ्राद्धं नृनृत्तं तर्हि सर्गारम्भे
समुत्पन्नैर्ब्रह्मादिभिः केषां मृतानां श्राद्धं कृतम् । यदा च मरीच्यादि-
ऋषिभ्योऽग्निष्वात्तादिपितृगणानामुत्पत्तिः प्रदर्शिता तर्हि मरीच्या-
दिभिरपि श्राद्धतर्पणे न कृते किम् ? । यदि कृते तर्हि किं पितृस्था-
ने स्वेषां पुत्राणां कृतेइति मन्यते युष्माभिः ? । अनेनानादिकाला-
च्छ्राद्धं प्रवृत्तमिति सत्यं नास्ति । यदि कश्चिद्वदेन्नमूलं प्ररोहतीति
न्यायाच्छ्राद्धं निर्मूलं कथम्प्रवृत्तमिति शृणु—यदा च पूर्वोक्तप्रकारे-
णास्माभिर्ज्ञानिपुरुषाणामन्नादिना सत्कारः श्राद्धमिति प्रतिपाद्यते
तदा नामूलं श्राद्धं भवति । ब्रह्ममरीच्यादिभिरपीदृशं श्राद्धं कर्तुं
शक्यते तदानीमपि तद्विज्ञानां ज्ञानिनां सत्त्वात् । तस्मादस्माकं मते
परम्परया नित्यं श्राद्धं भवितुमर्हति । मृतानां श्राद्धस्य जीवतां
श्राद्धमेव मूलमतो नामूलम् । श्राद्धन्तु पक्षद्वयेऽपि कर्तव्यमेव नास्ति
तस्य कर्तव्यत्वे विवादोऽपितु प्रकारे विवादः । पौराणिकैरपि प्रत्यक्षे
जीवतामेव सत्काररूपं श्राद्धं क्रियते नहि मृताः पितरः क्वाप्यागत्य
भुञ्जतइति कश्चिदप्यङ्गीकर्तुमर्हति । केवलं हठपूर्वकं कथनमेव विवा-
दास्पदम् । फले च विवादः श्राद्धस्य कर्त्ता फलं लभते नहि मृताः

पितरः । पूर्वकाले यदा कश्चिन्मृतस्तस्य च सम्बन्धिनः शोकपरिष्कृता जाताइति मत्वा तेषामुपदेशका गुरुजनाः स्वशिष्याणामुपदेशेन शो-
कनिवृत्तये स्वयमागतवन्तस्तैः शिष्यैराहूता वा आगत्य तच्छोकनि-
वृत्त्युपायं कृतवन्तस्तदा च शिष्याः सत्कारं कृतवन्तः । इयं च पर-
म्परा कश्चित्कालं प्रवृत्ताऽनन्तरमविद्याग्रस्तैः स्वयमेव कल्पितमेषां
ब्राह्मणानां सत्कारेण मृतास्तृप्ता भवन्ति तदारभ्य मृतानां श्राद्धं
प्रवृत्तमित्यनुमानं सम्भवति । यद्वा ज्ञानिनां सत्कारः सेवनमपि पुण्यं
कर्म तच्च पुण्यं शोकावसरे क्रियमाणं शोकघ्नं स्यादिति सम्भवम् ।
तस्मादेवम्भूतेऽवसरे पुण्यं कार्यम् । यद्वा कस्यचिन्मरणानन्तरम-
वशिष्टाः शोकग्रस्तत्वेन कथञ्चिद्विद्वन्नादिभ्यो विरक्ता भवन्ति तदानीं भो-
जनादिदानं तैः सुलभतया क्रियते । अन्यदा च कश्चिदुदारएव धनव्ययं
कर्तुं प्रवर्तते न च कृपणाः साधारणा वा । इत्येवं विचार्य कैश्चि-
द्विचारशीलैर्मरणानन्तरं दानं पुण्यं ज्ञानिनां च सत्कारः कार्यइत्यु-
पदिष्टमन्यैश्चाविद्याग्रस्तैस्तेन मृतानां तृप्तिः फलं कल्पितं कियता काले-
न च पिण्डादिरक्षणमप्यन्यैः कल्पितम् । सद्गन्धेषु प्रवेशितं च येनाग्ने
निरन्तरं प्रवृत्तिः स्यादित्यनुमातुं शक्यते । एवं सत्यं सनातनं श्रा-
द्धमेवास्यान्यथाश्राद्धस्य मूलमतो नामूलं न च सनातनमनादि-
कालात्प्रवृत्तमिति सिद्धम् ॥

यदि बहुकालाद्यद्वा ऋषीणामार्यराजां समयाद्वा मृतानां श्राद्धं
प्रवृत्तं तदापि बहुकालात्प्रवृत्तत्वेन यदि प्रामाण्यं स्यात्तर्हि चौर्या-
दिकमपि सज्जनैः कार्यम् ? । चौर्याद्यधर्मस्यापि सर्गारम्भादेव प्रवृत्तेः ।
आयन्तु नः पितरइत्यादिमन्त्राणान्तु ज्ञानिनां पितृत्वएव निर्दोषः
सम्बन्धः सम्पद्यते न तु मृतानां पितृत्वे । सोम्यासः सोमं शान्ति

भावमर्हन्ति । अग्निराहवनीयादिः सुष्ठुप्रकारेणात्तो गृहीतो होतुं स्वी-
कृतो यैस्तेऽग्निष्वात्ता नोऽस्माकं पितरः पालका देवयानैः श्रेष्ठजना-
नामां मार्गैरायन्तु—आगच्छन्तु । नद्यत्र मृता इति विशेषणमस्ति न
चोक्तविशेषणानि मृतेषु कथमपि घटन्ते । तस्मान्मन्त्रेषु जीवतामेव
ज्ञानिनां पितृत्वेन ग्रहणम् । शतपथेऽपि नीविमुत्सृज्य षट्कृत्वो
नमस्करोति—इति वाक्येन मृतानां श्राद्धं कार्यमिति नैवायाति
नहि तत्र मृतानां ग्रहणमस्ति । कदाचित्छतपथादिषु मृतानां श्राद्धं
कार्यमिति केनाप्यभिप्रायेण लिखितं भवेत्तथापि नास्ति दोषस्तस्य
वेदविरुद्धत्वात्प्रमादादिदोषदुष्टत्वाच्च । मनुस्मृतौ तु तृतीयाध्यादिषु
बहूनि पद्यानि मृतेभ्यः श्राद्धदानप्रतिपादकानि सन्तीति मयाप्यु-
रीक्रियते । नहि तस्य लेखनमात्रेणैव कर्तव्यत्वमायाति । एवं
स्यात्तदा तु चौर्यं परस्त्रीगमनं वा कुत्रचिल्लिखितं तदपि कर्तव्यं प्रा-
प्नोति । तेषां निर्धारणमग्रे तृतीयाध्यायप्रक्षिप्तसमीक्षायां करिष्यते ॥

गयाश्राद्धं तु तत्रस्थैर्धूर्तैः परपदार्थापहर्तृभिः स्वार्थसिद्धये कलिप-
तमित्यनुमीयते । यदि कश्चिद्दिद्वानत्र मनोदध्यात् तदा गयाश्राद्धेन
श्राद्धस्य नित्यकर्मत्वं नश्यति, कुतो गयाश्राद्धानन्तरं पितरः श्राद्धं
भोक्तुं न स्थास्यन्ति किन्तु मुक्ता भविष्यन्ति । पुनस्तेन निष्फल-
मिति मत्वा न कार्यमिति नैत्यिकत्वं न सम्भवति । तथा च पौरा-
णिकपक्षे महान् दोषः । यदि गयाश्राद्धेन पितॄणां मोक्षः स्यात्तर्हि
नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय इत्यस्माद्देदवाक्यादिरुद्धं यज्ज्ञानमन्त-
रेण मोक्षो भवेत् । नचायं सर्वशास्त्रकाराणां सिद्धान्तोऽपितु मत-
वादग्रस्तपुराणानां मतमिदम् । अपुत्रस्य गतिर्नास्तीत्यपि वाक्यमे-
कदेश्यस्ति । यद्यपुत्रस्य गतिर्नास्ति तर्हि ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्ब्रह्मा

वनाद्देति ब्राह्मणोपनिषद्वाक्याज्ञया ब्रह्मचर्याश्रमादेव संन्यासग्रहणं परमार्थसाधनाय मोक्षाय वा स संन्यासो मिथ्यात्वं प्राप्नोति । ब्रह्मचर्याश्रमात्संन्यस्तो नैवापत्यमुत्पादयति । सम्यग्गतिः स्यादेवमर्थं च संन्यासः । तथा मनुनापि स्पष्टमेवोक्तम्—अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् । स्पष्टं च पद्यमिदम् । एवमितिहासादिष्वप्याजन्मब्रह्मचारिणां भीष्मादिमहज्जनानां सन्ततिरहितानामपि सुगतिः श्रूयते । तेनापुत्रस्य गतिर्नास्तीति वाक्यमन्याशयकं न च परमार्थसाधनपरम् । मृतानामस्मदादिपितॄणां यदि योगाभ्यासेश्वरोपासनादिशुभकर्माणि सञ्चितानि सन्ति यानि तैः स्वस्य वर्तमानकाल आचरितानि तर्हि तेषां शुभकर्मणां फलेनैव पितॄणां सुगतिरवश्यं भविष्यति । तच्च भगवद्गीतासु षष्ठे द्वितीये चाध्यायउक्तम्—

नहि कल्याणकृत्कश्चिदुर्गतिं तात गच्छति ॥ ६ ॥

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २ ॥

एतेन सिद्धमस्मिन् जन्मनि परिश्रमेणोपार्जितो धर्मएव जन्मान्तरेऽपि सुखं ददाति । एवं धर्मात्मानः पितरः स्वकर्मभिरेव तरिष्यन्ति । तदर्थं श्राद्धफलकल्पनमनर्थकम् । यदि कश्चिद्धर्मं कृत्वापि दुर्गतिमाप्नुयात्तर्हि पापात्मापि सुगतिमाप्तुं शक्नोति तदापि मृतोद्दिष्टश्राद्धस्य नैष्कल्यमेवागतम् । यस्य च सुगतिः फलं सएव धर्मो दुर्गतिफलकश्चाधर्मः । यथा धर्मस्य नियतविपाकस्य ध्रुवं फलमाप्नोति तेन यथा धर्मात्ममृतपित्रर्थस्य श्राद्धस्य नैष्कल्यमेवमधर्मस्यापि नियतविपाकस्य दुःखं फलमवश्यमाप्स्यति तेन तथैवाधार्मिकपित्रर्थस्यापि श्राद्धस्य नैष्कल्यमापन्नम् । तस्मान्मृतोद्देशेन श्राद्धं न कार्यमपितूक्तप्रकारेण जीवतामेव कार्यम् ॥

अपुत्रस्य गतिर्नास्तीत्यस्यायमाशयः—पुत्राणामुत्पत्तिः संसारिणावश्यं कार्येति बहुषु शास्त्रेषु दृश्यते । तत्र सर्वत्रैव मुख्यतया हेतुः प्रयोजने स्वार्थः परार्थश्च । स्वार्थस्तावलोकेऽपि प्रसिद्धो यथा लौकिका अपि कथयन्ति यदि कश्चित्सुपुत्रः स्यात्तर्हि वार्द्धक्ये धनद्युपार्जनं कृत्वा भोजनाच्छादनादिनास्मान् तत्स्पर्शयति । कुपुत्रास्तु प्रत्युत पितृन्सन्तापयन्ति प्रतिष्ठामपि विधातयन्ति रक्षणं तु दूरम् ।

अजातमृतमूर्खाणां मृताजातौ सुतौ वरौ ॥

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतैरपि ॥

एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।

वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा ॥

इत्यादिनीतिवाक्यानामध्यमेवाशयः—यत्कुलदीपकेन सुपुत्रेणैकेनापि सर्वं कुलं प्रसन्नं सुखसम्भोगासम्पन्नं प्राप्तप्रतिष्ठं विख्यातं च जगति जायते । एवमर्थं कुलदीपकपुत्रप्राप्त्यर्थः सर्वैः प्रयत्नः कार्यः । यादृशं सुखं सुपुत्रवतः कुलस्य पितुर्वा सम्पद्यते नहि तादृशमपुत्रस्य स्वप्नेऽपि भवितुमर्हति । अतएव महाभारत उद्योगपर्वण्युक्तम्—वश्यश्च पुत्रइत्यादि । जरावस्थायां सर्वेषां शक्तिरपि जीर्यति । शक्तेरपि जीर्णत्वाज्जरावस्थोच्यते । तदानीं शक्तिविहीना वृद्धा जनाः स्वहस्तपादाद्यवयवैः स्वस्यापि सर्वं कार्यं यापयितुमशक्ता भवन्ति तदा धनद्युपार्जनस्य भोजननिर्माणस्य तु कथं का ? । एवंभूते समये येषां निकटे पूर्वोपार्जितं धनादिकमपि नास्ति तेषां सत्पुत्रैः स्वबलेन धनादीनुपार्ज्यं भोजनादिदानेन सर्वविधपरिचर्यया च रक्षा कार्या । येषां च निकटे पूर्वोपार्जितं धनादिकमस्ति तेऽपि भृत्यैस्तादृशं सुखं नावाप्तुमर्हन्ति यादृशं घृणादित्यागपुरस्सरं स्वात्मजः सुखं

दातुं शक्नोति । लोके च येषां पुत्रा न सन्ति तेषां मरणावसरे प्राप्ते प्रायः सुगतिर्न दृश्यते । यादृशं स्वत्वं मनुष्येणोपार्जितं तस्य रक्षोपयोगाय कुलपरम्परायापनाय च पुत्रैर्भाव्यम् । न ह्यन्योऽन्य-
धनेन तदभीष्टमेव कार्यं करोति । किन्तु सुपुत्रः पित्रोपार्जितधना-
दिना पितुरभीष्टान्येव धर्मकार्याणि करोति । इत्यादिप्रकारेण पुत्रो-
त्पत्तिः स्वार्था प्रधानतया सज्जनैः स्वीक्रियते ॥

अथ—परार्था—परमेश्वरेण मनुष्या धर्मरक्षायै धर्मस्य व्यवस्था-
पनाय मर्यादापालनाय च विनिर्मिताः । अतएवोक्तम्—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

तस्माद्धर्ममाचरता मनुष्येण शक्तिसमये मरणात्पूर्वमेव स्वस्य
प्रतिनिधिः सुपुत्र उत्पादनीयः । यथा स्वयं परमात्मसृष्टौ धर्म-
सेवनं कृतवान् करोति वा यस्य यस्य यथायथोपकारः कर्तुमारब्धः ।
यानियानि धर्मकार्याणि दानादीनि कुलपरम्परातो निबद्धानि स्वेन
च सेवितानि तानि तथैव पुत्रः कर्तुमनुशास्यः । येन तस्मिन् मृते-
ऽप्युपकारसम्बन्धि कार्यं तथैव निर्विघ्नं प्रवृत्तं भवेत् ॥

शौच्यं मैथुनमप्रजमित्यनेन सूच्यते गृहाश्रमरूपदारपरिग्रहस्य
पुत्रोत्पत्तिः फलं यदि पुत्राणामुत्पत्तिर्गृहाश्रमिणा न कृता मैथुन-
मेवाचरितं तर्हि तस्य दारपरिग्रहो निष्फलः । परमेश्वरेण च जगतः
स्थित्या धर्मवर्द्धनायेयं सृष्टिः कृता यदि पुत्रोत्पत्त्यर्थो यत्नो न स्यात्तर्हि
जीर्णशरीराणां मरणान्नूतनानां चोत्पादाभावात्सृष्टेरुच्छेदः प्रसज्ये-
त । स च परमेश्वरेच्छातो विरुद्धोऽतः परमात्माभिप्रायोऽस्ति सन्ता-
नोत्पत्तिः कार्येति । एवं यो न करोति स परमात्माज्ञाविधातकइति

कृत्वा तस्य सुगतिर्न स्यादिति वक्तुं शक्यते । एतच्चोत्सर्गरूपेण सामान्यं कथनं तेन बालब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्याश्रमादेव विरज्यन्ते ते गृहाश्रममपि न कुर्वन्ति । पुत्रोत्पादनेन तावन्तमुपकारं कर्तुं न शक्नुवन्ति यावन्तमाजन्म ब्रह्मचर्याश्रमेण कर्तुं शक्नुवन्ति । अतस्ते निःसन्तानदोषेण न लिप्यन्ते । जरावस्थायां च गृहाश्रमिव-दक्षीणत्वाच्छिथिला अपि न भवन्ति येषां पुत्रैरेव सुगतिः स्यात् । युवावस्थायां च ते बहूनां महोपकारं कुर्वन्ति तत्प्रत्युपकारमाचरन्तस्तच्छिष्याः प्राप्तशिक्षा वृद्धत्वे तान् मनसा वाचा कायेन च निरन्तरं परिचरन्ति सन्तोषयन्ति च । एवं विद्याधर्मसम्बन्धिनस्तेषामनेके शिष्याः पुत्रवदेव भवन्ति ॥

अथ श्राद्धे पिण्डदानं कथं प्रवृत्तम् ? । चतुरः प्रातरश्रीयात्-पिण्डान् विप्रः समाहितः ॥ इत्यादिपद्येषु मनुस्मृतावेव पिण्डशब्दो ग्रासपर्यायत्वेन स्वीकृतः । पिण्डशब्दस्य यथासम्भवमन्येऽप्यर्थाः सम्भवन्ति । तथापि ग्रासपर्यायएवात्र श्राद्धउपयुज्यते । ग्रासश्च चान्द्रायणादिषु मोदकाकारेण लक्षितः । एवं च मोदकादिप्रकारकाः सर्वे मिष्टान्नविशेषाः पिण्डशब्दाभिधानाः पायसादिसर्वोत्तमस्वाद-ष्ठवस्तुभिर्निर्मिता ज्ञाननिष्ठपितृजनानां भोग्यवस्तुष्वग्रगण्यत्वेनोप-युक्ता आसन्नित्यनुमीयते । अनन्तरं च यदा मृतोद्दिष्टं श्राद्धं कैश्चित्क-ल्पितं तदा पिण्डानामपि दुर्गतिरभूत् । यद्दानीमर्द्धपिण्डानां सतु-पाणां केवलजनानामेव यथाकथञ्चिन्निर्माय दीयन्ते यादृशमन्नं पशु-भ्यो भक्षणाय दीयते । पितृभ्यः पिण्डा देया इत्येवं पुरातनपुस्तकेषु श्राद्धप्रसङ्गे यत्रयत्र लिखितमासीत्तस्यायमाशयोऽस्ति यन्मोदका-दयो गोलाकारा मिष्टान्नविशेषाः पितृभ्यां भोजनावसरे देया इति ।

अनन्तरमविद्याप्रभावेण मुख्याशयमबुद्ध्वा मृतेभ्यः पिएडा देयाइति कैश्चित्कल्पितमित्यनुमीयते तच्च नास्ति सम्यक् ॥

अथर्ववेदेऽपि तर्पणस्य विधानं नास्ति । ये केचित्तेन मन्त्रेण मृताइति पदमाश्रित्य मृतानां तर्पणं निस्सारयन्ति तैर्जीवाइति पदेन जीवतामपि तर्पणं निस्सार्यम् । यदि कोऽपि जीवाइति पदं मृता इत्यस्य विशेषणमिति वदेत्तस्य मते समुच्चयार्थस्य चकारस्य नैरर्थ-
क्यमापत्स्यते । चकारेण च स्पष्टं प्रत्याप्यते यन्मृताइति पृथक्प-
दम् । सर्वनाम्नो यच्छब्दस्य च येइति चत्वारि रूपाणि मन्त्रस्य पू-
र्वार्द्धेणैव परिपठितानि तान्यपि सर्वेषां पृथक्त्वं बोधयन्ति । कथन-
मात्रं कोऽपि करोतु । किन्तु नैवास्वार्थं मृतपितॄणां तर्पणपक्षे याथा-
र्थ्येन व्यवस्थापयितुं शक्नोति तस्मान्नैवास्मान्मन्त्रान्मृततर्पणस्य
लेशोऽपि निस्सरति । किन्तु संसारोपकारिण्येकविधा विद्याऽस्मान्नि-
श्चिता निस्सरति । साचागे व्याख्यायते ॥

अ०-(ये,जीवाः) जीवन्ति कथञ्चित्कष्टेनान्नजलादीनुपलभ्य
प्राणधारणं कुर्वन्ति । पचाद्यजिति वर्तमानकाले कर्त्तरि-अच्प्रत्ययः
(ये,च,मृताः) येऽपि म्रियन्तेऽन्नजलाद्यभावेन प्राणांस्यजन्ति त्यक्तुं
वा उद्यता भवन्ति । अत्र मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्चेति चकारस्यानुक्तस-
मुच्चयार्थत्वाच्छन्दसि सर्वविधीनां बाहुलकत्वाद्वा वर्तमाने क्तः (ये,
जाताः) सद्यः प्रादुर्भूता अल्पवयस्काः पशुपक्ष्यादयोऽङ्कुररूपा वृ-
क्षादयो वा (ये,च,यज्ञियाः) यज्ञकर्मणि प्रयोक्तुमर्हा ओषधिवनस्प-
तयोऽन्नादयो वा सन्ति (तेभ्यः) तेषां सुसम्पत्तये (घृतस्य) जलस्य ।
घृतमित्युदकनामास्ति निघण्टौ (व्युन्दती) विशेषेण तरला शीतल-
ताविधायिनी (मधुधारा) मध्वा क्षारादिदोषवर्जिता धारा यस्याः

सा (कुल्या) कृत्रिमा सरित् (एतु) प्राप्नोतु । येन जगति सर्वेषां चराचराणां सम्यग्रक्षा स्यात् ॥

भा०—यत्र यत्र मरुदेशादौ जलं न मिलति महता कष्टेन वा प्राप्तं भवति । तेषु तेषु प्रदेशेषु सुगमतया निर्दोषमिष्टजलप्रापणाय देशहितैषिभिः श्रीमद्भिः प्रजापालनतत्परैश्च राजपुरुषैः कृत्रिमा सरिन्निस्सारणीया यतो जलेनैव सर्वस्य चराचरस्योत्पत्तिस्तिथी सम्भवतः । अतः सर्वोपरिप्रधानमिदं धर्मानुकूलं कृत्यम् । एवं महोपकारकं धर्मकृत्यमस्मिन् मन्त्रे परमात्मनोपदिष्टं तच्च त्यक्त्वा निर्मूलमयौक्तिकमर्थं प्रतिपादयितुमीहमानाः किं विद्वज्जनैर्वाच्याः ॥

भाषार्थः—अब इस पूर्वोक्त विचार पर पौराणिक लोग कहते हैं कि जैसा आहु और तर्पण तुमने पूर्व कहा वैसा वेद और मनु आदि धर्मशास्त्रों के अनुकूल हो सकता है क्या ? मन्त्रभाग संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्यसूत्र, स्मृति, इतिहास—महाभारतादि और पुराण आदि श्रेष्ठ लोगों के माने हुए सम्पूर्ण पुस्तकों में मरे पितृ लोगों को आहु से पिण्डादि देना आहु है ऐसा वर्णन किया गया है । और वैसे ही अनादिकाल की परम्परा से सब लोग आहु करते आते हैं । वेदों में भी पितृयों के आह्वान का मन्त्र (आयन्तुनः०) और पिण्ड रखने का (पितृभ्यः स्वधायि०) मन्त्र है । इत्यादि मन्त्रों में आहु का वर्णन किया है । शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि नीबि को छोड़ ऋः बार नमस्कार करे । और कुशों पर पिण्ड धर के हाथ झार दे वा धो डाले इत्यादि प्रकार मनुस्मृति में भी आहु का पूरा विधान दिखाया है । गयाआहु से पितृजनों की मुक्ति हो जाती है इस को सब शास्त्रकार मानते हैं । और नैत्यिक वा गयाआहुदि कर के पितृयों को तारने के लिये ही पुत्रों की आवश्यकता है सो कहा भी है कि पुत्रहीन अर्थात् निर्वंशी की अच्छी गति नहीं होती । इस प्रकार मरे हुए पितरों का आहु सर्वसम्मत है तो जो कोई लोग उस पर विश्वास नहीं करते वे नास्तिक हैं । और अथर्ववेद में स्पष्ट ही मरे हुए पितरों का तर्पण लिखा है कि “जो मरे” जीते, प्रकट हुए और यज्ञ सम्बन्धी पितर हैं उन सब के लिये सहतयुक्त जल की धारा प्राप्त

हो" इत्यादि प्रकार मरे हुए पितरों का तर्पण आहु वेदादि शास्त्रों में लिखे अनुसार सब को माननीय सिद्ध होता है ॥

ऐसे उक्त प्रश्न का अब समाधान—उत्तर दिया जाता है ध्यान पूर्वक सब महाशयों को देखना चाहिये । इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि जो वेद से भिन्न ब्राह्मणादि ऋषि प्रणीत पुस्तकों में भी जिस किसी प्रकार मरे हुआ का आहु मिलता है । इतने मात्र से वह कर्त्तव्य हो नहीं सकता क्योंकि वह इस समय साध्यकोटि के अन्तर्गत है । अर्थात् आर्षपुस्तकों में भी स्वार्थी लोगों ने जब अनेक स्वार्थ लीला की बातें मिला दीं जिन को सभी विचारशील विवेकी लोग कट पटांग वा असम्भव समझते हैं । जिन बातों को लड़के भी अच्छा नहीं समझते जो सभ्यता से सर्वथा विरुद्ध हैं । तो वैसे ही अनेक शास्त्रीय प्रमाण और युक्तियों से विरुद्ध होने के कारण मरे हुआ का आहु भी आर्ष पुस्तकों में मिला दिया ऐसा अनुमान होता है । और अनेक स्थलों में मरों का आहु नहीं है वहां भी बुद्धि के भ्रान्त होने से वैसा ही दीखता है उस का कारण अज्ञान है । मरे हुए पितरों का यदि अनादिकाल से आहु चला है तो सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए ब्रह्मा आदि ने किन मरे पितृयों का आहु किया ? और जब सब अन्य महायज्ञ ब्रह्मादि के करने में आ सकते और आये तो एक आहु ही सङ्घटित नहीं होता । और जब मरीच्यादि ऋषियों से अग्निष्वात्तादि पितृगणों की उत्पत्ति दिखायी है तो मरीचि आदि ने भी तर्पण आहु नहीं किये क्या ? । और यदि किये तो क्या पितरों के स्थान में अपने पुत्रों का तर्पण आहु किया ऐसा तुम लोग मानते हो? क्योंकि जिन को तुम लोग अनादि पितृगण मानते हो वे मरीच्यादि ऋषियों से उत्पन्न हुए हैं उस से पहिले वे थे ही नहीं । इस से मरों का आहु अनादिकाल से चला यह ठीक नहीं । यदि कोई कहे कि निर्मूल वृक्ष खड़ा नहीं हो सकता इस न्याय से निर्मूल आहु कैसे चल गया तो इस का समाधान सुनो—जब पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानी पुरुषों का अन्नादि उत्तम सामग्री से सत्कार रूप आहु करना हम लोग सनातन सिद्ध करते हैं तब निर्मूल आहु नहीं हुआ । क्योंकि ब्रह्मा और मरीचि आदि भी ऐसा आहु कर सकते थे अर्थात् उस समय भी ब्रह्मादि से भिन्न अन्य ज्ञानी लोग विद्यमान रहे । इससे हमारे मत में निश्चय परस्पर से आहु करना बन सकता है । और मरे हुआ के आहु में जीवतों का आहु मूल है इस से निर्मूल नहीं कह सकते । दोनों पक्ष में आहु तो कर्त्तव्य ही

है अर्थात् उसके कर्त्तव्य होने में कुछ भी विवाद नहीं किन्तु प्रकार में और फल में विवाद है कि आहु किस प्रकार और किस लिये करना चाहिये । धौराणिक लोग कि जिनका पक्ष मरों का आहु कर्त्तव्य है । वे भी प्रत्यक्ष में जीवित लोगों का ही सत्कार रूप आहु करते हैं । अर्थात् मरे हुए पितृ जन कहीं आकर भोजन करते हों ऐसा कोई नहीं मान सकता केवल हठ पूर्वक कहते रहना ही विवाद का स्थान है। और फल में विवाद यह है कि आहु करने वाला फलभागी होता है किन्तु मरे पितृयों का फल नहीं पहुंचता यह सिद्धान्त पक्ष है । और अन्य लोग कहते हैं कि नहीं मृत पितरों को आहु का फल पहुंचता है। सो यह पक्ष इस लिये भी ठीक नहीं कि सब शास्त्रकार पुकार २ कहते हैं कि जो जैसा कर्म करता है उसको अगले जन्म में वैसा फल अवश्य मिलता है । यदि किसी के पिता ने अधिकांश अधर्म किया और शास्त्र की मर्यादा वा न्यायानुकूल उस को नरक रूप दुःख भोग मिलना चाहिये । परन्तु उसका पुत्र आहु करके अच्छा फल पहुंचा रहा है तो क्या होना चाहिये । यदि पूर्व कर्मानुसार उसको दुःख मिले तो आहु फल पहुंचना नहीं बनेगा और आहु का फल पहुंच कर सुख मिला तो बुरे कर्मों का नियत फल कहने वाले शास्त्र व्यर्थ हुए । और जिसके पूर्व से ही अच्छे कर्म हैं उससे बुरे कर्मों वाले का भेद ही क्या रहा ? दोनों ही सुख भागी हुए तो अच्छे कर्म वा धर्म का उद्योग करना निष्फल हुआ अर्थात् इन दो बातों में एक ही सिद्ध हो सकती है कि चाहें परलोक सहायार्थ धर्म की आवश्यकता ठहरा लो और चाहें आहु को परलोक सहायक मान लो । इस दशा में जिन लोगों ने पुत्र उत्पन्न किये और आहुदि करने की उनको ठीक २ शिक्षा भी कर दी तो वे भले ही मरण पर्यन्त पाप किया करो पुत्र लोग गयादि आहु कर के जन्मान्तर में तो तार ही देंगे फिर ऐसी दशा में धर्म करने का उपदेश करने वाले सब धर्मशास्त्र मिथ्या होंगे। और धर्मशास्त्रकार इस से विरुद्ध स्पष्ट पुकार कर कहते हैं कि—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।

न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ म०अ०४। २३९

परलोक अर्थात् जन्मान्तर में सहायता करने के लिये पिता माता और स्त्री पुत्रादि नहीं ठहर सकते अर्थात् तेरे सहायक जो माता पिता स्त्री पुत्रादि यहां

प्रत्यक्ष में हैं वे वहां साथ नहीं जायेंगे जैसे यहां तेरे सुख दुःख में साथी हो जाते हैं वैसे वहां न पहुंचेंगे और वहां कुछ सहायता नहीं पहुंचा सकेंगे अर्थात् जैसे यहां तुझ पर किसी बुराई का फल विपत्ति आपड़े तो यथाशक्ति ये सब सहायता करते वा कर सकते हैं वैसे यहां के किये अधर्म की विपत्तिरूप दुःख की प्राप्तिमें ये लोग कुछ भी सहायता न कर सकेंगे। इन लोगों के भरोसे तू कदापि पाप न कर कि ये किसी प्रकार आहुति द्वारा मुझे कुछ सुख पहुंचावें। किन्तु एक धर्म ही तेरी सहायता करेगा जिस का तुम ने यहां उपार्जन किया होगा। इस कारण पिता मातादि को भी सुख पहुंचाने के लिये तू अधर्म न कर के अपना परमार्थ सुधारने के लिये यहां धर्म का उपार्जन कर। इस पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मानवधर्मशास्त्र के सिद्धान्त से भी आहु का फल मरे हुए पितृ लोगों को नहीं पहुंचता ॥

हम इस अंश का विचार पूर्वक अनुसन्धान करते हैं कि मृतकों के आहु की परिपाटी क्यों चली तो अनुमान होता है कि पहिले जब कोई मरता था तब उसके सम्बन्धी लोग अब के तुल्य शोकसमुद्र में डूबते थे ऐसी दशा देख कर उन के उपदेशक गुरु लोग उपदेश द्वारा अपने शिष्यों का शोक दूर करने के लिये स्वयं आते वा शिष्यों के बुलाने पर आकर उन के शोक की निवृत्ति का उपाय करते थे और उस समय शिष्य लोग उन का सत्कार विशेष कर इस कारण करते थे कि शोक निवृत्ति होने से उन का अन्तःकरण उन्हीं के द्वारा प्रसन्न होता था। यह परम्परा कुछ काल तो ठीक चली पीछे अविद्या में फँसे लोगों ने आप ही कल्पना करली होगी कि इन ब्राह्मणों का सत्कार करने से मृतक लोगों की तृप्ति होती है। तब से लेकर मरे हुएओं का आहु प्रवृत्त हुआ ऐसा अनुमान हो सकता है। अथवा ज्ञानी लोगों का सत्कार सेवन भी पुण्य कर्म है वह पुण्य यदि शोक समय में किया जाय तो शोक की निवृत्ति होना सम्भव है इस कारण शोक समय में पुण्य करना चाहिये अथवा किसी के मरने पश्चात् शेष रहे मरे के सम्बन्धी भाई आदि शोक से व्याकुल होने के कारण किसी प्रकार धनादि पदार्थों से विरक्त होते हैं उस समय भोजनादिका दान उन से सुगमता के साथ किया जाता वा हो सकता है। क्योंकि शोक और उत्सव से भिन्न समय में कोई उदार ही पुरुष धन का व्यय कर सकता है किन्तु रुपण वा साधारण मनुष्य का साहस नहीं पड़ सकता कि वह प्रत्येक समय धन का व्यय कर सके। इस प्रकार

अनेक दीर्घदर्शी विचारशील पूर्वज लोगों ने मरने पश्चात् और पुत्रादि की उत्पत्तिरूप उत्सव समय में दान पुण्य और ज्ञानियों के सत्कार करने का उपदेश किया कि जिस से कृपण लोग भी लोक लज्जा वा दबाव आदि से ही कुछ धर्म अवश्य कर सकेंगे। इसी अंश को कुछ काल पीछे मूर्खों ने मरों की तृप्ति पर लगा दिया कि मरने पश्चात् किये हुये दान पुण्य और सज्जनों के सत्कार का फल मरे हुआओं को पहुंचता है और उन को फल पहुंचाने के लिये ही मरणान्तर किया जाता है ऐसी कल्पना कर के कुछ काल पीछे पिण्डादि बना कर कुशों पर रखने की कल्पना भी कर ली गयी। और उस अपने अनुभव वा अनुमानरूप पिण्डादि रखने की परिपाटी को अनेक सद्ग्रन्थों में भी मिलाया कि जिस से आगे बराबर चली जावे। ऐसा अनुमान से प्रतीत होता है। इस प्रकार इस अन्यथा चले मृतकआहु का मूल सत्य सनातन आहु है इस से निर्मूल नहीं और न मृतक आहु अनादिकाल से प्रवृत्त सनातन है यह सिद्ध हुआ ॥

और एक यह भी अनुमान होता है कि कदाचित् विद्या का पढ़ना और ब्रह्मचर्य आश्रम का सेवन जब किन्हीं कारणों से छूटा वा आलस्यादि अवगुण अधिक बढ़े तो अनेक उदरम्भर स्वार्थी धर्मध्वजी नाममात्र के ब्राह्मणों ने विचारा हो कि अब हम लोग आहु के योग्य (जैसे कि मनु आदि शास्त्रों में लिखे हैं) नहीं रहे तो हम को आहु में कोई न बुलावेगा। और आहु भी कोई न करेगा तो यह युक्ति अच्छी है कि मरों का नाम लगा देने से लोग अवश्य आहु करेंगे। और आहु होंगे तो हम को भोजन भी कराया ही जावेगा। कोई भी मनुष्य अपने नाम से भोजन वा दान दक्षिणा नहीं मांग सकता, मांगे तो सङ्कोच होता है परन्तु अन्य के लिये वैसा सङ्कोच नहीं होता इस कारण मृतपि तृयों को फल पहुंचाने के लिये भोजन दान पुण्य आदि का उपदेश चलाया हो यह सम्भव है। यदि ऐसा हो तो चलाने वाले विशेष कर अधर्मी हुए और पहिले विचारानुसार चला तो अज्ञान मूल कारण हुआ ॥

यदि बहुत काल से वा ऋषि और आर्यराजाओं के समय से ही कदाचित् मृतकों का आहु चला आया हो और बहुत काल से प्रवृत्त होने के कारण यदि प्रामाणिक ठहर जावे तो क्या चोरी बहुतकाल से नहीं चली आती है? क्या चोरी आदि अधर्म बीच से चल गये? और क्या बहुतकाल से चोरी भी चली आती है तो अच्छे लोग भी चोरी करें? इस का अभिप्राय यह नहीं कि आहु भी

चोरी के तुल्य नीच कर्म है किन्तु तात्पर्य यह है कि मृतकों के उद्देश से आहु करना आहु के मुख्य अभिप्राय पर नहीं पहुँचाता इसी से आहु विषयक वेदादिशास्त्रों की आज्ञा का पालन हुआ भी नहीं कहा जा सकता तथा कुछ व्यर्थ भी करने पड़ता है। और (आयन्तुनः०) इत्यादि मन्त्रों का अर्थ ज्ञानी लोगों के पितृ मानने में ही निर्दोष और ठीक बनता है। किन्तु मरों के पितृ मानने में नहीं “सोम नाम शान्ति वा सहनशीलता रखने के योग्य तथा आहवनीयादि अग्नि के ग्रहण करने हारे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धर्म पूर्वक वेदोक्त रीति से सेवन करने वाले हमारे रक्षक पितर लोग श्रेष्ठ पुरुषों की चाल के साथ आवें” इस अर्थ से मरे पितरों के आह्वान का कुछ भी संकेत नहीं और न कोई ऐसा विशेषण है कि जिस से मरे पितृ लोग ही समझे जावें और उक्त सोम्यास आदि विशेषण मरों में कदापि घट भी नहीं सकते। कदाचित् अग्निष्यात्त पद का कोई यह अर्थ करे कि अग्नि में जलाये वा भस्म किये गये। और कोई लोग यह भी कह सकते हैं कि अग्निष्यात्तशब्द का अर्थ तुम्हारा ही ठीक रहे वा अन्य हो तो भी पितृयों के आहु प्रकरणस्थ वेद मन्त्रों में—

“ये अग्निदग्धा अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वयया मादयन्ते”

इत्यादि मन्त्र भी आते हैं जिन का बहुत स्पष्ट होने से अर्थ बदला भी नहीं जा सकता क्योंकि “दह भस्मी करणे” धातु का रूप ही दग्ध होता है अर्थात् “जो पितर अग्नि से जले वा अग्नि से न जले हों ऐसे पितरों को हविष्य खाने के अर्थ में बुलाता हूँ।” अब इस का भी उत्तर विचारने योग्य है कि अग्नि से पितरों का जलना कैसे हो सकता है?। पितर नाम यदि शरीर का रखो तो यह बात घट सकती है कि अग्नि से जले पितर, परन्तु जो शरीर अग्नि से जला दिया गया। वह उसी समय भस्म हो गया अब उसको आहु में बुलाना वा उसके लिये आहु का फल पहुँचाना दोनों बातें असम्भव हैं। यदि पितर नाम जीवात्मा का मानो जिस का बुलाना बन सकता है परन्तु वह अग्नि से नहीं जलाया गया क्योंकि शरीर के जलाने से पहिले ही वह निकल गया और उस के निकल जाने से ही शरीर जलाया गया। तो उन जीवात्माओं के साथ अग्निदग्ध विशेषण लग ही नहीं सकता। यदि कहो कि चेतन शरीर का नाम पितर है तो चेतन शरीर भी जलाया नहीं गया। इस प्रकार किसी रीति से मृतकों के आहु पक्ष का अर्थ नहीं बनता और इसी प्रकार जीवात्मा को किसी का पिता वा पुत्र भी नहीं कह सकते क्योंकि उपनिषद् में स्पष्ट निषेध भी किया है कि—

नैव स्त्री न पुमानेप नचैवायं नपुंसकः ।

यद्यच्छरीरमादते तेनतेन स युज्यते ॥ श्वेताश्वतरे०

इससे भी स्पष्ट सिद्ध है कि आत्मा कोई किसी का पिता पुत्रादि नहीं किन्तु जब तक शरीर के साथ संयोग रहा तब तक पिता पुत्रादि नाम से माना गया । इससे जीवात्माओं को पीछे किसी के पितर कह भी नहीं सकते । तथा इसी प्रकार “मृताः” यह भी पितरों का विशेषण नहीं बनता क्योंकि मरण नाम प्राण वियोग का है वह शरीर से हुआ अर्थात् शरीर से प्राण निकल गये तो मरे पितर शरीरों को कह सकते हैं सो शरीर शीघ्र ही जलने आदि द्वारा मही में मिल जाते हैं । फिर उनका भी बुलाना नहीं हो सकता । अब यदि कोई कहे कि अच्छा हमारे पक्ष में अग्निदग्ध आदि पदों का अर्थ नहीं बनता तो तुम क्या अर्थ करते और अपने पक्ष में कैसे घटाते हो ? इसका उत्तर यह है कि “अग्नि द्वारा भूजे वा पकाये गये वा स्वयंकालपक्व सामयिक फलादि दोनों प्रकार के पदार्थ ज्ञाननिष्ठ पितृ लोगों के भोजनार्थ उपस्थित करने चाहिये” अर्थात् अग्निदग्ध आदि पद भोग्य वस्तुओं के विशेषण हैं । यदि वहां पितृ शब्द भी हो तो वेद का यौगिकार्थ होने से रक्षक पदार्थों का विशेषण माना जावेगा । इत्यादि प्रकार सब अर्थ ठीक है केवल बुद्धि पर थोड़ा बल देना चाहिये । इस सब कथन से सिद्ध हुआ कि (आयन्तु नः०) इस मन्त्र में पितृ शब्द से जीवते हुए ज्ञानी पितृयों का ग्रहण है । द्वितीय पिण्ड धरने का मन्त्र कहा सो भी ठीक नहीं क्योंकि उसमें पिण्ड वा धरने का कुछ भी संकेत नहीं है । और शत पथ ब्राह्मण का प्रमाण दिया उस में भी मरों का नाम न होने से वैसा अर्थ नहीं आता और कदाचित् मृतकों के आहु करने का उपदेश शतपथादि में किसी अभिप्राय से निकल आवे तो भी सिद्धान्त पक्ष में कोई दोष नहीं आता क्योंकि जब वेद का सिद्धान्त नहीं तो वेद से बिरुद्ध और प्रमादादि दोषयुक्त लेख उन से भी हो सकता है । और मनुस्मृति के तृतीयादि अध्यायों में अनेक श्लोक मरों का आहु बताने के लिये हैं इस बात का हम को भी स्वीकार है परन्तु उन श्लोकों के वहां लिखे होने मात्र से वैसा आहु कर्तव्य सिद्ध नहीं होता । ऐसा हो तब तो चोरी वा परस्त्री गमन भी अनेक स्थलों में किसी विशेष प्रयोजन से वा निषेध के लिये लिखा है तो क्या चोरी आदि कर्तव्य होगा ? प्रयोजन यह

कि लिख देने मात्र से किसी कार्य का कर्त्तव्य वा अकर्त्तव्य होना सिद्ध नहीं हो सकता किन्तु जिस को विधान की रीति से अर्थवाद सहित लिखा हो वही कर्त्तव्य है । तो भी इस का विशेष निश्चय तृतीयाध्याय के प्रक्षिप्त समीक्षा प्रसङ्ग में आगे करेंगे ॥

और गयाश्राद्ध तो दूसरों के पदार्थ हरने वाले वहाँ के धूर्त लोगों ने अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये कल्पना किया है ऐसा अनुमान होता है । यदि कोई विद्वान् इस को ध्यान देकर विचारे तो सिद्ध हो जायगा कि गयाश्राद्ध के होने से पौराणिक मत में श्राद्ध नित्यकर्म नहीं ठहर सकता क्योंकि गयाश्राद्ध किये पश्चात् पितरों की मुक्ति हो जाती है वा ऐसी दशा में वे पहुँच जाते हैं कि पुत्रों के किये श्राद्धफल के भोग की इच्छा शेष नहीं रहजाती तो गयाश्राद्ध करने पीछे किसी को श्राद्ध न करना चाहिये और सभी लोग पिता के मरने पश्चात् एक दो वर्ष में गयाश्राद्ध करदेंगे पीछे श्राद्ध करना निष्फल वा निष्प्रयोजन है क्योंकि भरे को भरना व्यर्थ है इस प्रकार “सब को नित्यश्राद्ध करना चाहिये” इत्यादि प्रकार की धर्मशास्त्र की आज्ञा भी नहीं बन सकती क्योंकि श्राद्ध सदा नहीं हो सकता । और यह दोष जीवतों का श्राद्ध मानने वालों के पक्ष में नहीं आ सकता । क्योंकि वे अपने कल्याण के लिये नित्यश्राद्ध करें जैसे कि अग्निहोत्रादि करते वा करने चाहिये वैसे श्राद्ध भी नित्य कर्त्तव्य बन जाता है । और गयाश्राद्ध से यदि पितरों का मोक्ष हो जाता है तो “परमेश्वर के ज्ञान से भिन्न मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं” इस वेद के मन्त्र से विरुद्ध है अर्थात् ज्ञान के बिना मोक्ष होना असम्भव है । और इन लोगों का यह भी कहना ठीक नहीं कि मृतकश्राद्ध करने के लिये सब शास्त्रों का सिद्धान्त है । किन्तु मतवाद से भरे हुए पुराणों का यह मत है ।

तथा पुत्र के बिना गति नहीं होती यह भी एकदेशी वाक्य है अर्थात् सर्व-सम्मत नहीं है । क्योंकि जब स्पष्ट लिखा है कि “ब्रह्मचर्य आश्रम से, घर से वा बन से जब पूर्ण पक्का वैराग्य हो जावे तभी मनुष्य विरक्त बने” इत्यादि ब्राह्मण और उपनिषद् के वचनों की आज्ञानुसार ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास ग्रहण परमार्थसिद्धि वा मोक्ष होने के लिये है वह संन्यास मिथ्याभाव का प्राप्त होगा । क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम से ही जिस ने संन्यास धारण किया वह सन्तानों को उत्पन्न नहीं करेगा । और संन्यास आश्रम का प्रयोजन यही है कि जिस से परमार्थ में

अच्छी गति हो। यदि बिना पुत्र के संन्यास धारण करने पर भी सुगति न हुई तो “ब्रह्मचर्याश्रम से ही विरक्त हो जावे”, इत्यादि प्रकार के शास्त्र के वचन व्यर्थ हुए। और मनु जी ने भी बिना पुत्रों के सुगति होना स्पष्ट ही कहा है कि “जिन्होंने ने कुल सन्तति अर्थात् पुत्रादि उत्पन्न नहीं किये ऐसे सहस्रों द्वारे तपस्वी ब्राह्मण प्रकाशमय परमेश्वर को प्राप्त हुए—मुक्त हो गये”, इसी प्रकार जन्म से लेकर ब्रह्मचारी, सन्तति रहित भीष्म जी आदि सहात्मा लोगों की सुगति होना इतिहासादि में प्रसिद्ध ही है। इस कारण बिना पुत्र के गति नहीं होती इस वाक्य का अन्य ही प्रयोजन है किन्तु जन्मान्तर में सुख देने से अभिप्राय नहीं कि पुत्रों वाले ही जन्मान्तर में सुखभोगें और निर्वंशी दुःख में ही पड़ें ॥

अब एक विचार यह भी है कि हम लोगों के जो पितादि मर गये हैं उन के यदि योगाभ्यास और ईश्वर की उपासनादि शुभकर्म सञ्चित हैं कि जिन को उन्होंने अपने वर्तमान समय में सञ्चित किया तो उन शुभकर्मों के फल से पितृयों की सुगति अवश्य हो जायगी सो यह बात भगवद्गीता के छठे और दूसरे अध्याय में भी कही है कि “हे अर्जुन ! अच्छे धर्मयुक्त कर्म करने वाला कोई पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। और थोड़ा भी धर्म का सञ्चय किया हुआ बड़े प्रबल दुःख से बचा देता है” इस से सिद्ध हुआ कि इस जन्म में परिश्रम से उपार्जन किया धर्म ही जन्मान्तर में सुख देता है। इस प्रकार धर्मात्मा होंगे तो हमारे पितादि अपने कर्मों से ही तरजायेंगे उन के लिये आहु का फल पहुंचने की कल्पना करना व्यर्थ है। कदाचित् कोई मनुष्य धर्म करता हुआ भी दुर्गति को प्राप्त हो तो जिस को अपने ही शुभ कर्मों से सुख न मिला तो वह पुत्रादि के किये आहु से सुख पा सकता है ? और जैसे धर्मात्मा दुर्गति को प्राप्त हो तो पापी भी सुगति को प्राप्त हो सकता है यद्यपि यह असम्भव है कि धार्मिक दुःखी और अधर्मी सुखी रहें तथापि इस का अभिप्राय यह ठीक होगा कि जिस के पूर्व सञ्चित पाप अधिक हैं और वर्तमान का धर्म सेवन उन पापों से अधिक प्रबल नहीं होता तब तक धर्म करने पर भी वह दुःख भोगेगा और जिस का पूर्व सञ्चित धर्म अधिक है वह वर्तमान में पाप करने पर भी तब तक सुख भोगेगा कि जब तक पूर्व धर्म को दबाने वाला प्रबल पाप न बढ़ जावे। इस प्रकार धर्म का फल दुःख और अधर्म का सुख कदापि नहीं ठहर सकता। और कदाचित् कहीं ऐसा ही निश्चित जान पड़े कि उलटा फल होता है तो धर्म अधर्म

के लक्षण समझने की भूल माननी पड़ेगी अर्थात् जिस का परिणाम सुख हो वह धर्म और जिस का परिणाम वा फल दुःख हो वही अधर्म है। क्योंकि अनेक लोग धर्माभास को भी धर्म मान कर उसके दुःख फल को धर्म का परिणाम ठहराने लगते हैं यह उन लोगों का दोष है। इस प्रकार सरो के फल पहुंचाने के लिये आहु करना निष्फल है क्यों कि जैसे नियतविपाक सञ्चित धर्म का फल अवश्य मिलता है उस से जैसे सरे हुए धर्मात्मा पिता के लिये आहु करना निष्फल हुआ वैसे निश्चित फल वाले अधर्म का भी दुःख फल अवश्य प्राप्त होगा इस से वैसे ही अधर्मी पिता के लिये भी आहु करना निष्फल आता है। तिस से सरो के निमित्त आहु न करना चाहिये किन्तु जीवित ज्ञाननिष्ठ पितृव्यों का आहु करना चाहिये ॥

निर्धनशी पुत्र की सुगति नहीं होती इस का तात्पर्य यह है कि संसारी अर्थात् गृहाश्रम सेवने वाले मनुष्य को पुत्रादि उत्पन्न अवश्य करने चाहिये यह आज्ञा भी शास्त्रों में है इस आज्ञा के मुख्य कर दो ही प्रयोजन हैं। एक स्वार्थ और द्वितीय परमार्थ उन में स्वार्थ तो लोक में भी प्रसिद्ध है—जैसे संसारी मनुष्य कहते हैं कि कोई सुपूत उत्पन्न हो तो बुढ़ापे में कमाई खवावेगा। अर्थात् भोजन वस्त्रादि से हम को तृप्त करेगा। और कुपूत लोगों से पितादि की रक्षा होना तो दूर रही किन्तु पितादि के नाम की कलङ्कित करते और ताड़नादि द्वारा भी दुःख पहुंचाते हैं। इसी विचारानुसार नीतिशास्त्रों में लिखा है कि “पुत्र उत्पन्न नहीं हुए वा हो कर मरगये अथवा मूर्ख हुए इन तीनों दशा में से पहिली दो दशा अच्छी हैं अर्थात् मूर्ख पुत्र की अपेक्षा उस का न होना वा हो कर मर जाना अच्छा, क्योंकि उन दो का तो स्वरण आने पर दुःख होता परन्तु मूर्ख पगर में दुःख देता है। सौ मूर्खों की अपेक्षा एक गुणी पुत्र अच्छा है। जैसे एक ही सुगन्धित पुष्पयुक्त वृक्ष से सब घाटिका शोभित वा सुगन्धित हो जाती है वैसे एक भी पुत्र से कुल की शोभा वा सुख मिलता है,” इत्यादि नीति के वाक्यों का यही अभिप्राय है कि जो कुल का दीपक एक ही सुपुत्र सब कुल को सुखी कर देता है और उसी पुत्र के कारण उस कुल की विख्याति वा प्रतिष्ठा जगत् भर में हो जाती है ऐसे पुत्र को उत्पन्न करने के लिये सब गृहस्थों को यत्न करना चाहिये। जैसा सुख सुपूती कुल वा पितादि को मिलता है वैसा पुत्रहीन को कदापि नहीं मिल सकता। इसी से महाभारत उद्योगपर्व में कहा है कि पुत्र का आज्ञाकारी होना भी संसारी मनुष्य को एक बड़ा सुख है। और वृद्धावस्था में प्रायः

मनुष्यों की शक्ति भी कम हो जाती है और शक्ति के जीर्ण हो जाने से ही वृद्ध कहाता है उस समय अशक्त वृद्धपुरुष अपने हाथ पग आदि से अपने शरीर का भी सब काम नहीं चला सकते तो धनादि का उपार्जन करना वा भोजनादि बनाना तो अति कठिन है। ऐसे अत्यन्त सामर्थ्यहीन होने के समय में पहिले का सञ्चित धनादि पदार्थ भी यदि निकट में नहीं है तो अच्छे पुत्र अपने परि-
 श्रम से धनादि का उपार्जन कर और भोजनादि दे कर सब प्रकार की सेवा से पितादि की रक्षा करें और जिन वृद्धों के समीप पहिला संचित धनादि है उन को भी भृत्यों से वैसा सुख नहीं मिल सकता कि जैसा पृणादि त्याग कर अपना पुत्र सुख दे सकता है। और लोक में जिन के पुत्र नहीं उन को मरते समय वृद्धावस्था में प्रायः अच्छी रीति से सुख नहीं मिलता। और जो कुछ धनादि ऐश्वर्य मनुष्य अपने जन्म भर में जोड़ता है उस की आगे रक्षा करने और कुल की परम्परा चलाने के लिये भी पुत्रों की आवश्यकता है क्योंकि अन्य के धन से अन्य पुरुष उस के अभीष्ट ही कार्य नहीं करता किन्तु सुपुत्र पिता के उपार्जन किये धन से पिता के अभीष्ट कार्यों को ही प्रायः सिद्ध करता है। अर्थात् कहीं २ पिता के शत्रु से पुत्र बदला भी ले लेता है इत्यादि प्रकार से पुत्र की उत्पत्ति मुख्य कर सज्जन पुरुष संसारी स्वार्थ अर्थात् अपने लिये धन प्रतिष्ठा वा सुख होने के लिये वा उन माता पितादि का नाम चलने के लिये मानते हैं ॥

और परार्थ यह है कि—परमेश्वर ने धर्म की रक्षा और व्यवस्था करने वा मर्यादा और नियमों का पालन करने के लिये मनुष्य को बनाया है इसी लिये कहा है कि “भोजन करना, सोना, भय और मैथुन ये सब कर्म पशु और मनुष्यों में तुल्य हैं परन्तु मनुष्यों में एक धर्म अधिक है इस से जो मनुष्य धर्म नहीं करता वह पशु के समान है” इस से धर्माचरण करने वाले मनुष्य को चाहिये कि युवा-
 वस्था में ही मरण से पूर्व अपना प्रतिनिधि पुत्र को उत्पन्न कर देवे। परमेश्वर की सृष्टि में जैसे स्वयं धर्म का सेवन करता था वा करता है अर्थात् अपने घर से जिस २ का जैसा २ उपकार करना प्रारम्भ किया हो वा जो २ धर्मसम्बन्धी दाना-
 दि कर्म कुल की परम्परा से नियत चले आते हों उन कर्मों का पिता ने भी जैसा सेवन किया हो वैसा ही करने के लिये पुत्र को शिक्षा करे जिस से वृद्ध पिता के मर जाने पर भी उपकार सम्बन्धी कार्य वैसा ही निर्विघ्न चला जावे ॥

गृहस्थ पुरुष मैथुन मात्र करता रहे और पुत्र नहीं तो शोचनीय दशा है इत्यादि प्रकार नीति के उपदेश से सूचित होता है कि स्त्री सम्बन्ध रूप गृहाश्रम

का पुत्रोत्पत्ति फल है यदि गृहस्थ केवल मैथुन करे किन्तु पुत्रोत्पत्ति की रीति न करे तो उस का विवाह करना निरर्थक है और परमेश्वर ने जगत् की स्थिति से धर्म बढ़ाने के लिये संसार को रचा है यदि पुत्रों की उत्पत्ति का उपाय न किया जाय तो वृद्धों के सरते जाने और नवीन सन्तानों के उत्पन्न न होने से कभी सब का अभाव होना प्राप्त है और ऐसा होना परमेश्वर की इच्छा से विरुद्ध है इससे परमेश्वर का अभिप्राय है कि सन्तानोत्पत्ति मनुष्य को करनी चाहिये । जो ऐसा नहीं करता वह परमात्मा की आज्ञा का तोड़ने वाला है । ऐसा मान कर उसकी सुगति न हो यह कह सकते हैं इस से विना पुत्र के गति नहीं यह सामान्य प्रकार सिद्ध हो गया । परन्तु कहीं विशेष दशा में जो ब्रह्म चर्याश्रम से ही बाल ब्रह्मचारी विरक्त हो जाते हैं और वे गृहाश्रम भी नहीं करते । वे पुत्रों को उत्पन्न करके उतना उपकार नहीं कर सकते कि जितना जन्म भर ब्रह्मचर्याश्रम के साथ रहने वाले कर सकते हैं । इस कारण वे कुमारब्रह्मचारी निर्बंशी के दोष से दूषित नहीं होते । और वृद्धावस्था में गृहस्थ के तुल्य क्षीण न होने से शिथिल भी नहीं होते कि जिन को पुत्रों के विना दुःख भोगने पड़े । और युवावस्था में वे विरक्त धर्मापदेशादि द्वारा बहुतों का बड़ा २ उपकार करते हैं उन को प्रत्युपकाररूप सेवा करने वाले शिक्षित शिष्य वृद्धावस्था में मन वाणी और शरीर से निरन्तर सेवा कर के सन्तुष्ट करते हैं । इस प्रकार विद्या और धर्म के सम्बन्धी उनके अनेक शिष्य पुत्रवत् ही होते हैं ॥

अब श्राद्ध में पिण्ड दान क्यों चला इस पर थोड़ा सा विचार लिखा जाता है “चार पिण्ड प्रातःकाल और चार सायंकाल नियम पूर्वक खावे तो शिशुचान्द्रायण कहेंगे” इत्यादि मनुस्मृति के श्लोकों में ही पिण्ड शब्द ग्रास का पर्याय वाची माना गया है । पिण्ड शब्द के यथासम्भव अन्य भी अर्थ हो सकते हैं । तो भी श्राद्ध में ग्रास का पर्यायवाची लेना उपयोगी है । और चान्द्रायणादि व्रतों में ग्रास का लक्षण लड्डू के आकार का है । इसी प्रकार लड्डू आदि के समान बने हुए सब पेड़ा आदि मिठाई पिण्ड कहाते हैं । खीर आदि सर्वोत्तम स्वादिष्ठ वस्तुओं से बनाये पिण्ड ज्ञानी पितृजनों के भोजन योग्य वस्तुओं में सर्वोत्तम होने से उपयोगी होते थे ऐसा अनुमान होता है । पीछे जब मरों के लिये श्राद्ध करना किन्हीं लोगों ने चलाया तब से पिण्डों की भी दुर्दशा होने लगी कि जो इस समय अधपिण्ड भूसी सहित केवल कच्चे जौ के ही प्रायः जैसे

तैसे दिये जाते हैं । कि जैसा घोड़ा बैल आदि पशुओं को दाना देते हैं क्या यह पिण्डों की थोड़ी दुर्दशा है ? । “पितृ लोगों को पिण्ड देने चाहिये” इत्यादि प्रकार पुराने पुस्तकों के आदि प्रकरण में जहां २ लिखा है उस का आशय यह है कि लड्डू पेड़ादि गोलरूप मिठाई भोजन समय में पितृ लोगों को देना चाहिये । इस से पीछे अविद्या के प्रभाव से मुख्य अभिप्राय न जान कर सरो के लिये पिण्ड देने चाहिये ऐसी कल्पना किन्हीं लोगों ने की हो ऐसा अनुमान होता है । सो यह सरो के लिये पिण्ड देने की कल्पना करना ठीक नहीं ।

अथर्व वेद में भी तर्पण का विधान नहीं है । अर्थात् जो कोई लोग उस (येजीवा०) मन्त्र से मृत पद को देख कर सरो का तर्पण निकालते हैं उन को “जीवाः” पद को देख कर जीवों का भी तर्पण निकालना चाहिये । यदि कोई कहे कि जीवा पद मृत शब्द का विशेषण है तो उसके मत में समुच्चय अर्थ के लिये पढ़ा चकार निरर्थक हो जायगा अर्थात् समुच्चयार्थ पढ़े चकार से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मृता और जीवा भिन्न २ पद हैं । और सर्वनाम वाची यत् शब्द के चार प्रयोग मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ही पढ़े हैं उन से भी सब का पृथक् होना सूचित होता है । कथनमात्र कोई करे किन्तु उक्त अथर्ववेद के मन्त्र का अर्थ सरो हुए पितृयों के तर्पण पक्ष में यथावत् कोई नहीं घटा सकता । इस कारण इस मन्त्र से सरो के तर्पण का नाम भी नहीं निकलता किन्तु संसार का उपकार करने वाली एक प्रकार की विद्या इस से निकलती है उस का संक्षेप से व्याख्यान निम्न लिखित प्रकार जानोः—

अ०—(ये,जीवाः) जो किसी प्रकार कष्ट के साथ अन्न जलादि को पाकर प्राण का धारण करते (च) और (ये, मृताः) जो अन्न जलादि के न मिलने से मरते प्राण छोड़ते वा छोड़ने को उद्यत होते हैं (ये,जाताः) जो शीघ्र प्रकट हुए थोड़ी अवस्था के पशु पक्षि आदि के बच्चे वा अङ्कुररूप वृक्षादि (च) और (ये, यज्ञियाः) यज्ञकर्म में उपयुक्त होने वाले ओषधि वनस्पति वा अन्नादि हैं (तेभ्यः) उन के अच्छे प्रकार होने के लिये (घृतस्य) जल की (व्युन्दती) शीतलतागुण पहुंचाने वाली (सधुधारा) खारीपन आदि दोष रहित जिस की सीढे स्नादिष्ट गुणकारी जलयुक्त धारा हो ऐसी (कुल्या) कृत्रिम बनावटी नदी—नहर (एतु) प्राप्त हो जिस से जगत् में सब चराचर प्राणियों की रक्षा हो ॥

भा०—जिस २ मरु आदि देश में जल नहीं मिलता वा बड़े कष्ट से मिलता है उन २ प्रदेशों में सुगमता से सर्व दोष रहित सीढा जल प्राप्त होने के लिये

देशहितैषी धनाढ्य वा प्रजापालन में तत्पर राजपुरुषों को नवीन नदी-नहर-निकालनी चाहिये क्योंकि जल से ही सब चराचर की उत्पत्ति होना और स्थिति रहना सम्भव है। इस लिये सब से ऊपर यह धर्मानुकूल कर्म है। इस प्रकार बड़े उपकारी धर्मसम्बन्धी कृत्य का इस मन्त्र में परमेश्वर ने उपदेश किया है उस को छोड़ कर अयुक्त निर्मूल अर्थ को प्रसिद्ध करने की चेष्टा करने वालों से विद्वान् लोग क्या कहेंगे ? ॥

पूर्वं यच्छ्राद्धप्रसङ्ग उक्तं तेन मानवधर्मशास्त्रस्य सिद्धान्तो निस्सृतो यजीवितां ज्ञानिनां श्रद्धया भोजनादिसत्काररूपं श्राद्धं कार्यम् । मृतानां च श्राद्धकल्पनं न धर्मशास्त्रस्थसिद्धान्तानुकूलमिति ॥

अत्र केचिद्वदन्ति श्राद्धेन पिण्डदानेनैव दायभागः सम्पद्यते यो यस्मै पिण्डं दातुं धर्मशास्त्रानुसारेणाधिकृतः स्यात्स एव तस्य दायभागभवति । अस्य विवेचनमग्रे दायभागप्रसङ्गे करिष्यते ।

केचिदत्र श्राद्धप्रसङ्गे वदन्ति किमन्यकृतस्य कर्मणोऽन्यः फलं जगति भुङ्कते ताहो न ? । यदि भुङ्के तदा पुत्रकृतस्य श्राद्धस्य फलं पिता कथं नाप्नोति ? । यदि नो भुङ्के तदा प्रत्यक्षादेव विरुद्धमेतत् । यथा पित्रोपार्जितधनेन पुत्रः सुखमनुभवति । पित्रा सम्पादिते सद्गति तिष्ठति । पित्रारोपितस्यारामादेरपि पुत्रः सुखमाप्नोति । तथैक उपार्जयति बहवश्च पुत्रकलत्रादयो भृत्या भुञ्जते । एवंभूतानि सहस्रमुदाहरणानि प्राप्स्यन्ति । यत्रान्यकृतस्य कर्मणोऽन्यः फलं भुङ्के ॥

अत्रोच्यते—अन्यकृतस्य कर्मणोऽन्यः फलं भुङ्के इत्येतत्कथनं नैव सम्भवति । यथा यः कुपथ्यम्भुङ्के तस्यैवोदरे पीड़ा जायते नान्यस्य । यो भुङ्के तस्यैव क्षुन्निवर्तते नान्यस्य । यथा भृत्यो भार्या वा पाचयति तस्य स्वामी फलमोदनादिकं भुङ्के । अत्रापि सर्वत्र प्राधान्येन कर्त्तैव फलं लभते तथाचोक्तम्—महाभारते—

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।

भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥

तथा मनुस्मृतावधीदमेव तात्पर्यं चतुर्थाध्याय उक्तम्—

एकः प्रजायते जन्तुरेकएव प्रलीयते ।

एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥

एवंभूतैरनेकैः प्रमाणैरिदं सिध्यति—यदिहोपार्जितस्य पापस्य पुण्यस्य वा कर्त्तैव जन्मान्तरे सुखं लभते । कथंचिद्वर्त्तमाने प्रत्यक्षदशायामेककृतस्येतरः फलं भुङ्क्ताम् । नैतावता पुत्रकृतश्राद्धस्य फलं पिताऽवाप्तुमर्हति । इदमत्र तात्पर्यम्—यत्रयत्रान्यकृतस्य कर्मणोऽन्यः फलं भुङ्क्तइति कथमपि व्यवहर्त्तुं शक्यते तत्रतत्र सुखदुःखयोः साधनमारामधनादिकं भोक्तुः प्रत्यक्षमेव भवति । यत्र च सुखस्य दुःखस्य च साधनं प्रत्यक्षं नास्ति तत्र फलस्य भवनमप्यसम्भवम् । यथाऽसति जले पिपासा न निवर्त्तते रोगेवाऽसति रोगोद्भवं दुःखं नैवोत्पत्तुमर्हति । एवं पुत्रकृतं सुखसाधनमिहास्ति तज्जन्यं सुखफलं मृताः परोक्षाः पितरः प्राप्नुयुरित्यसम्भवम् । यद्युच्येत कृतेन शुभाशुभकर्मणा धर्मः सञ्जीयते पुरुषेण सएव जन्मान्तरे कर्त्रे फलं प्रयच्छति । यदि साधनमन्तरेण फलं न स्यात्तदा स्वकृतस्य कर्मणोऽपि जन्मान्तरे फलं कोऽपि नाप्नुयात् । इतिचेन्न संचितं कर्म वासनारूपं तच्च कर्त्तुरेवान्तःकरणे संस्कृतं तत्रैव वासनारूपेण तिष्ठति । तमेव च कर्त्तारं तत्कर्म वर्त्तमाने जन्मनि जन्मान्तरे वा फलं प्रयच्छति । यथा नान्यकृतमन्यः स्मरति । यथा—केनचिदज्ञानवशात् कस्यचिदुपकारिणो मित्रस्य पुत्रादेर्या घातः कृतस्तस्य यदा यदोद्बोधकनिमित्तेन स्मरणमायाति तदातदा हन्तैव मानसदुःखेनानुत्पद्यते

नह्यन्यः कश्चिद्भातकोऽन्यकृतेन कर्मणानुत्पेदिति कथमपि सम्भवति । एवमेतेन सिद्धं स्वकृतस्य कर्मणः स्वयमेव जन्मान्तरे फलं भुङ्क्ते । वर्तमानदशायां त्वन्यकृतस्यान्योऽपि किमपि फलं प्राप्नोति ॥

अनेन सिद्धमिह कृतस्य पिण्डदानादेः फलं नामुत्र पितरः प्राप्नुवन्ति । यदि प्राप्नुयुस्तर्हि सर्वे सुखिन एव स्युः । नैव कांऽपि दुःखी स्यात् । अस्मिन्पौराणिकपक्षेऽनेके विकल्पा उत्पद्यन्ते । किं ये जना भ्रियन्ते ते पुनः पृथिव्यां मनुष्यादियानिं नाप्नुवन्ति ? यदि नाप्नुवन्ति तर्हि क्व गच्छन्ति । यदि मनुष्यादियोनिमाप्नुवन्ति तर्हि श्राद्ध आह्वानावसरे कथमायान्ति ? । नोचेत् मृत्वा क्व गच्छन्ति । यदि पितृलोकं गच्छन्ति तर्हि स क्वास्ति पितृलोकः किं स पितृणामेव लोकोऽस्ति ? । पुत्रास्तदा क्व गच्छन्ति ? । पुत्रा अपि तत्र गच्छन्ति चेत्पुत्रलोको भ्रातृलोको वा किमर्थं नोच्यते । यदि सर्वे मृत्वाऽन्यलोकेष्वेव जायन्ते तर्हि पृथिव्यां नूतना जीवात्मानः कुत आगत्योत्पद्यन्ते ? । यदि घटादिव जीवात्मानो नोत्पद्यन्ते तदाऽसंख्यानामपि पुनरनिवर्तिनामभावः सम्भवति । यद्युत्पद्यन्ते तर्हि प्रथमं निष्कारणं जन्म किमर्थं जातम् । एवं सति धर्मशास्त्रवचांसि च व्याहन्थेरन् । देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं तु राजसाः । तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ अनेन सिद्धम्—यद्रजोगुणप्रधानाः पुरुषा मृत्वा पुनरपि मनुष्ययोनिमेवाप्नुवन्ति । एतत्प्रमाणानुकूलं येषां पितरो मनुष्यत्वमाप्ता तैर्यदा श्राद्धं तर्पणं च क्रियते तदा तत्फलमेव तेषां जन्मान्तरेऽन्यशरीरधारिणां पितृणां क्षुत्पिपासयोर्निवृत्तिः किमर्थं न जायते ? । एवंभूताः सहस्रशः प्रश्ना मृत्तानां श्राद्धदानरूपे पौराणिकपक्षे सम्भवन्ति येषां समाधानमसम्भव-

मेवास्ति । अस्मत्पक्षे च तेषां समाधानमेवास्त्यर्थात्प्रश्नाएव नोत्प-
द्यन्ते । जीवित्तिरुश्राद्धिनां मते सात्त्विकानां ज्ञाननिष्ठानां लोकः
पितृलोकः । यस्मिन् प्रदेशे देशे वा मानसपुण्यकर्मप्रधानाः प्रायशो
निवसन्ति स पितृलोकस्तेषां समुदायस्तत्र ते मृत्वा गच्छन्ति पुन-
रुत्पद्यन्ते येषां शास्त्रेषु पितृलोके गमनं श्रूयते । एवं वाचिकपुण्य-
गुणप्रधानेषु देवेषु देवानुगा देवा उत्पद्यन्ते । एवं सर्वत्र योज्यम् ।
एवमत्र संक्षेपेण श्राद्धतर्पणयोर्विवेचनं कृतमग्रे तृतीयाध्यायस्थप-
द्यानां प्रक्षिप्तसमीक्षणं करिष्यते ॥

भाषार्थः—इस से पूर्व जो श्राद्ध के विषय में कह चुके हैं उस से यह सिद्ध
होगया कि मानवधर्मशास्त्र का सिद्धान्त जीते हुए ज्ञानी पुरुषों का श्राद्धपूर्वक
भोजनादि से सत्काररूप श्राद्ध करना है । और मरों के श्राद्ध की कल्पना करना
धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध है इस के प्रमाण भी पूर्व दिये हैं । इस विषय
में कोई लोग कहते हैं कि श्राद्धरूप मृतकों को पिण्डदान देने से ही दायभाग
ठीक बनता है । क्योंकि धर्मशास्त्र के अनुसार जो जिस मृतकपितादि को पि-
ण्ड देने का अधिकारी नियत किया गया हो वा जिस का दिया पिण्ड मृतक को
पहुँच सकता है वही उस मृतक के धनादि का भागी हो सकता है इस का वि-
वेचन आगे दायभाग के प्रकरण में किया जायगा ॥

कोई लोग इस श्राद्ध विषय में यह भी कहते हैं कि जगत् में अन्य के किये
कर्म के फल को अन्य भोगता है वा नहीं ? जो कहे कि अन्य फल भोगता है
तो पुत्र के किये श्राद्ध का फल पिता को क्यों नहीं प्राप्त होता ? यदि कहे कि
नहीं भोगता तो यह प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है । जैसे पिता के उपार्जन किये धन
से पुत्र सुख का अनुभव करता पिता के बनाये घर में पुत्र रहता और पिता के
लगायी बाटिका आदि में पुत्र सुख पाता है । तथा एक कमाता और अनेक
पोषण योग्य स्त्री पुत्रादि सुख भोगते हैं । इस प्रकार के सहस्रों उदाहरण मिलेंगे
जिन में अन्य के किये कर्म का अन्य फल भोगता है ॥

अब इस का कुछ समाधान दिखाते हैं । अन्य के किये कर्म का फल अन्य
भोगता है यह कहना नहीं बन सकता । जैसे जो पुरुष कुपण्य भोजन करता है

उसी के पेट में पीड़ा होती है अन्य के में नहीं। जो खाता है उसी की भूख मिटती है अन्य की नहीं इत्यादि। तथा जैसे पाचक वा स्त्री भोजन बनाती और भात आदि फल स्वामी भोगता है यहां प्रत्यक्ष में यद्यपि अन्य के किये कर्म का अन्य को फल पहुंचता जान पड़ता है तथापि उस पुरुष के सामयिक वा पूर्व के कर्म भी ऐसे हैं जिन के अनुसार उस को पाचक वा स्त्री का भोजन मिले यह भी उसी के कर्म का फल हुआ। और भार्या पुत्रादि का भोजन कर्म यदि स्वामी की प्रसन्नता के लिये है तो उस की वृत्ति सन्तुष्टि में उन को फल-प्राप्ति कही जा सकती है। इस कारण यहां भी कर्त्ता ही फल भोगता है। सो यह महाभारत में भी कहा गया है—“एक ही मनुष्य पाप करता है और वही फल भोगता है अर्थात् सब अपने २ किये शुभ अशुभ कर्म के उत्तरदाता हैं कोई किसी के करने भोगने में साथी नहीं हो सकता तात्पर्य यह कि स्त्री पुत्रादि के पालन पोषण के लिये जो पुरुष अधर्म अन्याय छल कपटादि द्वारा भोजन वस्त्रादि वा धन को उत्पन्न करता है वही कर्त्ता अपराधी वा पापी है और स्त्री पुत्रादि भोगने वाले छूट जाते हैं।” तथा यही तात्पर्य मनुस्मृति के चतुर्थाध्याय में भी कहा है—“एक मनुष्य उत्पन्न होता वा एक ही मरता है। तथा एक ही पाप पुण्य का फल भोगता है अर्थात् कोई किसी का साथी वा सहायक नहीं हो सकता कि भुगवा लेवे” इस प्रकार के अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि इस जन्म में संबन्धित किये पाप वा पुण्य का कर्त्ता ही जन्मान्तर में सुख वा दुःख को प्राप्त होता है। किसी प्रकार दोनों के वर्तमान समय-प्रत्यक्ष दशा में एक के किये कर्म का फल दूसरा भोगे वा सञ्चयकर्त्ता के न रहने पर उस के सञ्चित भोग साधनों की विद्यमानता में उस के निकटवर्त्ती पुत्रादि सुख दुःख भोगें। परन्तु इतने से पुत्र के किये आहु का फल पिता नहीं पा सकता क्योंकि उक्त दृष्टान्त इस कथन से ठीक सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु यदि ऐसा कोई दृष्टान्त मिले कि जो पुरुष मर गये उन को किसी ने अब तक सुख दुःखादि यहां के किये कर्म से पहुंचाया हो और इस का कोई प्रत्यक्ष दृष्टान्त मिल सके तो इस प्रसङ्ग में लग सकता है। अर्थात् इस कथन का यहां तात्पर्य यह है कि जहां २ अन्य के किये कर्म का फल अन्य भोगता है ऐसा व्यवहार किसी प्रकार कर सकते हैं वहां २ सुख दुःख का साधन वाग वा धनादि भोगने वाले के प्रत्यक्ष ही होता है। और जहां सुख वा दुःख का साधन प्रत्यक्ष नहीं है वहां फल का होना भी असम्भव

है। जैसे विना जल के प्राप्त हुए जल से दूर होने वाली प्यास निवृत्त नहीं होती अथवा विना रोग हुए रोग से होने वाला दुःख भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार पुत्र का किया सुख का साधन यहां है उस से होने वाले सुखरूप फल को मरे हुए परोक्ष पितृ लोग प्राप्त हैं यह असम्भव है। क्योंकि जहां दीपक होगा वहीं प्रकाश होगा। और पिता जो धनादि पदार्थ छोड़ जाता है वे पदार्थ सुख वा दुःख भोगने वाले के पास रहते हैं इस कारण पिता के किये का फल पीछे पुत्र भोग सकता है और पुत्र का किया जन्मान्तर में पिता को नहीं पहुंच सकता क्योंकि वे सब पदार्थ यहां हैं। जैसे अन्य के भोजन कर लेने से अन्य की क्षुधा निवृत्त नहीं होती वैसे यहां किन्हीं ब्राह्मणों के खवादेने से मरे पितृयों की क्षुधा नहीं दूर हो सकती। यदि कोई कहे कि किये हुये कर्म से धर्म अधर्म का संचय होता है और वह जन्मान्तर में भी जीवात्मा के साथ जाकर फल देता है वहां साधन कोई नहीं जाते धनादि सब यहीं पड़े रहते हैं और संचित धर्म अधर्म का जीवात्मा के साथ जाना जन्मान्तर में न माना जावे तो नास्तिकपन आता है। सो जैसे जन्मान्तर में कर्त्ता को धर्म अधर्म का फल पहुंचता है वैसे ही पुत्रादि के किये का पिता को पहुंचना चाहिये। इस का उत्तर यह है कि संचितकर्म वा-सनारूप होता है वह कर्त्ता के अन्तःकरण से संबन्ध रखता वहीं वासनारूप से ठहरता है और उसी कर्त्ता को वर्त्तमान जन्म वा जन्मान्तर में फल देता है। जैसे अन्य के किये का अन्य को स्मरण नहीं आता। जैसे किसी ने अज्ञान से किसी उपकारी मित्र वा पुत्रादि का वध किया हो उस को जबर स्मारक निमित्त के मिल जाने से स्मरण आजाता है तब २ मानस दुःखरूप अग्नि भीतर ही भीतर शरीर को जलाता है। तथा अन्य कोई घातक अन्य के किये काम से दुःखित हो यह किसी प्रकार सम्भव नहीं। इस प्रकार इस उक्त कथन से सिद्ध हो गया कि अपने किये कर्म का आप ही जन्मान्तर में फल भोगता है। वर्त्तमानदशा में तो अन्य के किये कर्म के फल को अन्य भी कोई पाता है ॥

अब इसी उक्त कथन से सिद्ध हो गया कि यहां किये पिण्ड दानादि का फल जन्मान्तर में पितर नहीं पाते। यदि पावें तो सब सुखी ही रहें दुःखी कोई न हो। क्योंकि संसार में जितने मनुष्य उत्पन्न हुए हैं उन सब के श्राद्ध तर्पण करने वाले तो हों गे ही। तो सब को भूख प्यास निवृत्तिरूप फल पहुंचना चाहिये। पर ऐसा नहीं दीखता। इस पौराणिकपक्ष में अनेक विकल्प वा

शङ्का उत्पन्न होती हैं—कि जो मनुष्य मरते हैं वे क्या पृथिवी पर मनुष्यादि योनि में नहीं आते? यदि उन को मनुष्यादि योनि इस पृथिवी पर नहीं मिलती तो कहां जाते हैं? और जो पृथिवी पर आ कर मनुष्यादि योनि को प्राप्त होते हैं तो आदु में बुलाते समय कैसे आते हैं? अर्थात् उस २ योनिस्थ शरीरों सहित आदु में आवें तो सब को क्यों नहीं दीख पड़ते? तथा लोक में ऐसा कहीं नहीं दीखता कि कोई किसी के यहां पूर्वजन्म के सम्बन्ध से आदु में मन्त्रद्वारा बुलाने पर जाता हो। और शरीर छोड़ कर जीवमात्र आदु में जावे तो उतने काल तक उन के शरीर मरे पड़े रहें यह भी नहीं दीखता अर्थात् यह सब प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरुद्ध है। और जो मरे हुए प्राणी पृथिवी पर जन्म नहीं लेते तो मर कर कहां जाते हैं? यदि पितृलोक में जाते हैं तो वह पितृलोक कहां है? क्या वह पितृयों का ही लोक वा स्थान है? तो पुत्र मर कर कहां जाते हैं? यदि पुत्र भी वहां जाते हैं तो पुत्रलोक वा भ्रातृलोक क्यों नहीं माना जाता? तथा मर कर यदि सभी प्राणी अन्य लोकों में उत्पन्न होते हैं तो पृथिवी पर नये २ जीवात्मा कहां से आकर जन्म लेते हैं? यदि चट आदि अनित्य वस्तुओं के तुल्य जीवात्मा नहीं बनते वा बनाये जाते तो असंख्य मानने पर भी फिर लौट कर न आने से अभाव हो जाना सम्भव है। अर्थात् कोई वस्तु कितना ही अधिक असंख्य क्यों न हो उस में से व्ययमात्र होता रहै और नवीन सञ्चित न किया जाय तो कभी न कभी सब का निपट जाना सम्भव है। और जीवात्माओं की नवीन उत्पत्ति मानी जावे तो पहिला जन्म निष्कारण क्यों हुआ? (अर्थात् ऐसा मानने वाले के मत में कृतहानि और अकृताभ्यागमदोष भी अवश्य आवे गा क्योंकि जन्म होते समय जो जीवात्मा की उत्पत्ति शरीर के तुल्य मानी जावे तो मरते समय शरीर के तुल्य नाश होना भी सम्भव है। इस दशा में जब कोई मनुष्य ऐसे शुभकर्म करता २ मर गया कि जिन को मरते समय तक पूरा किया और फलभोग का समय आते ही मर गया जैसे भोजन बना कर ठीक कर चुका खाने से पहिले मर गया वा बड़े परिश्रम से वाटिका तैयार की और फल लगने का समय आया तभी वह मर गया इत्यादि। ऐसी दशा में आगे जन्म होने वाला नहीं जिस में अन्त तक किये पाप वा पुण्य का फलभोग मिलेगा फिर अच्छे कर्म करने की प्रशंसा और बुरे काम की निन्दा दोनों नहीं बन सकती। यह कृतहानि दोष है। और जो नया जीवात्मा शरीर के साथ उत्पन्न हुआ उस को

विशेष सुख वा दुःख क्यों मिला ? क्योंकि उस ने तो पहिले अच्छा वा बुरा कोई कर्म किया ही नहीं। यह अन्याय वा विरुद्ध है कि जिस ने अच्छा वा बुरा कर्म नहीं किया उस को सुख वा दुःख विशेष मिल जाना। यही अकृताभ्यागस दोष है कि नहीं किये की प्राप्ति और किये का फल न मिलना कतहानि दोष है) और ऐसा होने पर धर्मशास्त्रों के वचन भी खण्डित होंगे “सर्वगुणी लोग देवता होते, रजोगुणी मनुष्य और तमोगुणी पशु आदि कीटपतङ्गादि योनियों में जन्म लेते हैं”। इस कथन से ठीक सिद्ध है कि मरते समय जीवात्मा रहता है किन्तु शरीर के तुल्य नष्ट नहीं हो जाता और वही कर्मानुकूल जन्मान्तर धारण करता है इस से नवीन भी उत्पन्न नहीं होते। यदि इस को ठीक मानें तो वह खण्डित है और उस के मानने पर इस पक्ष का खसडन होता है। इस से सिद्ध हो गया कि प्रायः रजोगुणी सर्वसाधारण मनुष्य पृथिवी पर बार २ मनुष्ययोनियों को पाते हैं। इसी प्रमाण के अनुकूल जिन के पितर मनुष्ययोनियों में आ गये वे लोग जब आहु तर्पण करते हैं तब उस आहु तर्पण के फल से जन्मान्तर में अन्य शरीरधारण करने वाले पितृयों की भूख प्यास क्यों नहीं निवृत्त हो जाती ? यदि होती है तो सभी मनुष्यों के पूर्वजन्म में कोई न कोई पुत्रादि रहते ही हैं और प्रायः मरों का आहु किया ही जाता है तो उन को आहु के प्रायः दिनों में सभी को भूख प्यास न लगनी चाहिये। पर ऐसा नहीं दीखता। इस प्रकार के सहस्रों प्रश्न मरों का आहु देनेरूप पौराणिक पक्ष में हो सकते हैं जिन का समाधान असम्भव है। और हमारे पक्ष में तो उन का समाधान ही है क्योंकि ऐसे प्रश्न ही नहीं उठते। और जीवित चेतन पितृयों का आहु करने वालों के मत में ज्ञाननिष्ठ सर्वगुणी पुरुषों का जो लोक—नाम स्थान है वही पितृलोक जानो। जिस प्रदेश वा देश में मानस कर्म में प्रधान विचारशील ज्ञानी लोग निवास करते हैं वह पितृलोक है वा उन पितृयों के समुदाय—मेल का नाम पितृलोक है। जिन के लिये मरने के पश्चात् शास्त्रों में पितृलोक में जाना सुनते हैं वे पुरुष शरीर छोड़ने पश्चात् वैसे पूर्वोक्त पितृजनैः के समुदाय वा प्रदेश में अर्थात् पितृयों के घरों में जा कर जन्म लेते हैं। भगवद्गीता में भी लिखा है कि:—

“अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्” ॥

“अर्थात् अधूरे योगी लोग मरणानन्तर योगी लोगों के कुल में भी जन्म लेते हैं । परन्तु यह दुर्लभ अर्थात् ऐसा जन्म होना सर्वोत्तम है कि जिस में फिर भी योगाभ्यास कर के शीघ्र अपने इष्ट कल्याण को प्राप्त हो सकते हैं कि जिस के लिये पूर्वजन्म में मरणपर्यन्त यत्न करते रहे और अन्त में यह आशा रह गयी कि यह मेरा काम पूरा सिद्ध न होने पाया काल आ गया” तथा वाणी सम्बन्धी पुण्य जिन्होंने ने मुख्य कर किया है उन के समुदाय वा कुलों में वे लोग उत्पन्न होते हैं जिन के लिये मरणानन्तर शास्त्रों में देवलोक का जाना लिखा है । इसी प्रकार सर्वत्र व्यवस्था लगानी चाहिये । यहां संक्षेप से श्राद्ध तर्पण का विवेचन किया गया अब तृतीयाध्यायस्थ श्लोकों में से प्रक्षिप्त का विचार किया जायगा ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रक्षिप्तसमीक्षणम् ॥

अस्मिन् तृतीयाध्याये यानि प्रक्षिप्तानीव कानि चित्पद्यानि भान्ति न च तानि तथा भूतानि सन्ति तेषां विशेषो भाष्ये द्रष्टव्यः । अत्र तु यानि निर्विकल्पं प्रक्षिप्तानि तेषामेवाऽवधारणं क्रियते । सप्त-विंशत्युत्तरं शततमं पद्यं क्षिप्तं प्रतिभाति । यदा च जीवतामेव श्राद्धं वेदोक्तमिति सिद्धम् । पुनः श्राद्धस्य प्रेतकल्याणमेव नास्ति । षड्विंशतिपद्यस्याष्टाविंशतिपद्येन सार्द्धं सम्बन्धोपि सम्यग् दृश्यते तेनापि कारणेनास्य प्रक्षिप्तत्वमनुमीयते । नहि प्रेतार्था काचित् क्रिया भवितुमर्हति शरीरस्येहैव लीनत्वात् ॥

एकोनसप्तत्युत्तरशततमपद्यादारभ्य द्वाशीत्युत्तरशततमपद्यावधि पद्यानि प्रक्षिप्तानि प्रतिभान्ति । एकसप्ततित्रिसप्ततिचतुःसप्तत्युत्तरशतानि त्रीणि पद्यानि वर्जयित्वा । यद्यप्युक्तपद्येष्वर्थवादो निन्दारूपेणोक्तस्तथापि सम्भवेन सम्बद्धेन न्याय्येन वार्थवादेन भाव्यम् । अत्र चाऽसम्भवोऽसम्बद्धोऽन्याय्यश्चार्थवादोऽस्तीत्यवगम्यते । यथा सोमविक्रयिणे दत्तमन्नं विष्टा भवति । किमत्र प्रसज्यतेऽर्थापत्त्या

यद्विदुषे दत्तमन्नं विष्ठात्वं नामुयात् । तत्तु न दृश्यते किन्तु प्रशस्ते-
नाऽप्रशस्तेन वा येन केनापि भुक्तमन्नं विष्ठा भवत्येव । तथाऽन्नमेव-
रसादिद्वारा रक्तमांसादित्वमापद्यते । पुनरेतत्कथनमसम्भवमसम्ब-
द्धं चास्ति । तथा च परिवेत्रा दोषभाजा भाव्यं येनाग्रजे स्थिते दारा-
ग्निहोत्रसंयोगः स्वयमेव पूर्वं कृतः । तेन साकं परिवित्तिना परिवेतु-
र्भार्यया च किमर्थं दोषभागभ्यां भाव्यम् ? । यदि भवति तदाऽन्याय्य-
मेतत् । यथा स्तेनो येन स्तेयं कर्म कृतं यस्य च धनादेः स्तेयं कृतमु-
भावप्यन्याय्ये राजद्वारि दण्ड्यौ भवेतामन्याय्यमेतत् । धर्मशास्त्र-
वचोभिश्च पक्षपातरहितैर्भवितव्यम् । न च तथा दृश्यन्ते तस्मात्प्र-
क्षिप्तान्येतानि वचांसि ॥

अथे सप्ताशीत्युत्तरशततमपद्यादारभ्याशीत्युत्तरद्विशततमप-
द्यावधि प्रक्षिप्तानि भान्ति । दिनवत्युत्तरशतं, षडुत्तरद्विशततमादा-
रभ्य नवोत्तरद्विशततमावधिकानि, त्रयोदशोत्तरद्विशततमं, षड्विंश-
त्युत्तरद्विशततममष्टाविंशत्युत्तरद्विशततममेकत्रिंशदुत्तरद्विशततमादा-
रभ्य त्रयस्त्रिंशदुत्तरद्विशततमावधिकानि त्रिचत्वारिंशदुत्तरद्विशततम-
मेकपञ्चाशदुत्तरद्विशततमादारभ्य त्रयःषष्ठाशदुत्तरद्विशततमावधि-
कानि, एकोनषष्ठ्युत्तरद्विशततमं च पद्यं वर्जयित्वा । अत्र प्रक्षिप्त-
समुदायेऽनेकानि वचांस्यसम्भवानि, कानिचित्परस्परं विरुद्धानि ।
वैदिकसिद्धान्तो योऽसौ मया पूर्वं प्रतिपादितस्तस्मात्तु सर्वाणि क्षि-
प्तानि विरुद्धानि । अतएव तादृशानि पद्यानि मनीषिभिस्त्याज्यानि
तानि च धर्मशास्त्रस्य तुच्छत्वमप्यापादयन्ति । यथाऋषिभ्यः पि-
तृणामुत्पत्तिश्चेत्सनातनत्वं तेषामसम्भवम् । तथासति मरीच्याद्यृषि-
भिः श्राद्धं तर्पणं च न कार्यम् । कार्यं चेत्पुत्राणां भविष्यति न

पितृणाम् । अग्रे “अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुज्जीरंस्तेपि वाग्यताः” इत्युक्तं तच्च चिकित्साशास्त्रादिरुध्यते यतो मूत्रकृच्छ्रप्रमेहादयो रोगा अत्युष्णान्नभोजनात्सम्भवन्ति । तस्मात्तादृशभोजनं न केनापि कार्यं कारयितव्यं वा । यद्देष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः । सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ यद्येतत्सत्यमस्ति तर्हि भुञ्जानानां विप्राणां कियताप्यन्नेन तृप्तिर्न स्यात्कुतस्ते तु भुञ्जतएव न किन्तु तन्मुखैरक्षांसि भुञ्जते । तच्च नैवं सम्भवति भुञ्जानाश्च प्रत्यक्षं तृप्तिमायन्ना दृश्यन्ते । तस्मादुक्तं कथनं सम्यङ् नास्ति । अपाङ्क्तयो यावतः पाङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति । नैतत्सम्भवति यदपाङ्क्तयः कश्चिदपि पाङ्क्त्यं न पश्येत् । यतउदकहारादयो दासास्तत्र भवन्त्येव तेषामभावे च दास्यं कः कुर्यात् ? । यदा चानेकजन्तूनां मांसैरनन्ताक्षया वा तृप्तिः पितृणां प्रदर्शिता पुनर्मांसिकं पाक्षिकं वार्षिकं वा श्राद्धं निष्फलं सम्पद्यते किमर्थं नैकवारमेवानन्ता तृप्तिः क्रियते ? । असम्भवं चैतद्यदेकस्मिन् दिवसे भुक्तं मासावधि वर्षावधि वा न जीर्येदिति । तस्मादन्यदप्येतादृशं प्रक्षिप्तमेव मन्तव्यम् । विशेषश्च भाष्ये तथैव वक्ष्यते । इत्थमस्मिन्नध्याये षडशीत्युत्तरद्दिशतपद्ये नवतिः प्रक्षिप्तानि शिष्टानि सम्यक्सन्तीति बोध्यम् ॥

अब तृतीयाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा की जाती है—इस तृतीयाध्याय में कोई २ श्लोक प्रक्षिप्त जैसे अनेक साधारण लोगों को जान पड़ेंगे और वास्तव में वे प्रक्षिप्त नहीं हैं तो उन का समाधान यहाँ नहीं किया जाता किन्तु आगे भाष्य में उन के अर्थ का निर्णय होगा यहाँ तो केवल जो प्रक्षिप्त हैं उन्हीं का निश्चय किया जाता है । १२७ एक सौ सत्ताईशवां श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है । क्योंकि जब जीवित पितृयों का ही आहु करना वेदीक्त सिद्ध हो चुका तो फिर आहु का नाम प्रेतकर्म नहीं हो सकता । और द्वावीशवें श्लोक का

अट्टाईशर्वे श्लोक के साथ सम्बन्ध भी ठीक मिल जाता है इस कारण से भी सत्ता-ईशर्वे का प्रक्षिप्त होना अनुमान से सिद्ध है तथा प्रेत के लिये कोई कर्म उपयोगी नहीं हो सकता क्योंकि मरा हुआ शरीर तो जलाने आदि द्वारा पृथिवी में मिल जाता तथा केवल जीवात्मा कोई सुख दुःख का भोग नहीं कर सकता तो प्रेत के लिये किसी प्रकार की क्रिया करना निष्फल है ॥

एकसौ उनहत्तरवें १६९ श्लोक से लेकर एकसौ वयाशी १८२ श्लोक तक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। परन्तु १७१। १७३। १७४ इन तीन श्लोकों को छोड़ कर। यद्यपि उक्त प्रक्षिप्त श्लोकों में निन्दारूप अर्थवाद कहा गया है तो भी अर्थवाद सम्भव, सम्बद्ध और न्याययुक्त ही होना चाहिये। और यहां असम्भव, असम्बद्ध और अन्याययुक्त अर्थवाद प्रतीत होता है। जैसे सोमविक्रयी पुरुष को दिया अन्न विष्टा हो जाता है। इस कथन से क्या प्राप्त हुआ कि जो विद्वान् को दिया गया वह अन्न अर्थापत्ति से विष्टाभाव को न प्राप्त होवे परन्तु अन्न ही रस आदि के द्वारा रुधिर और मांसादि भाव को प्राप्त होता है। इसी से यह पूर्वोक्त कथन असम्भव वा असम्बद्ध है। और परिवेत्ता कि जिस ने बड़े भाई के बैठे रहते विवाह किया वह दोषी होना चाहिये। उस के साथ में बड़ा भाई और उस छोटे भाई की स्त्री क्यों अपराधी समझे गये? उन्होंने ने क्या अपराध किया था? अर्थात् कुछ नहीं तो उन दोनों का अपराधी बनाना अन्याय वा अधर्म अवश्य है ॥

जैसे किसी की चोरी करने वाला चोर और जिस की चोरी उस ने की हो उन दोनों को अन्यायी राजा के यहां दण्ड के योग्य मान कर दण्ड दिया जावे तो यह साक्षात् अन्याय है। और धर्मशास्त्र के वचन पक्षपात रहित होने चाहिये परन्तु वैसे नहीं दीखते इस कारण उक्त श्लोक प्रक्षिप्त अवश्य हैं कि जिन में पक्षपातादि धर्म से विरुद्ध वर्णन है ॥

आगे १८७ एकसौ सत्ताशी श्लोक से लेकर २८० दोसौ अशशी श्लोक पर्यन्त प्रक्षिप्त हैं परन्तु १९२। २०६ से लेकर २०९ तक २१३। २२६। २२८। २३१ से लेकर २३३ तक २४३। २५१ से लेके २५३ तक और २५९ श्लोकों को छोड़ कर शेष १८७ से २८० तक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। इन प्रक्षिप्त श्लोकों में अनेक वचन असम्भव हैं। कोई २ परस्पर विरुद्ध हैं। और आहु तर्पण के विषय में जो पूर्व में वेद का सिद्धान्त ठीक २ दिखाया है उस से तो सभी प्रक्षिप्त श्लोक विरुद्ध हैं इसी कारण ऐसे श्लोक विचारशील विद्वानों को अप्रामाणिक पक्ष में छोड़ देने चाहिये क्योंकि

ऐसे वचनों से धर्मशास्त्र में कलङ्क लगता है । जैसे मरीच्यादि ऋषियों से पितृ-
गणों की उत्पत्ति दिखायी है सो जो ऋषियों से उन की उत्पत्ति मानी जावे तो
पितृगण अनादि वा सनातन नहीं हो सकते और ऐसा होने पर मरीच्यादि
ऋषियों को तर्पण आहु नहीं करना चाहिये और करें तो पुत्रों का आहु तर्पण
हुआ किन्तु पितृयों का नहीं । आगे लिखा है कि “ब्राह्मणों को अत्यन्त उष्ण
भोजन कराया जावे और वे मौन होकर भोजन करें” । सो यह कथन चिकि-
त्साशास्त्र से विरुद्ध है क्योंकि वैसा भोजन करने से सूत्रकृच्छ्र वा प्रमेहादि अ-
नेक रोग उत्पन्न होते हैं इस लिये वैसा भोजन किसी को भी न करना वा क-
राना चाहिये । आगे लिखा है कि “जो शिर बांध कर भोजन करता, जो दक्षिण
को मुख करके तथा जो जूता पहन कर खाता है उस अन्न को राक्षस खा जाते
हैं ।” यदि यह बात सत्य हो तो भोजन करने वाले ब्राह्मणों की कितने ही
अन्न से तृप्ति न होनी चाहिये क्योंकि वे ब्राह्मण (जो प्रत्यक्ष में खा रहे हैं) तो
खाते ही नहीं किन्तु उन के मुख से राक्षस खा जाते हैं । सो सम्भव नहीं भो-
जन करने वाले प्रत्यक्ष में तृप्त हुए दीख पड़ते हैं । इस कारण उक्त कथन ठीक
नहीं है आगे लिखा है कि “निषिद्ध वा मूर्खादि नाममात्र का ब्राह्मण वा शूद्रादि
भोजन करते हुए ब्राह्मणों को न देखे और देख लेवे तो आहु करना निष्फल है”
इत्यादि कथन ठीक नहीं क्योंकि कहारादि सेवक वहां अवश्य रहते वा रहने
चाहिये और वे न रहें तो सेवा ही कौन करे? तथा कहीं यजमान भोजन कराने
वाला ही मूर्ख हो तो वह भी देखे गा । तथा मक्खी मच्छरादि भी उन को अ-
वश्य देखेंगे । तो ऐसी अनेक दशा हो सकती हैं कि जिन से आहु का फल हो
सकना बहुत कठिन है । और जब अनेक जीव जन्तुओं के मांस से पितृयों की
अनन्त वा अक्षय तृप्ति दिखायी है तो फिर मासिक पाक्षिक वार्षिक वा नित्य आहु
करना निष्फल है एक ही वार में अनन्त तृप्ति क्यों नहीं कर दी जाती जो बार २
न करने पड़े ? । अर्थात् यह बात असम्भव है कि एक दिन का खाया महीने
भर वा वर्षभर तक न पचे । इस लिये अन्य भी ऐसे आशय के श्लोक प्रसिद्ध ही
मानने चाहिये । पृथक् २ विशेष विचार आगे भाष्य में किया जायगा । इस उक्त
प्रकार से इस तृतीयाध्याय के सब दो सौ छयाशी २८६ श्लोकों में से ९० नब्बे
श्लोक प्रसिद्ध और शेष १९६ एक सौ छानवे श्लोक सब विचारशील महाशयों का
ठीक समझने चाहिये ॥

अथ पठनपाठनविषयेऽनध्यायविचारः ।

अस्मिन् मानवधर्मशास्त्रस्य चतुर्थोऽध्याये पञ्चनवतिपद्यादा-
रभ्य सप्तविंशत्युत्तरशततमपद्यावधि त्रयस्त्रिंशत्पद्येष्वनध्यायवि-
चारः कृतोऽस्ति । यद्यपि जगतः सर्वस्मिन्कृत्येषु यथाकथञ्चित्सम-
यविशेषेऽनध्यायेन भवितव्यम् । अर्थान्मनुष्यैश्चालितानि सर्वाणि
कर्माणि कस्मिंश्चिदुत्सवादिसमयविशेषे निरुध्यन्ते तदानीं कर्मिणो-
ऽवकाशस्था भवन्ति । बहुष्ववसरेषु तानि कर्माणि पारतन्त्र्येण त्य-
क्तव्यान्येव भवन्ति । यथा सूर्यस्योदयास्ते नियते तयोः कदापि नि-
रोधो नैव लक्ष्यते तस्य सर्वज्ञः परमेश्वरो नियामकोऽस्ति । अर्थात्
सर्वज्ञचालितनियमे कदापि निरोधोऽनध्यायो वा न दृश्यते । तथा
मनुष्यचालितनियमेषु नैव भवितुमर्हति तेषामल्पज्ञत्वात् । मनुष्या
मध्ये मध्ये श्रान्ता रुग्णा उपरता वा भवन्ति तदैव कार्यनिरोधः
स्वतएव क्रियते । यथा दुर्गन्धप्रायप्रदेशे मनुष्येण चेतस उद्दिग्न्त्वा-
च्छुभकर्म नैवाचरणीयमिति धर्मशास्त्रेषु विधीयते । इदमेवाऽनध्या-
यस्य प्रयोजनं यत्तस्मिन् देशे काले वा क्रियमाणं कर्म सुफलं वि-
शिष्टफलप्रदं वा न भवति तस्मात्तादृशावसरे निरोधः क्रियते तथा-
पि सर्वकर्मणां निरोधोऽनध्यायो वाऽत्र नैव विवेच्यते किन्तु पठन-
पाठनविषयस्यैवानध्यायविवेचनं प्रस्तुतम् । अन्येषां च यथावसरं
व्याख्यास्यामः ॥

बहुधा तु समयविशेषेऽनध्यायाः प्रदर्शितास्तत्रोष्णताधिक्येना-
न्यचेतसः क्षोभकेष्वेकाग्रताविधातकेषु वा विघ्नेषूपस्थितेषु वेदस्याध्य-
यनं न कार्यम् । तदानीं क्रियमाणं सुफलं न भवति । केषु चिद्देशेषु

वेदाध्ययनं निषिद्धम् । यथा मनुष्यप्रायसङ्घर्षे ग्रामे दुर्गन्धादिप्राय-
प्रान्तादौ नाध्येतव्यम् । तत्र चेतसो ग्लानिपरत्वान्न सम्यगध्येतुं
शक्यते । एवमन्यत्रापि निषिद्धप्रदेशे नाऽध्येतव्यम् । कासु चिद-
वस्थासु वेदाध्ययनं प्रतिषिद्धम् । यथोच्छिष्टः, शयानोऽशुचिश्च वेदं
न पठेत् । इत्याद्यवस्थास्वधीयानः सुफलं नाप्नोति । तस्मादनध्या-
यस्तत्र देशे कालेऽवस्थायां वा कार्यं इति । देशादिष्वनुकूलेष्वपि प-
र्वसु नैतिका अनध्यायाः श्रान्ताया बुद्धेरवकाशदानेन शान्त्यर्थमेव
सेवनीयाः । प्रत्यहं सर्वकार्येषु सम्यगेव मनो नैव लगति । तस्मा-
त्पर्वस्वनध्यायाः सदैव रक्षणीयाः । पर्वसु वैदिकरीत्या यज्ञस्य नै-
मित्तिकविशिष्टविधिरपि गृह्यसूत्रादिषु दृश्यते । तदानीं यजमाना-
नामध्येतुं समय एव न भविष्यत्यतो नैमित्तिककार्ये तस्याऽध्ययन-
स्यानध्याय एव रक्षणीयः । एवं सर्वेऽनध्यायाः सप्रयोजना एव ॥

केचित्प्रतिपद्यनध्यायमिच्छन्ति तथा चरन्ति च तच्च मानव-
धर्मशास्त्रादिरुद्धम् । तदानीमनध्यायरक्षणं निरर्थकं चतुर्दश्यमात्रा-
स्ययोरनध्यायसत्त्वात् । एवं त्रयोदश्यादावपि निरर्थको धर्मशास्त्र-
विरुद्धश्चानध्यायः । अत्रानध्यायप्रसङ्गे मानवधर्मशास्त्रेऽसम्भववि-
रुद्धादीनां विचारोऽग्रे प्रक्षिप्तसमीक्षायां भाष्ये वा द्रष्टव्यः । अत्र
चैतावतैवालं क्रियते ॥

भाषार्थः—अब पठनपाठनविषयक विचार किया जाता है । इस मानव-
धर्मशास्त्र के चौथे अध्याय में ९५ पञ्चानवे श्लोक से ले कर १२७ एक सौ सत्ताईश
श्लोक पर्यन्त तैंतीश श्लोकों में अनध्याय का विचार किया गया है । यद्यपि
संसार के सब कर्मों में किसी २ समय पर जिस किसी प्रकार अनध्याय होने
चाहिये । अर्थात् मनुष्यों के चलाये सभी कर्म किसी २ उत्सवादि समय विशेष
में अवश्य रुक जाते हैं । उस समय वा उन दिनों में कर्मचारी लोग कुट्टी पर

समझे जाते हैं। और अनेक अवसरों में वे कर्म परतन्त्रता से मनुष्यों को अवश्य छोड़ने पड़ते हैं। जैसे ईश्वरीय सृष्टि में सूर्य के उदय, अस्त नियमपूर्वक सदा चले जाते उन का निरोध कभी नहीं दीखता क्योंकि उन सूर्यादि का नियामक सर्वज्ञ परमेश्वर है। अर्थात् सर्वज्ञ के चलाये नियम में अनध्याय वा निरोध कभी नहीं दीखता। वैसे मनुष्य के चलाये नियमों में नहीं हो सकता क्योंकि वे अल्पज्ञ हैं। मनुष्य बीच २ में थकने, रोगी होने वा उदासीन होने से काम छोड़ देते हैं उस समय स्वयमेव कार्यों का अनध्याय हो जाता है। जैसे दुर्गन्धरूप प्रान्त में चित्त के व्याकुल होने से मनुष्य को शुभकर्म का आरम्भ नहीं करना चाहिये यह धर्मशास्त्रों में आज्ञा दी गयी है। और अनध्याय करने वा होने का यही प्रयोजन है कि जो उस निकृष्ट देश वा काल वा अवस्था में किया हुआ कर्म अच्छा वा विशेष फल देने वाला नहीं होता इस लिये वैसे अवसर में निषेध किया गया है। तो भी सब कर्मों के रोकने वा अनध्याय का यहां विचार नहीं किया जाता किन्तु पठनपाठन विषयक अनध्याय का विवेक करना प्रारम्भ किया है। अन्य विषयों का यथावसर विचार वा व्याख्यान होगा ॥

अधिकांश में तो समय विशेष (कि अमुक २ समय में वेद को न पढ़ना चाहिये) में अनध्याय दिखाये हैं। सो कहीं जैसे उष्णता की अधिकता से ठीकर पढ़ना नहीं होता किसी प्रकार उस समय के विशेष परिश्रम से उन्मादादि रोगों का होना भी सम्भव है। तथा अन्य भी चित्त को व्याकुल करने और एकाग्रता को बिगाड़ने वाले विघ्न आ जाने पर वेद नहीं पढ़ना चाहिये। क्योंकि उस समय का पढ़ना सुफल नहीं होता। तथा अनेक प्रदेशों में वेद का पढ़ना निषिद्ध है। जैसे जहां मनुष्यों का अधिक सङ्घट्ट हो, ग्राम, नगर, बाजार आदि वा जहां अधिक दुर्गन्ध हो ऐसे प्रान्त आदि में वेद नहीं पढ़ना चाहिये। किन्हीं अवस्थाओं में वेद का पढ़ना निषिद्ध है। जैसे झूठे, सोता हुआ अर्थात् लेट कर वा अशुद्ध, वा मैथुन किये पश्चात् विना स्नान किये वा विना वस्त्र बदले वेद को न पढ़े। इत्यादि अवस्थाओं में पढ़ने वाला अच्छे फल को नहीं पाता। इस लिये उस देश काल और अवस्था में अनध्याय करना चाहिये। देशादि के अनुकूल होने पर भी पर्व अर्थात् अमावास्या, चतुर्दशी और पौर्णमासी तथा अष्टमी को सदा वेद का अनध्याय करे क्योंकि सदैव काम वा पठन आदि का परिश्रम करते २ बुद्धि थक जाती है उस को अवकाश देकर शान्ति करने के लिये

अनध्याय मानने चाहिये । इसी अभिप्राय से सब कार्यालयों में विद्वानों ने नित्य नैमित्तिक अवकाश—छुट्टी—देने का नियम चलाया है कि जिस कारण बुद्धि वा शरीर के स्वस्थ हो जाने से फिर भी ठीक २ काम चलते हैं क्योंकि प्रतिदिन सब कार्यों में ठीक २ मन नहीं लगता है इस लिये पर्वों में सदा ही अनध्याय रखने चाहिये । और पर्वों में अनध्याय करने का यह भी प्रयोजन है कि उन दिनों में वेदोक्त रीति से मासेष्टि वा पक्षेष्टि आदि यज्ञों का नैमित्तिक विशेष विधान भी गृह्यसूत्रादिकों में दीखता है । तथा प्रायः ऐसे ही पर्व दिनों में पितृयज्ञ नाम तर्पण आहु का विशेष विधान है अर्थात् उन पर्व दिनों में विशेष देवयज्ञ वा पितृयज्ञ करने के लिये भी पढ़ने पढ़ाने वालों को अनध्याय रखना चाहिये । और जब विशेष यज्ञादि किये जावेंगे तो आप ही अवकाश न मिलने से नैमित्तिक कार्य में उस वेद के पढ़ने का अनध्याय ही रखना पड़ेगा इस प्रकार सब अनध्याय प्रयोजन सहित हैं । और मुख्य कर तो वेद ईश्वरीय विद्या है उस को बड़ी सावधानी और पवित्रतादि के साथ पढ़ना चाहिये जिस से ठीक तात्पर्य समझ में आवे । और जिस २ देश वा काल वा दशा में चित्त के सावधान न रहने से उलटा समझनादि विपरीत वा दुःख होना सम्भव है तब २ अनध्याय कहा गया ॥

कोई लोग प्रतिपदा को अनध्याय मानते वा करते हैं सो मानवधर्मशास्त्र से विरुद्ध है । क्योंकि उस समय अनध्याय रखना इस से व्यर्थ है कि चतुर्दशी अमावास्या वा पूर्णमासी को अनध्याय हो चुका । ऐसे ही त्रयोदशी आदि में भी अनध्याय व्यर्थ है और धर्मशास्त्र से विरुद्ध भी है । इस अनध्याय के प्रसङ्ग में इस ग्रन्थ में जो कोई असम्भव वा विरुद्ध श्लोक होंगे उन का विचार चतुर्थाध्याय के प्रसिद्ध प्रकरण में वा भाष्य में देखना चाहिये । यहां इतने ही पर समाप्त करते हैं ॥

अथ दानधर्मविवेचनम् ॥

यद्यप्यत्र दानधर्मवैशिष्ट्येन किमपि वक्तव्यं नास्ति । अस्मिन् चतुर्थाध्याये सर्वमुक्तमेव भाष्ये चान्यदपि स्पष्टीभविष्यति । तथापि संचेपेण दानस्य सिद्धान्त उच्यते । अस्मिन्नध्याये षडशीत्युत्तरशततमपद्यादारभ्याध्यायपरिसमाप्तेर्दानस्यैव विवेकः प्रदर्शितः ।

दानधर्मे पञ्चाङ्गानि प्राधान्येन सर्वदा परीक्षणीयानि । तद्यथा दाता, प्रतिग्रहीता, देयं वस्तु, दानस्य कालो देशश्च । कीदृशेन दात्रा-धिकारिणा देयम् । प्रतिग्रहीता कीदृशः स्यादित्यादिप्रकारेण सर्व-मुचितमनुचितमालोच्य दात्रा देयम् । तदेव सम्यगुक्तं दानमस्ति । गुणानां त्रैविध्याद्दानस्य त्रैविध्यमपि प्राप्तम् । तच्च भगवद्गीतासु सप्तदशोऽध्यायउक्तम् ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥१॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्षिप्तं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३॥

इत्थं त्रिविधं दानम् । तत्र सात्त्विकमेव प्रशस्तं दानं सज्जनैराचरणीयमिति सिद्धान्तः । अकरणान्मन्दकरणं श्रेयइति न्याया-द्दानधर्मस्य कथमपि सेवनं ये न कुर्वन्ति तदपेक्षया मध्यमनिकृ-ष्टदानयोस्नुष्ठातारोऽपि प्रशस्ताएव सन्ति । तथापि धर्मशास्त्रेण सा-त्त्विकमेव दानं विधीयते न तु राजसतामसेइति सिद्धान्तः । एवं सत्यपि यत्रादाताऽऽधिक्येनाधार्मिकस्त दात्रा दत्तं वस्तु समादाय तदाश्रयेणैवाधर्ममाचरति तदा विधिनाप्यर्जितं धनं दीयमानमन-र्थकरं भवति तदुक्तं मनुनैव-

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।

दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १ ॥

यथा छवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।

तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥२॥

सिद्धमेतेन यद्वाजसतामसे अपि दाने अधर्मिणे नैव दातव्ये ॥

अत्र दानधर्मे दाता प्रशस्तकोटिस्थः प्रतिग्रहीता च निकृष्ट-
त्वमापद्यते येन यस्माद्दानमुपादीयते स तदग्रे लज्जितः शङ्कितश्च
जायते यदि च प्रतिग्रहो निकृष्टो न स्यात्तदा लज्जा शङ्का वा न
स्यात् । अतएवोक्तम्—प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ।

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।

प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥

एवं विचार्य ब्राह्मणेन निदुषा प्रतिग्रहरुचिना न भाव्यम् । दात्रा
च दानरुचिना भाव्यम् । एवं सत्येव धर्मशास्त्राणां सम्यग् व्यवस्था
भवितुमर्हति । यस्मिन् देशे यस्मिन् काले च दानधर्मस्य सम्यग्-
धर्मशास्त्रानुकूला प्रवृत्तिर्भवति स देश उन्नतिमापन्न इति वक्तुं शक्य-
ते । यत्र चैतन्नास्ति तत्रावनतिरेव तथाचोक्तम्—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमइति ।

अतः सर्वैः सर्वदा दानधर्मः शास्त्रानुकूलतयैव सेव्य इति ॥

इदमत्र तात्पर्यम्—यस्मिन् कर्मणि व्ययकरणेन विना स्वसु-
खस्य विद्याद्यभावेनेतरेषां सर्वसाधारणानां वा हानिर्जायते तत्र तत्र
विद्याधर्मादीनां प्रचारहेतुके कर्मणि व्ययकरणं दानमेव । तादृशक-
र्मसु व्ययमकृत्वा यत्र व्ययकरणं निष्फलं यत्र वा विपरीतफल-
प्रदं तत्र क्रियमाणं हानिकरमवनतिकरं वा भवति । ये च जगदुप-
कारका विद्वांसस्तेषां निर्वाहायापि धनादिकं देयम् । येन तेषां कालः
स्वनिर्वाहचिन्तायां नैव गच्छेत् किन्तु जगदुपकारचिन्तामेवाहर्निशं

कुर्युरिति । ये चानाथास्तेषामप्यन्नादिदानेन भरणं दानमेव येन वस्तुना विना यस्मिन् काले धर्महानिः प्रतीयते तदानीं तस्य दानमेव श्रेयस्करम् । तथापि विद्यादानं सर्वदानेभ्य उत्तमतममस्ति । अन्यानि च दानानि यथायोग्यं यथाकालं वा प्रधानानि । दानधर्मः सर्वधर्मस्य प्रधानाङ्गम् । श्रीमद्भिस्तु प्रत्यहं निर्विकल्पं सेवनीयः । कुतस्तैः शरीरेण धर्मः कर्तुमशक्यः सुकुमारत्वाद्भ्रनव्यापारे चेतसो बद्धत्वाच्च । एवं मत्तैव महाभारतउद्योगपर्वण्युक्तम्—

हावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।

धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥

परत्र दानधर्मस्य यत्फलं तत्त्वस्यैव किन्तु प्रत्यक्षदशायामपि दानस्य महत्फलमस्ति । प्रायशो दानधर्मसेविनः पुरुषस्य जगति शत्रवो न भवन्त्यपितु मित्राणि वर्द्धन्ते । दानं कुर्वतश्च तदानीं सदैवोत्साहः प्रवर्द्धते चेतः प्रसीदति सन्तुष्यति च । चेतःप्रसादश्च सर्वदुःखविनाशकः सर्वसुखहेतुश्च भवति । तस्माद्धर्मशास्त्रानुकूलमेव दानं सर्वैः सेव्यम् । विशेषो भाष्ये व्याख्यास्यते तत्रैव द्रष्टव्यः । तत्रैव दानस्यानधिकारिणामपि वर्णनं भविष्यति ॥

भाषार्थः—अब दान धर्म का संक्षेप से विवेचन किया जाता है । यद्यपि इस दान धर्म विषय में विशेषता से इस लिये कुछ वक्तव्य नहीं है कि इस चतुर्थ-अध्याय में सब विषय स्पष्ट कर कहा है । और माण्य में और भी स्पष्ट हो जायगा । तो भी संक्षेप से दान का सिद्धान्त कहा जाता है । इस चौथे अध्याय में छद्माशी श्लोक से ले कर अध्याय की समाप्ति पर्यन्त दान का ही विवेचन किया है । दान धर्म में पांच अवयवों की मुख्य कर परीक्षा करनी चाहिये । दान देने तथा लेने वाला, जिस वस्तु का दान दिया जाय वह तीसरा चौथा दान का समय और पांचवें दान का देश कि किस प्रान्त में दान करना उपयोगी वा अनुपयोगी है । कैसे दाता को दान देना चाहिये किस का दान देने का अधिकार

है । और दान लेने वाला कैसा हो इत्यादि प्रकार से दाता को उचित अनुचित का विचार कर दान करना चाहिये । वही सम्यक् उत्तम दान है । गुणों के तीन भेद होने से दान भी तीन प्रकार का है सो भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में कहा है कि “वेदादि शास्त्रों में दान देना लिखा है इस कारण शास्त्र की आज्ञानुसार दान देना चाहिये किन्तु यह न विचारा जाय कि इस से मुक्त को फल मिलेगा वा नहीं किन्तु निष्कारण अपना कर्त्तव्य समझ कर जो दान ऐसे पुरुष को दिया जाता है जिससे अपना कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता । तथा जिस दान में देने योग्य देश काल और सुपात्र का विचार कर लिया जावे वह दान सार्विक अर्थात् सर्वगुण सम्बन्धी होने से सर्वोत्तम है ॥१॥ और जो प्रत्युपकार होने के लिये कि जिस को हम दान देते हैं उस से हमारा अमुक काम निकलेगा वा मुक्त को इस दान से अमुक फल मिलेगा इस लिये दान देना चाहिये । इस प्रकार किसी प्रकार के दबाव, परवशता वा लोकलज्जादि के कारण अपने पर भार समझ कर दिया जाता है वह दान रजोगुणसम्बन्धी मध्यम समझा जाता है ॥२॥ तथा जो देश काल का विचार न करके वा विरुद्ध देश काल में (कि जहां दान करने से उलटा फल होना सम्भव है) कुपात्रों को दान दिया जाता है कि जिस में दान लेने वाले का अनादर वा अपमान भी हो वह तमोगुण सम्बन्धी सब से नीच है” इस उक्त रीति से तीन प्रकार का दान है । उस में सर्वगुणसम्बन्धी सब से श्रेष्ठ दान है उसी का आचरण वा सेवन सज्जनों को करना चाहिये यही सिद्धान्त है । “न करने से कुछ करना भी अच्छा है” इस जनश्रुति—कहावत के अनुसार जो लोग किसी प्रकार कुछ भी दान नहीं देते उन की अपेक्षा मध्यम निकृष्ट दानों के सेवन करने अर्थात् मध्यम वा निकृष्ट प्रकार से दान देने वाले भी उत्तम ही हैं । तो भी धर्मशास्त्र में सर्वगुणसम्बन्धी दान का विधान किया है किन्तु रजोगुण तमोगुण सम्बन्धी का नहीं यही सिद्धान्त है । यद्यपि यह पूर्वोक्त सिद्धान्त ठीक है तो भी जहां दान लेने वाला अधिकता से अधर्मी है कि वह दाता के दिये वस्तु को ले कर उसी के आश्रय से अधर्म करता है तो वहां धर्मानुकूल संचित किये धन का दान भी अनर्थकारी अर्थात् पुण्य के बदले पाप कराने वाला होता है । सो मनुस्मृति के इसी चतुर्थोऽध्याय में कहा है कि “विहालव्रतिक अर्थात् सूचक को पकड़ने के लिये बिलाई कीसी दृष्टि रखने वाला कि अवसर पा कर झूट दूसरों के माल को

मार लेवे इत्यादि दुर्गुणयुक्त तीनों प्रकार के मनुष्यों को धर्मानुकूल उपाजन किये धन का भी दान दाता के लिये पाप का हेतु होता है। और जन्मान्तर में दान लेने वाला भी पापभागी होता है। जैसे पत्थर की नौका पर चढ़ के जल में तरने वाला पत्थर के साथ ही डूब जाता है वैसे ही उस दान के सहित दुष्ट को दान देने वाला और दान लेने वाला दोनों दुःखसागर डूबते हैं" इस उक्त लेख से सिद्ध हुआ कि रजोगुण तमोगुणसम्बन्धी दान भी अधर्मी को नहीं देना चाहिये ॥

इस दान धर्म के प्रसङ्ग में दाता प्रशस्त कीटि में और दान लेने वाला निरुष्ट कीटिस्थ समझा जाता है इसी कारण जो पुरुष जिस दाता से दान लेता है वह उस के सामने लज्जित शङ्कित वा दबा हुआ रहता है। यदि दान लेना नीच काम न होता तो लज्जा वा शङ्का भी न होती इसी लिये इस मानवधर्म शास्त्र में कहा है कि "दान लेना अच्छा नहीं" तथा "दान लेने में समर्थ अर्थात् विद्वान् वा धर्मात्मा दान लेने का अधिकारी हो कर भी दान लेने का प्रसङ्ग न आने देवे क्योंकि दान लेने से विद्वान् का विद्या सम्बन्धी तेज घट जाता है" ऐसा विचार कर विद्वान् ब्राह्मण को भी दान लेने की इच्छा न रखनी चाहिये। दान लेने की इच्छा वा रुचि रखने वाला विद्वान् ठीक धर्मात्मा कदापि नहीं रह सकता इसी लिये इस का निषेध है। परन्तु दाता को सदा ही दान देने की रुचि रखनी चाहिये अर्थात् दाता का यही मुख्य धर्म है कि वह सुपात्रों को दान देने की सदा इच्छा बढ़ाता रहे और दान लेने वाले सदा बचते रहें। ऐसा होने पर ही धर्मशास्त्रों की ठीक व्यवस्था हो सकती है। जिस देश और काल में धर्मशास्त्रों के अनुकूल दान धर्म की सम्यक् प्रवृत्ति होती है वह देश उत्थति को प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है। और जिस देश में ऐसा नहीं होता वहाँ अवनति ही बनी रहती है। सो कहा भी है कि "जहां अपूज्य वा अयोग्यों की पूजा वा सत्कार होता और योग्य विद्वानों का सत्कार नहीं होता उस देश की दुर्दशा ही होती है" इस लिये सब की सब समय में शास्त्र के अनुकूल ही दान धर्म का सेवन करना चाहिये ॥

इस दान धर्म विषय में तात्पर्य यह है कि जिस कर्म में व्यय किये बिना अपने सुख और विद्यादि का प्रचार न होने से अन्य सर्वसाधारण मनुष्यों की हानि होती है उस २ विद्या वा धर्मादि के प्रचार कराने वाले कर्म में व्यय

करना मुख्य कर दान ही है। वैसे उक्त कामों में व्यय न कर के जिस काम में व्यय करना निष्फल है अथवा जहां विरुद्ध फल देने वाला है वहां का व्यय करना हानि वा देश की अवनति कारक होता है। और जो जगत् के उपकारक विद्वान् लोग हैं उन के निर्वाहार्थ भी धनादि वस्तु देने चाहिये जिससे उन लोगों का समय अपने निर्वाह की चिन्ता में न जावे किन्तु वे लोग दिन रात जगत् के उपकार की चिन्ता में ही लगे रहें। और जो अनाथ वा अशक्त मनुष्य हैं उन का अन्नादि दान से भरण पोषण करना दान धर्म ही है। जिस वस्तु के बिना जिस काल में धर्म की हानि प्रतीत होती है उस वस्तु का उस समय देना ही बड़ा कल्याणकारी है। तथा विद्यादान सब दानों में उत्तम है। अन्य दानधर्म यथा-काल वा यथायोग्य उत्तम मध्यम समझे जाते हैं ॥

यदि किसी प्रकार विद्वान् धर्मात्मा लोगों का दान लिये बिना कार्य नहीं चलता वा लेना अवश्य पड़ता है तो जिन के यहां अधर्म वा अनेकों को पीड़ा पहुंचा कर धन आता हो वा जो अत्यन्त नीच प्रकृति लोग हों उन से दान न लेवें क्योंकि ऐसी से लेना पाय है। परन्तु दुष्ट नीच प्रकृति अधर्मी और कुटिलों से भी धन लेकर अपने उपयोग में न लगावे और सर्व साधारण के उपयोगी यज्ञादि काम में लगा देवे तो दान लेने वाले को पाप नहीं किन्तु पुण्य ही है।

और कर्म काष्ठ कराने अर्थात् विवाह यज्ञोपवीतादि संस्कार कराने वाले को वा यज्ञादि कराने वाले को जो दक्षिणा दी जाती है वह दान के अन्तर्गत नहीं गिनी जायगी क्योंकि वह परिश्रम का बदला [महनताना] है उसका लेने वाला भी वैसा निरुष्ट नहीं समझा जाता किन्तु दान वही है जिससे अपना कुछ भी उपकार न हुआ हो उसको धर्म बुद्धि से दिया जावे। धर्म के सब अंशों में दानधर्म प्रधान अवयव है। श्रीमानों को तो प्रतिदिन निस्सन्देह दानधर्म का सेवन करना चाहिये क्योंकि वे लोग शरीर से धर्मका सेवन नहीं कर सकते अर्थात् धनी लोग प्रायः सुकुमार होते और धन के लेन देन आदि व्यापार में उन का चित्त बंधा रहता है। ऐसा मान कर ही महाभारत के उद्योग पर्व में कहा है कि “दो पुरुषों को गले में पत्थर की शिला बांध कर जल में डुबा देना चाहिये एक तो धनी हो कर जो दान नहीं करता द्वितीय दरिद्र हो कर जो शरीर से तप नहीं करता” जन्मान्तर में दान धर्म का जो फल है वह तो है ही किन्तु प्रत्यक्ष दशा में भी दान का बड़ा फल है। प्रायः जो दान धर्म का सेवन करने

वाला है उस पुरुष के जगत् में शत्रु नहीं होते किन्तु मित्र सदा बढ़ते हैं । और दान करते हुए मनुष्य का सदा उत्साह बढ़ता चित्त प्रसन्न वा सन्तुष्ट होता है और चित्त के प्रसन्न होने से सब दुःखों का विनाश और सब सुखों की प्राप्ति होती है । इससे धर्मशास्त्र के अनुकूल सब को दान का सेवन करना चाहिये । भाष्य में विशेष व्याख्यान होगा वहीं देखना चाहिये । तथा वहीं दान के अनधिकारी भी गिनाये जायेंगे ॥

अथ पूजोपासनाविषये मूर्तिपूजाविचारः ॥

अस्मिन् मानवधर्मशास्त्रे सावित्र्या जपस्य सर्वथा प्राधान्यं प्रदर्शितम् । तत्र च जगत्स्रष्टा परमात्मैवोपास्यत्वेनोपदिष्टो नैव काचित्पाषाणादिजन्या मूर्तिरुपास्यत्वेन विहितास्ति । एतदेवोपासनं योगशास्त्रानुकूलमस्ति तच्चोक्तम्—तज्जपस्तदर्थभावनम् । ओङ्कारस्य तद्युक्तायाः सावित्र्या वा जपस्तदर्थस्य परमात्मनो भावनं मुहुर्मुहुश्चेतसि निवेशनं तद्गुणानुसन्धानं चोपासनम् । अन्यत्रापि मानवधर्मशास्त्रे यत्र यत्रोपासनाप्रसङ्गस्तत्र तत्र वेदमन्त्रैरेवास्ति । एवं मत्त्वैवाग्निहोत्रेऽपि प्रधानतया परमात्मैव वेदमन्त्रैरुपस्थानसंज्ञकैः स्तूयते । देवः परमात्मा इज्यते पूज्यते यत्र येन वा कर्मणा तदग्निहोत्रं कर्म देवयज्ञ इति नाम्ना ख्यातम् । उपासनाप्रसङ्गे देवशब्दः परमात्मनो वाचक इति सिद्धान्तः । द्वादशोऽध्याये मनुनाप्युक्तम् । आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥ अर्थाद्यत्र २ देवतापदेनोपासनमुच्यते तत्र तत्रात्मनएवोपासनं विज्ञातव्यम् । अतएव देवताभ्यर्चनमित्यादिवाक्यैः परमात्मन एव वेदमन्त्रैरुपासनमित्यपि सिद्धं भवति । प्रातरुपासनायामन्यदप्युक्तम्—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।

कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

अत्र वेदतत्त्वार्थपदेन परमात्मनएव प्रातरुपासनं विधीयते नैव पाषाणादिनिर्मितप्रतिमायाः । तथा प्रामाणिकपुरुषैरङ्गीकृतेषु व्याकरणकोषादिनिबन्धेषु देवशब्दः क्वापि पाषाणादिमयमूर्तेर्वाचको नोपलभ्यते तेनापि कारणेन पाषाणपूजनं मानवधर्मशास्त्रविहितं नास्ति । न च क्वाप्यस्मिन् ग्रन्थे पाषाणादिजन्यप्रतिमानां परमात्मबुद्ध्या पूजनं कार्यमिति विहितम् । देवशब्देन च पूजनं परमात्मन एवास्ति । एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा इत्याद्युपनिषदाक्यैश्च सिद्धं यदुपासनप्रसङ्गे देवशब्दः परमात्मन एव वाचकः । तेन मानवधर्मशास्त्रेऽपि निराकारनिर्विकारनित्यशुद्धबुद्धमुक्तत्वभावस्य सच्चिदानन्दरूपस्यैव परमात्मन उपासनं विधीयते नैव मूर्त्यादीनामिति सिद्धान्तः ॥

भाषार्थः—अब पूजा वा उपासना विषय में मूर्त्तिपूजा का विचार किया जाता है । इस मानवधर्मशास्त्र में सावित्री (तत्सवि०) मन्त्र के जप की सब प्रकार प्रधानता दिखायी है उस मन्त्र में सब जगत् का रचने वाला परमेश्वर ही उपासना के योग्य बतलाया गया है । किन्तु कोई पत्थर आदि की मूर्त्ति उपासना के योग्य नहीं ठहराई गयी इसी प्रकार की उपासना वेद और योगशास्त्र के अनुकूल है वेद में लिखा है कि तू एक असहाय अनुपम आदि विशेषण युक्त है ऐसी हम उपासना करते हैं । तथा योगशास्त्र में लिखा है कि ओङ्कार वा ओङ्कारयुक्त गायत्री का बाणी वा मन से जप करना तथा उस के वाच्यार्थ परमात्मा का अपने चित्त में बार २ विचार और ध्यान तथा उस के गुणों का चिन्तन करना उपासना है मानवधर्मशास्त्र के अन्य स्थलों में भी जहां २ उपासना का प्रकरण है वहां २ वेदमन्त्रों के साथ ही प्रतीत होता है । ऐसा मान कर ही अग्निहोत्र में भी उपस्थानसंज्ञक वेदमन्त्रों से मुख्य कर परमात्मा की ही स्तुति की है । जिस कर्म में वा जिस कर्म से देवनाम परमेश्वर की पूजा होती है वह अग्निहोत्रकर्म देवयज्ञ कहाता है । अर्थात् उपासना प्रसङ्ग में देवशब्द परमेश्वर का वाचक है यही सिद्धान्त जानो । बारहवें अध्याय में मनु

ने भी कहा है कि सर्वव्याप्त परमेश्वर का ही नाम देव है अर्थात् जितने देव के अवान्तर भेद आते हैं वे सब आत्मा के नाम हैं और उसी एक में सब संसार ठहरा हुआ है । इस से जहां २ देवता पद से उपासना कही जाती है वहां २ आत्मा की ही उपासना जाननी चाहिये । इसी कारण “देवताभ्यर्चनम्” इत्यादि वाक्यों से परमेश्वर की ही उपासना वेदमन्त्रों द्वारा सिद्ध होती है । प्रातःकाल की उपासना में और भी कहा है कि प्रातः कुछ अन्ये ही उठ कर वेद के तत्त्वार्थ [कि मुख्य कर वेद में जिस का व्याख्यान है उस] परमात्मा का चिन्तन करे । यहां वेद शब्द के साथ रहने से पौराणिक पाषाणादि मूर्तियों का चिन्तन नहीं आ सकता । तथा प्रामाणिक सज्जन विद्वानों के माने हुए व्याकरण कोषादि ग्रन्थों में पाषाणादि मूर्तियों का वाचक देवशब्द कहीं नहीं मिलता । इस कारण से भी पत्थर आदि की जड़ मूर्तियों का पूजन मानवधर्मशास्त्र के अनुकूल विहित नहीं है । और न कहीं इस ग्रन्थ में पत्थर आदि जड़ से बनी प्रतिमाओं की परमात्मा बुद्धि से पूजा करनी चाहिये ऐसी आज्ञा है । और देव शब्द से परमेश्वर का ही पूजन माना गया है “सर्वान्तर्यामी सर्वव्याप्त एक देव—परमेश्वर सब प्राणियों में गुप्त हो रहा है” इत्यादि उपनिषद् के वाक्यों से भी सिद्ध है कि जो उपासना प्रसङ्ग में देवशब्द परमात्मा का ही वाचक है । इस से मानवधर्मशास्त्र में भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, निराकार, निर्विकार, और सच्चित्, आनन्दस्वरूप, परमात्मा की ही उपासना का विधान किया गया है किन्तु मूर्ति आदि की पूजा का नहीं यही सिद्धान्त है ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्थप्रक्षिप्तश्लोकसमीक्षणम् ॥

सप्तविंशतिपद्यादष्टाविंशतिपद्यावधि द्वेपद्ये प्रक्षिप्तेस्तः । अत्र षड्विंशः श्लोकः पञ्चविंशस्थविधेः शेषप्रतिपादकः । विधिः शेषो विधि-वाक्येनैव गृहीतो भविष्यति । तत्र षड्विंशतिपद्ये पशुनेति पशु-विकारभूतेन घृतादिनैव प्रधानतया जुहुयादिति विधीयते । यदि कश्चित्पशुसंभूतेन मांसेन जुहुयादिति कल्पयेत्तत्रापि पशुसंभूतकल्पनं समानमेव, नास्ति कश्चिद्विशेषहेतुर्यत्पशुसंभूतं मांसमेव ग्राह्यं

न दुग्धघृतादिकमिति । मांसं च प्राणवियोगानुकूलव्यापाररूपा हिंसा
स्यात्तदैव सम्भविष्यति । हिंसायां च पापमेवास्ति । विद्यमाने च
पशौ तत्सम्भवेन घृतादिना पुनरपि यागः कर्तुं शक्यते यदि च हत्वा
मांसहोमः करिष्यते पशुस्तदानीमेव समाप्तः पुनर्भाविनो दुग्धादि-
लाभस्यापि नाश एव । मांसे च दह्यमाने दुर्गन्धिरेव निस्सरिष्यति ।
घृतेन च सुगन्धिरेव भविष्यति । तस्मात्पशुशब्देन पशुसम्भवं घृता-
दिकमुपादेयम् । यदि लाक्षणिकार्थो न स्यात्तदा पशुनेति तृतीया-
र्थयोजनमशक्यम् । नहि जीवन्नेव सावयवः पशुरग्नौ हेतुं शक्यते
तस्मादुक्तार्थ एव साधुरिति । सप्तविंशत्यष्टाविंशतितमे पद्ये चार्थवा-
दरूपे । सचार्थवादो नैव शास्त्रानुकूलो युज्यते । यदा च वेदे सा-
क्षादेवोक्तम् “यजमानस्य पशून्पाहि” अस्यायमाशयः—यजमानस्य
यज्ञमनुतिष्ठतः पुरुषस्य पशवो गवादयो न केनापि हन्तव्याः किन्तु
यजमानसम्बन्धिनां पशूनां यज्ञार्थमेव रक्षा कार्या । यदि च यजमा-
नानां गवादयो नष्टा भविष्यन्ति तर्हि दुग्धघृताद्यभावेन यज्ञस्यैव
हानिः स्यात् । एवं सति पशुमांसादिना ये होतुमिच्छन्ति ते वेद-
विरोधिनः । तथैवोक्तश्लोकावपि मांसहोमस्तावकाविति कृत्वा वेदवि-
रुद्धौ शिष्टैर्नाङ्गीकार्यौ स्तः । अष्टाविंशतिपद्यस्योपरि षष्ठस्य रामच-
न्द्रस्य भाष्यं च नोपलभ्यते तेनापि कारणेन तस्य प्रक्षिप्तत्वमनुमीयते
यत्पुस्तकमादाय रामचन्द्रेण भाष्यं निर्मितं तत्र तन्नासीदिति ॥

अग्रे षडशीतिपद्यादारभ्यैकनवत्यवधि षट् प्रक्षिप्तानि । इमेऽ-
पि श्लोका असम्भवार्थवादरूपा एव सन्ति । यद्यपि पञ्चाशीति पद्ये
योऽर्थवादस्तत्रापि कथञ्चिदत्युक्तिः प्रतीयते तथापि तस्य भयानक-
त्वमनुमीयते । अत्रोच्छास्त्रवर्तिनोऽराजन्यप्रसूतस्य च दानं विदुषा न

ग्राह्यं तस्य ग्रहणं पञ्चाशीति पद्योक्तप्रकारेण दूषितमित्येव सुवच-
म् । अराजन्यप्रसूतस्योच्छास्त्रवर्तिराज्ञश्च दानस्य प्रतिग्रहीता क्रमे-
णैकविंशतिनरकानामुयादिति सर्वथाऽसम्भवम् । एकादशाध्याये प्रा-
यश्चित्तप्रसङ्गे महापातकान्युपपातकानि च परिगणितानि तत्र ब्रह्म-
हत्यादिमहापातकानामेव नरकप्राप्तिः फलमुक्तम् । यद्यथा—

बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षयात् ।

संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥

महापातकान्येव च सर्वपापेषु प्रधानानि तेषामेव प्रधानेन
दुःखमयेन नरकगमनफलेन भाव्यम् । यदि च प्रतिग्रहस्य नरकं
फलं तर्हि महापातकानां ततोऽधिकतरं किं दुःखफलं स्यात् ? । अ-
तएव निन्दितप्रतिग्रहस्य नरकफलाभिधानमसङ्गतम् । तथा च
निन्दितप्रतिग्रह उपपातकेष्वपि नैव परिगणितोऽस्ति किन्तुः—

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।

अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥११।६१॥

अस्य च फलं तेन स्वयमेवाग्रेऽभिहितम् । तद्यथा—

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ॥

एवं च यदैकादशोऽध्याये निन्दितप्रतिग्रहस्य चान्द्रायणमेकं
प्रायश्चित्तं पुनरत्र चतुर्थाध्याये तस्य प्रतिग्रहस्यैकविंशतिनरकप्रा-
प्तिफलाभिधानमितरेतरं विरुध्यते । एकादशस्थं च कथनं सम्यग्-
भाति । अत्रत्यानि च षट् पद्यानि प्रक्षिप्तानि सिद्धानि नात्र श-
ङ्कास्ति नरकविषयको विचारश्च कर्मफलविचारावसरे द्रष्टव्यः ॥

अग्रे दशोत्तरशततमेकादशोत्तरशततमे द्वे चतुर्दशोत्तरशततमं च
पद्यत्रयं प्रक्षिप्तमस्ति । एकोदिष्टस्य निमन्त्रणमङ्गीकृत्य किमर्थं वेद-

पाठः प्रतिषिध्यते ? । वेदाध्यायिनामन्तेवासिनां यदा केनचिन्निम-
न्त्रणं क्रियते तदा भोजनोद्योगसमयोऽप्यध्ययनाय मेलिष्यति तदा-
नीं तु प्रसन्नतया पूर्वतोऽप्यधिकतरमध्येतव्यम् । किन्तु श्राद्धभोजना-
नन्तरं नाध्येतव्यं शरीरस्य गुरुत्वादजीर्णभयाच्च तत्तु पूर्वपद्येन नि-
षिद्धमेव । सूतकशब्दस्य यदि योगरूढार्थः सन्तानोत्पत्तिकालः स्वीक्रि-
यते तर्हि राज्ञः पुत्रोत्सवे प्रसन्नतयाऽवश्यं वेदपाठः कार्यः । कुर्वन्ति
च तथैव मनसःप्रसादविशेषात् । यदि सूतकशब्देन राजादेर्मरणान-
न्तरं शोककाल उपादीयते तदा तु वेदाध्ययनं न कार्यं राज्ञः शोकः प्रजा
स्थैरपि करणीयः । राहुश्चैको ग्रहो लोकश्चास्ति तस्य गृहे तस्यैव वा मरणं
जीवनं च ह्यमप्यसम्भवमिति कृत्वा राहोः सूतकमेव नास्ति किन्तु
सूर्याचन्द्रमसोरुपरि लोकान्तरच्छायारूपं ग्रहणं च नास्त्यध्ययनस्य
विग्रहेतुरिति कृत्वा तादृशावसरेऽध्ययननिषेधो निरर्थकः । तथाग्नि-
मोर्धवादोऽप्यनर्थकः । प्रात्यहिकभुक्तस्यैकानुदिष्टभुक्तस्य वा गन्धो
लेपश्च शरीरे स्थास्यत्येव नैव दिनहयेन मासेन वा नष्टो भवितु-
मर्हति । यथा समुद्रे गतं गङ्गोदकं नैव नश्यति तथैव रसरुधिरा-
दिधातुरूपेणाहारो देहे व्याप्स्यति पुनः किं यावज्जन्मवेदाध्ययन-
मेकानुदिष्टभोजिना त्याज्यम् ? नैतत्सम्भवति तस्मात्प्रक्षिप्तमेतत् ।
अमावास्या गुरुं हन्तीत्यादिरर्थवादस्तु प्रामादिकः प्रत्यक्षादेव विरु-
द्धत्वात् । नैवामावास्यायामध्यापनादध्यापका मृता दृश्यन्ते । पर्व-
स्वनध्यायस्य प्रयोजनन्तूक्तमेव । अग्रे षड्विंशत्युत्तरशततमं चापि
पद्यं प्रक्षिप्तं प्रतिभाति । नहि पशुमण्डूकादीनामन्तरागमनेऽध्याप-
काध्येत्रोः काचिदपि हानिः केनचिद्द्विषानुमातुं शक्यते । एवंभूत-
वाक्यैर्धर्मशास्त्रस्य तुच्छत्वमप्यायाति । एवम्भूतं वेदाध्ययनं मह-

त्कर्मास्ति तस्य मण्डूकादयस्तुच्छाः क्षुद्राः प्राणिनो विघ्नकारकाः स्यु-
रित्यसम्भवं च । विघ्नकारको हेतुश्च विघ्नविषयात्प्रबलो भवति तदा-
नीमेव विघ्नो भवितुमर्हति । कुपथ्यप्राबल्ये रोगवत् ॥

अग्रे पञ्चषष्टिषट्षष्ट्युत्तरशततमपद्ये प्रक्षिप्ते स्तः । अत्र प्रथ-
मेऽवगुरणस्य शतं वर्षाणि तामिस्रनरके पतनं फलमभिहितम् ।
एकादशेऽध्याये चावगुरणस्य कृच्छ्रमेकं प्रायश्चित्तमुक्तं तेनैतद्विरुध्यते ।
न च द्वयं सम्भवति । अवगुरणरूपस्य पापस्य फलं दण्डो वा कृच्छ्र-
मप्यधिकमेवास्ति किन्तु शतं वर्षाणि नरकपतनफलन्त्वसम्भवमेव ।
नहि कश्चिदपि विद्वानेतादृशलघुपातकस्येदृशं बृहत्फलं न्याय्यमू-
रीकरिष्यति । द्वितीयेऽत्रैकविंशति जन्मानि पापयोनिषु पतनं ब्रा-
ह्मणताडनस्य फलमभिहितमस्ति । एकादशाध्याये च प्रणिपत्य
प्रसादयेदिति प्रायश्चित्तमभिहितं तदपीतरेतरं विरुध्यते । अत्रापि
पूर्ववदल्पापराधस्येदृशं महदुःखफलमसम्भवमन्याय्यञ्च । अष्टषष्ट्यु-
त्तरशततमं पद्यं च प्रक्षिप्तम् । एकादशे च ताडनेन ब्राह्मणस्य
शोणितोत्पादनेन कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ प्रायश्चित्तमुक्तम् । तावदेवास्याप-
राधस्य दण्डः सम्भवति । अत्रत्यं च फलमसम्भवमन्याय्यं चास्ति ।
एवमत्र पद्यत्रयं प्रक्षिप्तं प्रतिभाति ॥

अग्रे एकाशीत्युत्तरशततमपद्यस्योत्तरार्द्धादारभ्य चतुरशीत्युत्तर-
शततमपद्यस्य पूर्वार्द्धावधि पद्यत्रयं प्रक्षिप्तमस्ति । ऋत्विगादिमा-
न्यपुरुषैः सार्द्धं विवादो नैव कार्य्य इति स्पष्टमेव शिष्टैः स्वीक्रियते
नात्रार्थवादत्वेन कारणवादोऽपेक्ष्यते । सति विवादे तेषां मान्यत्वहा-
निरेवास्ति । इदमपि स्पष्टं कारणम् । नैव सर्वविधिष्वर्थवादेन भाव्य-
म् । असम्भवश्चायमर्थवादो यद्ब्रह्मलोकस्य स्वाभ्याचार्यः स्यादिति ।

यस्य ब्रह्मणो लोकस्स एवेशो भविष्यति । यद्यचार्यः स्वामी स्यात्त-
र्हि ब्रह्मणो लोक इति वक्तुमशक्यम् । यस्य तद्वति स एव तस्य
स्वाम्यपि भवतीति सर्वानुमतं सिद्धम् । एवं पित्रादीनां स्वामित्वेऽपि
योज्यम् । तस्मादेतच्छ्लोकत्रयं प्रक्षिप्तमिति धीमद्भिरनुसन्धातव्यम् ॥

एकोननवत्युत्तरशततमं पद्यं प्रक्षिप्तम् । इतः पूर्वपद्येऽज्ञप्रति-
ग्रहनिषेधस्यार्थवाद उक्त एव स च सम्भवति । एतच्च प्रत्यक्षादेव
विरुद्धम् । इदानीन्तना बहवोऽविद्वांस एव दानं प्रतिगृह्णन्ति न च
तेषां मरणमुपलभ्यते । नचाश्वमादातुश्चक्षुषी नष्टे भवत इत्युपल-
भ्यते तस्मात्प्रक्षिप्तमेतत् ।

सप्तदशोत्तरद्दिशततमपद्यादारभ्यैकविंशोत्तरद्दिशततमावधि च-
त्वारि पद्यान्यर्थवादरूपाणि प्रक्षिप्तानि । धर्मात्मनां राज्ञामन्नं भोक्त-
व्यं तथा च पूर्वजैर्महर्षिभिराचरितमितिहासादिसिद्धं चास्ति । अध-
र्मिणो राज्ञः पूर्वमेव निषिद्धम् । अन्येषामपि शूद्रादीनामधर्मिणामेव
त्याज्यम् । धर्मात्मनां तु सदैवान्नं ग्राह्यम् । असम्भवो घृणितस्तु-
च्छत्वप्रतिपादकः प्रत्यक्षविरुद्धश्चायमर्थवाद इति कृत्वा प्रक्षिप्तपक्षे
त्याज्यः । सर्वेषामन्नप्रतिषेधस्यार्थवादो द्वाविंशत्युत्तरद्दिशततमपद्ये
प्रतिपादितः स एव साधुः ।

अग्रेऽष्टाचत्वारिंशदुत्तरैकोनपञ्चाशदुत्तरद्दिशततमे द्वे पद्ये प्रक्षिप्ते
स्तः । आदिमेऽर्थवादोऽसाधुरसम्भवश्चास्ति । न चात्र विशिष्टार्थवादस्य
किमपि प्रयोजनं दृश्यते । स्वयमागतायाः कथमप्यविरुद्धाया भि-
न्नायाः सामान्यतया ग्रहणं कार्यमिति विहितम् । अतएवायाचिता-
गतशय्यादीनामत्याज्यत्वकथनं द्वितीयपद्ये पुनरुक्तम् । मत्स्यमांसा-
दिकंच कीदृशमपि नादेयं हिंसामूलत्वात् । यदि शय्यादीनां विशे-

पतया विधानमूरीक्रियते तदा सामान्यकथनं व्याहन्यते न चात्रो-
त्सर्गापवादौ संघटेते । एवमितरेतरव्याहतत्वाच्छ्रयामिति पद्यं प्र-
क्षिप्तम् । एवमुक्तप्रकारेणास्मिन् चतुर्थाध्याये पष्ठ्युत्तरद्विशतपद्येषु
पञ्चविंशतिः पद्यानि प्रक्षिप्तानि शिष्टानि पञ्चत्रिंशदुत्तरद्विशतपद्यानि
च शुद्धानि धीमद्विरनुसन्धेयानि ॥

भाषार्थः—अब चौथे अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा की जाती है ।
२७ । २८ सत्ताईश और अट्ताईश दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं । और छवीशवां श्लोक २५
पच्चीशवे श्लोक में दी आज्ञा की पूर्ति करने वाला है । और विधिवाक्य का शेष
विधि करके ही माना जाता है इस से छवीशवां श्लोक भी विधिवाक्य ही है ।
उस छवीशवे पद्य में पशुशब्द करके गौ आदि से होने वाले मुख्य घृतादि से
होम करे यह विधान किया गया है । यदि कोई कहे कि पशु के मांस से होम
करने की कल्पना निकालेंगे तो पशु से उत्पन्न हुआ वस्तु वा उस का विकार अर्थ
लेना दोनों पक्ष में तुल्य है वहां पशु से हुआ मांस और यहां पशु के ही शरीर
से निकला घृतादि है । तो इस में कोई विशेष हेतु नहीं है कि जो पशु से होने
वाला मांस ही पशुशब्द से लिया जावे और दुग्ध घृतादि न लिया जावे । और
पशु के प्राण निकालनेरूप हिंसा किये बिना मांस उत्पन्न नहीं हो सकता और
हिंसा करने में पाप अवश्य है क्योंकि यदि गौ आदि पशु बना रहे तो उस से
होने वाले घृतादि से फिर भी यज्ञ कर सकते हैं और यदि मार कर उस के मांस
का होम कर दिया जायगा तो पशु उसी समय समाप्त हो जायगा फिर आगे
होने वाली दुग्धादि के लाभ की भी हानि ही होगी । और मांस के जलाने से
दुर्गन्धि अवश्य निकलेगी और घृतादि के होम से सुगन्धि होगी । इस कारण
छवीशवे श्लोक में पशु शब्द से उसका घृतादि पदार्थ लेना चाहिये । यदि कोई
ऐसा लाक्षणिक अर्थ न करे तो “ पशु से होम करना चाहिये ” यह वाक्य ही
नहीं बनेगा । क्योंकि जीते हुए समूचे पशु का होम अग्नि में कोई नहीं कर
सकता । और जैसे दुग्ध घृतादि का नाम पशु नहीं वैसे मांस का नाम भी पशु
नहीं है । इस से पशु शब्द करके दुग्ध घृतादि ही लेना चाहिये और मांसादि
लेने में पूर्वोक्त अनेक दोष हैं ॥

सत्ताईश और अट्ठाईशवें श्लोक में अर्थवाद है सो वह अर्थवाद शास्त्र की मर्यादा के अनुकूल ठीक नहीं है। जब वेद में स्पष्ट लिखा है कि “यज्ञ करने वाले पुरुष के यशुओं की रक्षा कर” अर्थात् यज्ञ करने वालों के पशुओं को कभी न मारना चाहिये किन्तु उन यशुओं की ठीक २ रक्षा से घृतादि निकाल कर यज्ञादि का प्रचार बढ़ाना चाहिये जो यज्ञ करने वालों के गौ आदि यशु नष्ट हो जायँगे तो दूध घृत आदि के न होने से यज्ञ की ही हानि होगी। ऐसा स्पष्ट प्रमाण मिलने पर जो मांसादि से होम करना चाहते हैं वे वेदविरोधी हैं और इसी के अनुसार उक्त दोनों २७। २८ श्लोक भी वेदविरुद्ध हैं इस से विचारशीलों को नहीं मानने चाहिये ॥

आगे छप्पत्ती श्लोक से ले कर एकानवे पर्यन्त प्रक्षिप्त हैं। ये भी छः श्लोक असम्भव अर्थवादरूप हैं। यद्यपि पञ्चाशी श्लोक में जो अर्थवाद है उस में भी किसी प्रकार अत्युक्ति प्रतीत होती है तथापि उस का भयानक होना अनुमान कर सकते हैं। इन छः श्लोकों में शास्त्रविरुद्ध चलने वाले नास्तिक राजा वा क्षत्रिय भिन्न नीच वर्णसङ्करादि राजा से विद्वान् को दान न लेना चाहिये। उस दान का लेना पंचाशी श्लोक से कहे अनुसार दूषित है यही कहना ठीक है। और क्षत्रिय भिन्न वा अधर्मी से दान लेने वाला क्रम से २१ इक्कीश नरकों का प्राप्त हो यह सर्वथा असम्भव है। ग्यारहवें अध्याय के प्रायश्चित्त प्रसङ्ग में चार महापातक और कई उचयातक भी गिनाये गये हैं उन में ब्रह्महत्यादि महायातकों का ही नरक प्राप्ति फल कहा है। जैसे “महापातकी लोग अनेक दुःसह दुःखों से युक्त नरकरूप स्थानों को अनेकों वर्ष तक याकर संसारी कुत्ते आदि की योनि को प्राप्त होते हैं। और सब यायों में महापातक ही बड़े याप हैं मुख्य कर उन्हीं का दुःखरूप नरकप्राप्ति फल होना चाहिये। यदि दुष्ट दान लेने का नरक फल हो तो महापातकों का उस से बहुत बड़ा दुःख फल क्या होगा ? अर्थात् कुछ नहीं। जब राजा छोटे २ अपराधों पर प्राणदण्ड [फांसी] वा जन्मभर बन्धन [जन्म-कैद] कर देवे तो बड़े अपराधों के लिये और बड़े दण्ड कहां से आवें ?। इसी कारण निन्दित दान लेने का नरकप्राप्ति फल कहना असङ्गत है। और निन्दित प्रतिग्रह उपपातकों में भी नहीं गिनाया गया किन्तु “निन्दित लोगों से धनादि का दान लेना, निषिद्ध वस्तुओं का बेचना, शूद्र की सेवा करना और मिथ्या बोलना ये अयात्रीकरण अर्थात् मनुष्य को नीच बनाने वाले काम हैं। इस का

दण्ड फल वा प्रायश्चित्त भी वहाँ स्वयमेव दिखाया है कि ऐसे कामों का प्रायश्चित्त वा दण्डरूप दुःख फल भोग एक चान्द्रायण व्रत करे। इस प्रकार जब ग्यारहवें अध्याय में निन्दितों से दान लेने का फल चान्द्रायण प्रायश्चित्त कहा फिर वहाँ चौथे अध्याय में इसी का फल इक्कीश नरकों की प्राप्ति कहना परस्पर विरुद्ध है ग्यारहवें अध्याय का कथन ठीक प्रतीत होता है और वहाँ चौथे अध्याय के उक्त छः श्लोक प्रसिद्ध हैं यह निस्सन्देह विचार है। नरकसम्बन्धी विचार कर्मफल विचार प्रकरण में होगा ॥

आगे ११०।१११ एकसौ दश एकसौ ग्यारह और एकसौ चौदह ११४ ये तीन श्लोक प्रसिद्ध हैं। एकोद्दिष्ट आहु का निमन्त्रण मान कर वेदपाठ करना क्यों निषिद्ध है ? क्या उदरम्भर बन कर पेट भरने के ही विचार में लगा रहे ? और पढ़ना लिखना छोड़ देवे। वेद पढ़ने वाले विद्यार्थियों का जब कोई निमन्त्रण करता है तब भोजन बनाने में जो समय लगता वह भी पढ़ने के लिये मिल जायगा इस कारण उस समय तो पहिले से भी अधिक पढ़ना हो सकता है। परन्तु आहुभोजन किये पश्चात् थोड़े काल तक दो चार घड़ी नहीं पढ़ना क्योंकि शरीर के भारी होने से तथा अजीर्ण के भय से कि अजीर्ण न हो जावे। सो ऐसा निषेध पूर्वश्लोक से कर ही दिया है। और सूतकशब्द का सन्तानोत्पत्ति कालरूप योगरूढार्थ स्वीकार किया जाता है तो राजा के पुत्रोत्सव में प्रसन्नता के साथ वेद का पाठ अवश्य करना चाहिये। और प्रायः लोग ऐसा करते भी हैं कि मन की प्रसन्नता विशेष होने से राजा का उत्सव मानें। और यदि सूतकशब्द से राजादि के मरने पश्चात् शोक काल लेवो तो उस समय वेद नहीं पढ़ना चाहिये क्योंकि प्रजा के मनुष्यों को भी राजा का शोक माननीय है। परन्तु इस के लिये वहाँ अनध्यायप्रसङ्ग में कुछ कहना आवश्यक नहीं क्योंकि पञ्चमाध्याय की सूतकशुद्धि में इसका विचार होगा। राहु एक ग्रह वा लोक है उस के घर में स्त्री पुत्रादि वा उसी का मरण वा जन्म दोनों ही असम्भव हैं ऐसा मानने से राहु का सूतक ही नहीं हो सकता किन्तु सूर्यचन्द्रमा के ऊपर लोकान्तर की छायारूप ग्रहण, पढ़ने का विप्रकारी नहीं हो सकता ऐसा मान कर ग्रहण समय में पढ़ने का निषेध करना व्यर्थ है। तथा अगला अर्थवाद भी व्यर्थ है। प्रतिदिन खाये हुए वा एकोद्दिष्ट आहु में खाये हुए अन्न का गन्ध और लेप शरीर में अवश्य रहेगा किन्तु दो एक दिन वा मास दो मास में नष्ट नहीं हो सकता

जैसे गङ्गादि नदियों का जल समुद्र में मिल जाने से उस का अभाव नहीं होता वैसे खाया पिया आहाररस रुधिरादि धातुओं के रूप से शरीर में व्याप्त हो जायगा। फिर क्या एकानुदिष्ट आहु में खाने वाले को जन्म भर के लिये वेद का पढ़ना छोड़ देना चाहिये ? अर्थात् यह सम्भव नहीं इस लिये यह प्रक्षिप्त है। और अमावास्या में पढ़ाने से गुरु को पठन क्रिया मारती है इत्यादि अर्थवाद भी ठीक वा युक्त नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष से ही यह विरुद्ध है। अमावास्या में पढ़ाने से अध्यापक प्रत्यक्ष में मरे नहीं दीखते। यदि कोई कहे कि फिर अमावास्यादि में पठन का निषेध क्यों किया ? तो इस का उत्तर हम पूर्व अनध्याय विचार में लिख चुके हैं ॥

आगे एकसौ छवीशवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। क्योंकि पशु वा मेंडक आदि के धींच से निकल जाने में पढ़ने पढ़ाने वालों की कुछ हानि कोई विद्वान् नहीं साम सकता। ऐसे वाक्यों से धर्मशास्त्र की तुच्छता भी आती है। वेद का पढ़ना ऐसा बड़ा काम है कि उस के चलने में तुच्छ वा क्षुद्र मेंडक आदि जीव विघ्नकारी हों यह असम्भव है। और विघ्नकारक हेतु जिस कार्य में विघ्नकरता है उस से प्रबल होता है तभी विघ्न हो सकता वा कर सकता है कि जैसे कुपण्य अधिक बढ़ जावे तो रोग दबा लेता और ओषधि का बल बढ़ने से रोग दब जाता है ॥

आगे एकसौ पेंसठ और एकसौ छासठ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। यहां पहिले श्लोक में घुराने का सौ वर्ष तक अन्यकाररूप नरक में गिरना फल कहा है। और ग्यारहवें अध्याय में घुराने का दण्ड वा प्रायश्चित्त एक कृच्छ्रव्रत कहा है इस से ये दोनों बातें विरुद्ध हैं किन्तु दोनों सत्य नहीं हो सकते। घुरानेरूप पाप का फल वा दण्ड एक कृच्छ्रव्रत करना भी अधिक है किन्तु सौ वर्ष नरक में गिरना रूपफल तो सर्वथा असम्भव ही है। कोई भी विद्वान् ऐसे छोटे अपराध के ऐसे बड़े फल को न्याययुक्त कभी न मानेगा। इस चौथे अध्याय में ब्राह्मण को ताड़ना देने का फल इक्कीश जन्मों तक पापयोनियों में गिरना लिखा है। तथा ग्यारहवें अध्याय में दण्डवत् प्रणाम कर के प्रसन्न करे यह प्रायश्चित्त कहा है सो इस में भी परस्पर विरोध है। यहां भी पूर्व के तुल्य अति छोटे अपराध का ऐसा बड़ा दुःख फल मिलना असम्भव और अन्याय है। एकसौ अड़सठ श्लोक भी प्रक्षिप्त है। ग्यारहवें अध्याय में लकड़ी आदि के मारने से ब्राह्मण के शरीर में रुधिर निकल आनेरूप अपराध पर कृच्छ्र और अतिकृच्छ्ररूप प्रायश्चित्त लिखे

हैं इतना ही इस अपराध का दण्ड मिलना उचित वा न्याययुक्त है। और यहां चौथे अध्याय में दिखाया पाप फल असम्भव और न्यायविरुद्ध है। इस प्रकार यहां तीन श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं ॥

आगे एकसौ इक्याशी १८९ श्लोक के उत्तरार्द्ध से ले कर एकसौ चौराशी के पूर्वार्द्ध पर्यन्त तीन श्लोक प्रक्षिप्त हैं। ऋत्विज् पुरोहित गुरु आचार्य आदि मान्यपुरुषों के साथ विवाद नहीं करना चाहिये यह सब शिष्ट लोग मानते हैं इस में अर्थवादरूप कारण वाद की कुछ भी अपेक्षा नहीं है क्योंकि विवाद होने से उन सज्जनों की मानहानि होना दोष है यह कारण भी स्पष्ट है। तथा सब विधियों में अर्थवाद का होना भी आवश्यक नहीं। तथा पूर्व कहा अर्थवाद असम्भव है कि जो ब्रह्मलोक का स्वामी आचार्य हो। जिस ब्रह्म का वह लोक है वही उसका स्वामी होगा। यदि आचार्य स्वामी हो तो ब्रह्म का लोक नहीं कह सकते। जिसका वह वस्तु होता है वही उस का स्वामी भी माना जाता है यह सब के अनुकूल सिद्ध है। ऐसे ही पिता आदि के स्वामी बनाने के अर्थवाद को भी गड़बड़ जानो। इस लिये ये तीन श्लोक बुद्धिमानों को प्रक्षिप्त मानने योग्य हैं।

आगे एकसौ नवाशी श्लोक प्रक्षिप्त है। इससे पूर्व अठाशी श्लोक में मूर्ख को दान देने के निषेध का अर्थवाद कहा है वह सम्भव भी है और यह कथन प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है कि अविद्वान् लोग दान लेने से मर जावें वा उन के नेत्रादि फूट जावें। आज कल अधिकांश मूर्ख लोग ही दान लेते और उन्हीं को दिया जाता है परन्तु उन का मरण आदि होते नहीं दीख पड़ता किन्तु पराया धन बिना परिश्रम का खार कर सहस्त्रों लोग अच्छे मोटे हो रहे हैं। घोड़े का दान लेने वाले के नेत्र फूट जावें यह भी कहीं नहीं दीख पड़ता।

आगे दो सौ सत्रह से लेकर दो सौ इक्कीश पर्यन्त २१७—२२१ चार श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन में भी असम्भव वा परस्पर विरुद्ध अर्थवाद ही कहा गया है किन्तु ये त्रिधि वाक्य नहीं हैं। अधर्मी अन्यायी वा क्षत्रिय से भिन्न राजा का अन्न विद्वानों को नहीं खाना चाहिये इस पूर्व किये निषेध की अर्धापत्ति यह है कि धर्मात्मा राजाओं का अन्न अवश्य खाना चाहिये और ऐसा ही पूर्वज ऋषि लोगों ने भी किया है और इतिहासादि ग्रन्थों से सिद्ध भी है। और अधर्मी अन्यायी राजा का धान्य विद्वान् को लेना पूर्व ही निषेध कर चुके हैं। तथा

अन्य शूद्रादि जिन २ का अन्न निषिद्ध है उन का भी अधर्मी हों तो अन्न त्याज्य है धर्मात्माओं का तो सदा ही अन्न ग्रहण करना चाहिये । असम्भव घृणित तुच्छता दिखाने वाला और प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध यह अर्थवाद है ऐसा मान कर प्रक्षिप्त कोटि में उक्त श्लोक छोड़ देने चाहिये । तथा जिन २ के अन्न का लेना निषिद्ध है उसका अर्थवाद सामान्य कर दो सौ वार्दश २२२ श्लोक में दिखा दिया है वही ठीक है किन्तु यह ठीक नहीं है ॥

आगे दो सौ अड़तालीश और दो सौ उच्चाश ये दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं । पहिले में अर्थवाद मिथ्या और असम्भव है । इस विषय में विशेष अर्थवाद का कुछ भी प्रयोजन नहीं है । जिसमें किसी प्रकार का दोष वा विरोध न हो तथा बिना सांगे स्वयं प्राप्त हो जावे ऐसी भिक्षा वा दान का सामान्य कर ग्रहण करना चाहिये यह विधान किया है । इसी कारण बिना सांगे प्राप्त हुई खट्वा आदि के त्याग न करने का कथन द्वितीय पट्ट में पुनरुक्त है । सछली और सांस तो कैसा ही हो न लेना चाहिये क्योंकि उसका मूल हिंसा वा हत्या करना अधर्म है । यदि खट्वादि का विशेष कर विधान मानो तो सामान्य कथन विरुद्ध है क्योंकि यहां उत्सर्गपवाद की रीति नहीं घटित होती । सो परस्पर विरुद्ध होने से (शय्याम्०) यह श्लोक प्रक्षिप्त है । इस उक्त प्रकार से इस चौथे अध्याय में के दो सौ साठ २६० श्लोकों में से पच्चीश २५ श्लोक प्रक्षिप्त हैं और शेष दो सौ पैंतीस २३५ श्लोक शुद्ध हैं । बुद्धिमान् लोगों को विचार पूर्वक अनुसन्धान करना चाहिये ॥

अथ भक्ष्याभक्ष्यविवेचनम् ॥

यादृशेनाहारेण मनुष्यस्य स्वास्थ्यं संरक्ष्यते । स्वास्थ्यं च मनसो बुद्धेः शरीरस्थधातूनां चाविकारीभावोऽवैषम्यम् । तथा सत्येव मनुष्यः सुखी भवति । सुखं च धर्मस्य फलमतो धर्ममनुतिष्ठसता पुरुषेणादौ तादृश आहारः सेवनीय एतादृश आहारः सामान्येन भक्ष्य इत्युच्यते । येन च मनसो बुद्धेः शरीरस्थधातूनां च वैषम्यमुपजायते स आहारोऽभक्ष्यस्त्याज्य इत्युच्यते तथा कुर्वन्मनुष्यो दुःखमनुभवति दुःखं चाधर्मस्य फलम् । अतस्तादृश आहारो

धर्मेष्णुना सदैव त्याज्यः । इदं च द्वैविध्यं सर्वानुमतमविवादास्पदं सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धं च नात्र कस्यचिद्विवादोऽस्ति । तथा चोक्तं सुश्रुतकारेण सूत्रस्थाने हिताहितीयाध्याये—यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमित्यनेन हेतुना न किञ्चिद् द्रव्यमेकान्तेन हितमहितं वाऽस्तीति केचिदाचार्या ब्रुवते तत्तु न सम्यक् । इह खलु यस्माद् द्रव्याणि स्वभावतः संयोगतश्चैकान्तहितान्येकान्ताहितानि हिताहितानि च भवन्ति । तत्रैकान्तहितानि जातिसात्स्यात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि । एकान्ताहितानि दहनपचनमारणादिषु प्रवृत्तान्यग्निक्षारविषादीनि । हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यम् । इति । एवमत्र त्रैविध्यमुक्तम् । तथा च भगवद्गीतासूक्तं सप्तदशोऽध्याये—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याश्चाहारा सात्त्विकप्रियाः ॥१॥

कटुम्ललवणाल्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥२॥

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥३॥

मध्यस्थे च विवादो यत्र हितमहितं च मिश्रितमस्ति तत्र देशकालवस्तुभेदेन हितबहुलमुपादेयं यद्वा हितप्रबलमुपादेयं विपरीतं च त्याज्यमेतदर्थमेव विद्वद्भिः समये समये लोकव्यवहारव्यवस्थापनाय धर्मशास्त्राणि निर्मायन्ते । तस्माच्च शिष्टं सभ्यैर्विद्वद्भिर्धीमद्भिश्च यथासमयं निर्णीयते तदर्थं च धर्मशास्त्रेषु शासनमप्युपलभ्यते । अतएवोक्तम्—दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् । इत्यादि सामान्येनायं विचारः ॥

अथ विशिष्टो विचारः । अत्र भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणे प्राधान्येन द्वौ भेदौ जडचेतनभेदात् । चेतनैर्जडाश्चेतनाश्च स्वाद्यन्ते । अयं च सिद्धानुवादो नायं विधिः । तथा चोक्तमस्मिन्नेव प्रकरणे—चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः । अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः । इत्यादिना सिद्धानुवाद उत्सर्गरूपेण प्रदर्शितः । अस्यैवान्यान्यपि सर्वाणि विधिनिषेधपराणि वाक्यानि बाधकानि भविष्यन्ति । यच्च लशुनं गृज्जनं पलाण्डुं कवकान्यमेध्यप्रभवाणि च वस्तून्यभक्ष्यान्युक्तानि । तत्रेत्यं बोद्ध्यम्—लशुनादयो विषवस्तु त्याज्या न भवन्ति कुतस्तद्भक्षकाः पीडादिना विपन्ना नैव दृश्यन्ते । यश्चाहारवर्गः सामान्यतया सर्वप्राणिनां पथ्यतमः सुश्रुतस्य हिताहितीयाध्याय उपदिष्टस्तत्रापि लशुनादीनां परिगणनं नैव दृश्यतेऽतः कारणाद्भक्ष्यादयः पदार्थाश्चिकित्साशास्त्रानुसारेण हिताहितमिश्रिताहारवर्गेऽनुसन्धेयाः । हिताहिते चोक्तम्—“यद्वायोः पथ्यन्तत्पित्तस्यापथ्यम्” इत्यादिप्रकारेण यद्वास्तु कस्मिंश्चिद्देशे काले वा यस्य भक्ष्यं तदेव वस्तु देशान्तरे कालान्तरेऽवस्थान्तरे वा तस्यैव कारणविशेषाद्भक्ष्यं भवति । एवमभक्ष्यं च भक्ष्यमपि भवति । तथैव लशुनादयोऽपि केनचित्क्वचिद्भक्ष्या न तु सर्वत्र । सामान्यतया स्वस्थनीरोगावस्थायां द्विजातिभिर्न भक्ष्या लशुनादय इति धर्मशास्त्रस्य तात्पर्यम् । तत्र लशुनादिषु ये गुणाः सन्ति ते प्रायशः सत्त्वगुणस्य वर्द्धका नैव दृश्यन्ते किन्तु तेषु रजस्तमसोः प्रवर्त्तकाः सत्त्वस्य विघातकाश्च गुणाः सन्तीति मनसिकृत्य धर्मशास्त्रे तेषां भक्षणस्य प्रतिषेधः कृतः । द्विजातिभिर्वैदिकं धर्म्यं सत्त्वगुणसम्बद्धमेव कर्म विशेषतया सेव्यम् । सत्त्वगुणप्रधानमतिभावाय च तादृशा एव पदार्थाः सेव्याः । अथ

सुश्रुतस्य सूत्रस्थानस्थान्नपानविधिनामके षट्चत्वारिंशत्तमेऽध्याये
लशुनपलाण्डुशब्दयोर्विषयइत्थमुक्तम्—

स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च गुरुः सरः स्वादुरसश्च बल्यः ।

वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षुर्भग्रास्थिसन्धानकरो रसोनः ॥१॥

हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूलविबन्धगुल्मारुचिकासशोफान् ।

दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तुसमीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥२॥

नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च ।

बलावहः पित्तकरोऽथ किञ्चित्पलाण्डुरग्निं च विवर्द्धयेच्च ॥३॥

स्निग्धो रुचिस्थः स्थिरधातुकर्ता बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च ।

स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः स पिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरक्तः ॥४॥

यथा मृदूष्णं विशिष्टगुणकरं वस्तु भवति तथोष्णत्वे सति ती-
क्ष्णत्वं रजःप्रवर्त्तकं पिच्छिलत्वे सरसत्वे सति कटुत्वमपि तादृशम् ।
गुरुत्वं महत्त्वं सरत्वं भेदकत्वमिमावपि गुणो नैव सर्वहितकराविति
किन्तु वातप्रधानाय हितकरौ न च पित्तप्रकृतये । उष्णतीक्ष्णादयो-
ऽपि पित्तकोपकाः पित्तवर्द्धकाश्च गुणा इत्यनुसन्धेयम् । वृष्यो मैथु-
नेच्छावर्द्धकः । अयं गुणो न सर्वहितकरोऽपि तु कामिनामेव कामो-
द्दीपनो ब्रह्मचारिणां जितेन्द्रियाणां चानिष्टः । मेधादिकरत्वं स्वादुर-
सत्वं बल्यत्वं चेत्यादयो गुणास्तस्मिन्प्रायशो हितकरा अपि सन्ति ।
तेषु सत्स्वपि सत्त्वगुणविधातकत्वं तिष्ठत्येव । अनेके शुभगुणाः स-
न्त्यतःकारणादेव रसनोवातादिजन्यरोगेषु प्रयोज्यः । पलाण्डुः कि-
ञ्चिदुष्णवीर्यः, वातघ्नः, पित्तकरः, कटुः, तीक्ष्णः, गुरुः, किञ्चित्कफकरः,
बलकरः, पाचकः, इत्यादिप्रकारेण लशुनवत्पलाण्डुरपि गुणागुणक-
रोऽस्ति । अस्मिन् विषये भावप्रकाशे चिकित्साग्रन्थेऽपि लिखितम्—

पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः ।

तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः ॥१॥

कटुकश्चाऽपि मूलेषु तिक्तः पत्रेषु संस्थितः ।

नाले कषाय उद्दिष्टो नालाग्रे लवणः स्मृतः ॥२॥

बीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः ।

रसोनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धोष्णः पाचनः सरः ॥२॥

इत्यादिप्रकारेण पूर्ववद्गुणगुणकरएव दर्शितः । पलाण्डुविषये-
ऽपि भावप्रकाशे विशेषः—

पलाण्डुर्यवनेष्टश्च दुर्गन्धो मुखदूषकः ।

पलाण्डुस्तु गुणैर्ज्ञेयो रसोनसदृशैर्गुणैः ॥४॥

स्वादुपाकरसोऽनुष्णः कफकुन्नातिपित्तलः ।

हरते केवलं वातं बलवीर्यकरो गुरुः ॥५॥

नात्र किमपि तिरोहितमिवास्ति यस्य विशिष्टं व्याख्यानमपे-
क्ष्येत । गृञ्जनविषयेऽप्युक्तम्—गृञ्जनः पित्तलो ग्राही तीक्ष्णो रो-
गनाशनः । इत्यादि—गृञ्जनोऽपि लशुनादिवद्गुणवान् रजोगुणवर्द्ध-
कः क्रोधादिकरः कामोद्दीपनश्चेति मत्वाऽभक्ष्ये परिगणितः । कवको
यस्य छत्राकमित्यपि नामास्ति शीतलो भेदकश्चास्ति । कवको गृ-
ञ्जनः पलाण्डुश्च पक्वः सन्मांसवत्प्रतिभाति पलाण्डुलशुनयोर्ग-
न्धोऽपि सर्वानुकूलो ग्राह्यो नास्ति । तद्वस्तुद्वयभक्षकमुखाद्योऽसौ
गन्धो निस्सरति नैव तं सर्वे सुगन्धमिव ग्रहीतुमुत्सहन्तेऽपि तु
बहवो दुर्गन्धमिवासह्यं मन्यन्ते । अतःकारणादप्येषामभक्ष्ये परिग-
णनमस्ति । पुरा धर्मशास्त्रनिर्माणावसरे उक्तादिकारणैर्लशुनादीनां
भक्षणप्रचारो नासीत्तमेव निषेधप्रचारं पुरस्कृत्य निबन्धकारैरपि

वक्तुं शक्यते। इत्थमधुना प्रदेशभेदेन लशुनादिभक्षणस्य प्रचारं दृष्ट्वा विधानमपि कर्तुं शक्नुवन्ति । तौ च विधिनिषेधौ सकारणौ भवेतामिति सम्यक् । मया तेषां निषेधस्य कारणं प्रदर्शितम् । इत्थमेव लोहितमरीचस्यापि भेदकत्वात्क्षीणतोत्पादकत्वाच्च भक्ष्यप्रतिषेधः कर्तुं युक्त एव । न च तस्य भक्षणेन मद्यादिवत्पातित्यं सम्भवति । एवं लशुनादीनां भक्षका अपि पतिता न भवन्ति । किन्तु तेषां प्रायिकभक्षणेन रजोगुणः प्रवर्द्धते । अतस्तेषां प्रायिकभक्षणस्यैव निषेधो न तु नैमित्तिके रोगादौ, तत्रत्वौषधत्वेनोपादेया एव । अस्मिन्नभक्ष्यप्रकरणे लशुनादय उपलक्षका उदाहरणमात्रा न तु परिगणिताः । तेन वेदपाठे स्वरदूषकानि सत्त्वविघातकानि रजोगुणवर्द्धकानि च शाकमूलकन्दफलपुष्पादीन्यन्यान्यपि वस्तून्यभक्ष्यपक्षे निःक्षेप्याणि तेषां च निर्णयश्चिकित्साशास्त्रेणैव कर्तुं शक्यते । अत्र च दिग्दर्शनमात्रं प्रदर्शितं धर्मेण सम्बन्धात् । सत्त्वगुणे सत्येव सुखविशेष उपजायते । धर्मस्य च प्राधान्येन सुखमेव फलमतो भक्ष्याभक्ष्यस्य धर्मेण साकं युक्त एव सम्बन्धः ॥

अत्र षष्ठे पद्ये गव्यं पेयूपमष्टमे च दशाहात्पूर्वं गोः क्षीरं प्रतिपिद्धम् । तत्र पूर्वपद्ये पेयूपपदेनाग्निसंयोगात्कठिनीकृतमभक्ष्यमुष्णताया मालिन्यस्य च विशिष्टत्वात् । अष्टमे गोरित्युपलक्षणं तेनाजामहिष्यादीनामपि दशाहाभ्यन्तरे विकृतिमनापन्नमपि क्षीरमभक्ष्यम् । कारणं च पूर्वोक्तमेव । सप्त दिनानि तु तत्पेयूपं जायते तावत्तु विशेषतया त्याज्यमिति भेददर्शनाय सामान्यविशेषतया कथनम् । एवमत्र प्रकरणे भोज्यभक्ष्यपेयादिपदार्थानामुदाहरणरीत्याऽग्राह्यत्वं प्रदर्शितमस्ति । विशेषस्तत्रैव व्याख्यास्यते । अतोऽग्रे प्राणिशरीरजन्यमांसभक्ष्याभक्ष्यविचारं करिष्ये ॥

भाषार्थः—अब भक्ष्याभक्ष्य विषय में संक्षेप से विचार किया जाता है—जिस प्रकार के आहार से मनुष्य की स्वस्थदशा रक्षित रहती है। मनबुद्धि और शरीर के अवयवरूप रसादि धातुओं में किसी प्रकार की विषमता न रहना स्वस्थदशा कहाती है। ऐसी स्वस्थदशा के विद्यमान रहने से ही मनुष्य सुखी होता है और सुख धर्म का फल है इस कारण धर्म करने की इच्छा रखने वाले पुरुष को अति उचित है कि पहिले वैसे आहार का ही सेवन करे। ऐसे आहारको सामान्य कर भक्ष्य कहते हैं। और जिस से मन बुद्धि तथा शरीरस्थ धातुओं की विषमता होती है वह आहार अभक्ष्य वा त्याज्य माना जाता है। वैसे आहार का सेवन करने वाला मनुष्य रोगादिक से ग्रस्त हो जाता है और वह रोगादि सम्बन्धी दुःख अधर्म का फल है इस कारण वैसे आहार धर्म चाहने वाले को त्याज्य है। ये दो प्रकार सर्वसम्मत निर्विवाद माननीय हैं इस मन्तव्य में किसी को कुछ विवाद नहीं है। इसी अंश पर सुश्रुतकार ने सूत्रस्थान के हिताहितीय अध्याय में लिखा है कि “जो बात प्रकृति वाले को हितकारी है वही वस्तु पित्तप्रकृति वाले को कुपथ्य वा अहित है। इस हेतु से कोई वस्तु किसी के लिये सर्वथा हित वा अहित नहीं है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं सो ठीक नहीं है। क्योंकि इस जगत् में अनेक वस्तु स्वभाव वा संयोग से सब के लिये हितकारी, अनेक सब के लिये अहितकारी तथा अनेक सामान्य कर हित अहित दोनों करने वाले हैं। जैसे जन्म से ही अनुकूल होने से जल घृत दूध भात आदि सर्वथा हितकारी हैं। अग्नि वा अत्युष्ण जलादि में जल जाना गल जाना और विष खा लेना आदि सब के लिये सदा अहितकारी हैं। तथा हित अहित मिश्रित वे ही हैं जो बातप्रकृति के लिये पथ्य है वह पित्त वाले के लिये कुपथ्य है” इस प्रकार यहां तीन प्रकार कहे हैं। तथा भगवद्गीता में भी प्रकारान्तर से आहार के तीन प्रकार दिखाये हैं कि—“सरस चिकनायी सहित स्थिर और हृदय को प्रिय रुचिकर शुद्ध पवित्र दूध घृत आदि आहार आयु, सत्त्वगुण, बल, नीरोगता सुख और प्रीति के बढ़ाने वाले होने से सत्त्वगुणी लोगों को प्रिय वा अनुकूल होते हैं। ऐसे आहार सर्वोत्तम वा सत्त्वगुणी माने जाते हैं। तथा दुःख, शोक (खुशकी) और रोगकारी कटु, खट्टे, अतिलवण, अतिउष्ण, तीखे, रूखे, दाह वा जलन करने वाले आहार रजोगुणी लोगों को प्रिय होते हैं। यही मध्यम प्रकार का आहार माना जाता है। तथा बहुत देर का धरा हुआ, नीरस, बहुत काल धरे रहने से जिस में दुर्गन्ध आने

लगा हो, उच्छिष्ट-जूठा वा अशुद्ध भोजन तमोगुणी को प्रिय होता है। अर्थात् इसी बात को अन्य प्रकारों से भी कह सकते हैं कि ऐसे २ भोजन करने वाले सात्विक, रजोगुणी वा तमोगुणी होते हैं वा सत्वगुणादि बढ़ाने की इच्छा वालों को वैसे २ भोजन करने चाहिये। ये भी आहार के तीन भेद हैं। इन में से उत्तम निकृष्ट में विवाद कम है किन्तु विशेष विवाद नहीं केवल मध्यस्थदशा में विवाद है जहां हित और अहित वा बुराई भलाई दोनों मिले रहते हैं। उस में से देश काल वा वस्तु के भेद से जिस में विशेष वा प्रबल हित हो उस पक्ष का आश्रय लेना चाहिये और लेने पड़ता ही है। इस से विरुद्ध थोड़े हित का पदार्थ वा पक्ष छोड़ देना चाहिये। इसी लिये लोक के व्यवहार को ठीक २ सूर्यादा के साथ चलाने की अपेक्षा से विद्वान् लोग समय २ में धर्मशास्त्र बनाते हैं। उन के कहने से जो शेष रह जाता है उस २ को उस २ समय के विद्वान् लोग निर्णीत करते वा उस की व्यवस्था निकालते हैं। इस के लिये धर्मशास्त्रों में आज्ञा भी मिलती है कि “दश विद्वानों की सभा मिल कर जिस धर्मसम्बन्धी विषय का निर्णय कर देवे उस को अचलधर्म मानना चाहिये।” इस का तात्पर्य यह है कि हित अहित से मिले हुए विषय में सदा विवाद बना रहता है और सामयिक न्यायालय वा धर्माचार्य विद्वानों की सभाओं में समय २ पर ऐसी बातों पर सदा निर्णय (फैसला) होता रहता है। यही दशा मध्यस्थ भक्ष्याऽ-भक्ष्य में जानो। यह सामान्य विचार रहा ॥

अब विशेष विचार यह है कि इस भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण में मुख्य कर जड़ चेतन दो भेद हैं। चेतन प्राणी जड़ वा चेतन दोनों का खाया करते हैं। यह सिद्धानुवाद अर्थात् संसार में जो हो रहा है उसी का कथन है कि ऐसा होता है किन्तु विधिवाक्य नहीं है कि चेतनों को जड़ वा चेतन प्राणी खाने चाहिये। सो मनु० के भक्ष्याभक्ष्यप्रकरण में सिद्धानुवादरूप से लिखा है कि “चेतन का अन्न जड़ वा जङ्गम का भोज्य स्यावर, दांत वालों का बिना दांत वाले, हाथ वालों का बिना हाथ वाले और शूरवीरों का अन्न डरपोक प्राणी हैं अर्थात् जङ्गम स्यावरों को खाते, दांत वाले बिना दांत वालों को खाते, हाथ वाले बिना हाथ वालों को खा जाते, और शूरवीर हिंसादि भीरु सृगादि को खा जाते हैं। यह सिद्धानुवाद उत्सर्गरूप से दिखाया है। अन्य विधि निषेध परक सब वाक्य इसी के बाधक होंगे। इसी प्रसङ्ग में लहसुन, गाजर, प्याज, कवक-छत्राक (कुकुरमुता

वा कठफूल) तथा अशुद्ध पृथिवी में उत्पन्न हुए सामान्य कर पदार्थ अभक्ष्य कहे हैं उस का विचार ऐसा है कि लहसुन आदि विष के तुल्य अनिष्ट वा त्याज्य नहीं हैं क्योंकि उन के खाने वाले पीड़ादि से दुःखित वा सरण को प्राप्त नहीं हो जाते । तथा जो भोजन करने योग्य पदार्थ सामान्य कर सब प्राणियों के लिये अतिहितकारी सुश्रुत के हिताहितीयाध्याय में कहे गये हैं उन में भी लशुनादि की गणना नहीं की गयी । अर्थात् जो लशुनादि पदार्थ अत्यन्त हितकारी सब को गुण देने वाले दूध आदि के तुल्य होते तो सर्वथा सर्वहितकारी पदार्थों की गणना के साथ इन का भी नाम आता सो ऐसा न होने से सिद्ध होता है कि लशुनादि सब के हितकारी वा विशेष गुणकारी नहीं किन्तु मध्यस्थ कोटि में अर्थात् हित अहितसे मिले हुए आहार के समुदाय में मानने चाहिये । और हिताहित का लक्षण यही कहा गया है कि जो बातप्रकृति वाले को पथ्य है वही पित्त वाले को कुपथ्य होगा । इत्यादि प्रकार से जो वस्तु किसी देश वा काल में किसी का भक्ष्य है वही वस्तु देशान्तर कालान्तर वा अवस्थान्तर में उसी को वा अन्य को किसी कारण से अभक्ष्य हो जाता है । इसी प्रकार अभक्ष्य वस्तु भक्ष्य भी हो जाता है । इसी कारण लहसुन आदि वस्तु भी किसी को किसी देश वा कालादि में भक्ष्य वा अभक्ष्य होते रहते हैं । परन्तु सामान्य कर स्वस्थ वा नीरोग दशा में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों को लहसुन आदि का भक्षण नहीं करना चाहिये यह धर्मशास्त्र में निषेध करने का अभिप्राय है । उन लशुनादि में जो अच्छे गुण भी हैं वे प्रायः सत्त्वगुण के बढ़ाने वाले नहीं दीखते किन्तु उन में रजोगुण तमोगुण के बढ़ाने और सत्त्व के विनाशक गुण अधिक हैं ऐसा मन में विचार करके धर्मशास्त्र में उन लशुनादि का खाना निषिद्ध किया है । और द्विजाति नाम ब्राह्मणादि तीन वर्णों को धर्मयुक्त वेदोक्त सत्त्वगुणसम्बन्धी कर्म का विशेष कर सेवन करना चाहिये । और मुख्य कर सत्त्वगुणयुक्त बुद्धि होने के लिये वैसे ही सत्त्वगुणवर्द्धक पदार्थों का भोजन करना चाहिये । अब आयुर्वेदनामक सुश्रुत के सूत्रस्थान के अन्नपानविधिनामक छयालीशवें अध्याय में लहसुन और प्याज के विषय में ऐसा कहा है कि “ लहसुन—चिकना, गर्म और तीखा अर्थात् चरपरा, कटुरसयुक्त, भारी, छेदक वा रेचक, स्वादुरस, बलकारी, कामोद्दीपक, बुद्धि, स्वर, वर्ण और नेत्रों के लिये हितकारी, टूटी हड्डी के जोड़ने में हितकारी, हृदय के रोग पीड़ादि, जीर्णज्वर, कोख की पीड़ा, बहुकोष्ठ

गुल्म रोग जो पेट में गोलाकार होता है, अरुचि, खांसी, और सूजन तथा दाद, पित्त की पीड़ा, कृमि, वायु, श्वास तथा कफसम्बन्धी रोगों को नष्ट करने वाला लशुन है अर्थात् ये गुण लहसुन में हैं। और प्याज के खाने से वीर्य में कुछ गर्मी, वायु का नाश, कटुरसकारी, तीखा, भारी, कुछ कफ का उत्पादक, बलकारी, पित्तवर्द्धक, क्षुधा को बढ़ाने वाला। ये गुण सामान्य कर प्याज में हैं। चिकना, रुचिकारी, धातुओं को स्थिर करना, बलकारी, बुद्धि कफ और पुष्टि को बढ़ाने वाला, स्वादिष्ट, भारी लोहू और पित्त को सुधारने वाला और रसयुक्त लाल प्याज होता है। ये उक्त गुण लाल प्याज में होते हैं। जैसे कोई वस्तु कोमल वा गर्म हो तो विशेष गुणकारी होता वैसा गुणकारी गर्म होने पर तीक्ष्ण हो तो नहीं हो सकता किन्तु उस से रजोगुण की वृद्धि होती है। और रसयुक्त होने पर कटु होना भी वैसा ही रजोगुणकारी है। तथा भारी वा भेदक होना भी लहसुन के गुण सर्वहितकारी नहीं हैं किन्तु वातरोग वाले को हितकारी हैं पित्त वाले के लिये नहीं, उष्ण और तीक्ष्णतादि गुण भी पित्त को कुपित करने वा बढ़ाने वाले हैं। मैथुन की इच्छा को बढ़ानारूप गुण भी सर्वहितकारी नहीं है किन्तु कामी लोगों के लिये उपयोगी है परन्तु जितेन्द्रिय वा ब्रह्मचारी रहने वालों के लिये यह गुण अनिष्ट वा अनुपकारी—उन के नियम वा व्रत को बिगाड़ने वाला है। इत्यादि कई गुण इस में ऐसे हैं जो विशेष दशाओं में किसी २ को कुछ उपयोगी हो सकते हैं परन्तु जिन तपस्वी जितेन्द्रिय नीरोग स्वस्थ ब्राह्मणादि के लिये विशेष हितकारी लशुनादि नहीं किन्तु हानिकारक तो किसी प्रकार अवश्य हैं। बुद्धि आदि के वर्द्धक, स्वादुरस वा बलकारी होना आदि कई गुण इन लशुनादि में अच्छे हैं उन के रहने पर भी सत्त्वगुण का विघात करना उस में बना ही रहता है तो जो पुरुष उन गुणों को लेने के लिये लशुनादिकों का सेवन स्वीकार करेगा उस को उन के अधगुण के दोषों से दुःख वा हानि भी उठानी पड़ेगी। अर्थात् जिस अन्न में विष मिला हो उस को कोई पुरुष क्षुधा की निवृत्ति के लिये नहीं खाता। जिस धर्म के साथ कई अधर्म भी आ जायें उस का बिना किसी विशेष दशा के ग्रहण वा सेवन नहीं करना चाहिये। इसी के अनुसार लशुनादि में गुण होने पर भी दोषों को साथ में आते देख कर निषेध किया। रहे गुण बुद्धिवर्द्धक आदि उस के लिये घृत दुग्ध वा सधु आदि अनेक स्वच्छ सत्त्वगुणी पदार्थ विद्यमान हैं जिन में

वैसी बुराई नहीं है । और लशुनादि में रोगनाशक कई गुण अवश्य अच्छे हैं इस लिये वातादि से होने वाले रोगों में उन का सेवन करना चाहिये । प्याज के गुण पूर्व लिख चुके हैं वह भी प्रायः लहसुन के तुल्य अच्छे बुरे गुणों वाला है । इस विषय में भावप्रकाशनामक चिकित्साग्रन्थ में भी लिखा है कि “ एक अक्षर रस को छोड़ कर पांच रस वाला होने से द्रव्यों के गुण जानने वालों ने लहसुन का नाम रसोन रक्खा है । जड़ में कडुआ पत्तों में तीखा नाल में कपेला नाल के अग्रभाग में लवण और लशुन के बीज में मीठा रस रहता है । लहसुन-बढ़ाने वाला, मैथुनेच्छाकारी, चिकना, गर्म पाचक और भेदक है इत्यादि प्रकार से पूर्ण के तुल्य गुण अवगुणकारी दिखाया है ॥

तथा प्याज के विषय में भी भावप्रकाश में विशेष यह लिखा है कि प्याज यवनों का इष्टभोजन, बुरे गन्ध से युक्त मुख को दूषित करने वाला तथा लशुन के तुल्य गुणों वाला भी है । पचने पर अच्छा चित्त करने वाला, गर्मी रहित कफकारी, कुछ पित्त करने वाला, केवल वातरोग का नाशक, भारी और बल वीर्य को बढ़ाने वाला है । गाजर के विषय में भी लिखा है कि गाजर पित्त को बढ़ाने, हृदय को पकड़ने और तीक्ष्ण नास छेदक वा रेचक तथा रोगनाशक है । इत्यादि प्रकार से गाजर भी लहसुन आदि के तुल्यरजोगुण वर्द्धक, क्रोधादि कारक और कामदेव का उत्तेजक है ऐसा समझ कर अभक्ष्य कोटि में रक्खा गया है । चौथा कवक वा छत्राक जिसको लोक भाषा में कुरकुरमुता वा कठफूल कहते हैं । यह भी शीतल और भेदक है इस के विशेष खाने से विसूचिका होनी संभव है । कठफूल गाजर और प्याज आदि पकाने पर मांस के तुल्य कुछ २ भी प्रतीत होते हैं तथा लहसुन वा प्याज का गन्ध भी सब के अनुकूल ग्राह्य नहीं है । उन दोनों वस्तुओं के खाने वालों के मुख से जो गन्ध निकलता है उस को सब कोई सुगन्ध के तुल्य ग्रहण करने की उद्यत नहीं होते किन्तु अनेक लोग दुर्गन्ध के तुल्य असह्य मानते हैं इत्यादि कारणों से भी इन लशुनादि को अभक्ष्य कोटि में गिना है । पहिले धर्मशास्त्र बनाते समय पूर्व कहे अनेक कारणों से लहसुनादि के खाने का प्रचार भी नहीं था उसी के अनुसार उस समय के धर्मशास्त्रों में निषेध लिखा गया । इसी प्रकार इस समय प्रदेश भेद से अर्थात् पूर्व में लहसुन दक्षिण वा पंजावादि में प्याज और मध्य प्रान्त में गाजर के खाने का प्रचार देख कर कोई खाने का विधान भी कर सकता है । परन्तु प्रचार अप्रचार मात्र को देख

कर विधि वा निषेध करना ठीक नहीं है किन्तु हानि लाभ आदि को देख कर विधान वा निषेध होना चाहिये । अनेक लोग यह भी कह सकते हैं कि जब लशुनादि में अनेक अच्छे गुण हैं तो उन को भक्ष्य क्यों नहीं ठहराया जाता और थोड़े अवगुणों से अभक्ष्य क्यों माने जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि लशुनादि में जो गुण हैं उन को हम अवगुण नहीं ठहराते किन्तु वे गुण प्रायः रोगी पुरुषों के रोगनाश करने के लिये उपयोगी हैं । और दोषों के होने से स्वस्थदशा में कि जब कोई रोग नहीं तब निषेध किया जाता है । तथा एक बात यह भी है कि लशुनादि को स्वस्थसंरक्षण में नहीं गिनाया गया इत्यादि कारण से हम ने भी इस के निषेध का कारण दिखाया है । ऐसे लालमिर्च भी भेदक वा रजोगुण-वर्द्धक वातघ्न और क्षीणता करने वाली होने से उस के भक्षण का निषेध कर सकते हैं अर्थात् स्वस्थदशा की रक्षा के लिये घृतादि के तुल्य लालमिर्च का भी कुछ उपयोग नहीं इस से बह भी अभक्ष्य है । परन्तु अभक्ष्यशब्द का वैसा अर्थ नहीं समझना चाहिये जैसा कि इस समय अनेक लोग समझते हैं कि जिस के खाने से मनुष्य पतित हो जाता है किन्तु जिस के खाने से किसी प्रकार का दुःख हो वा कुछ हानि हो वा किसी अन्य को दुःख पहुंचे वह पदार्थ अभक्ष्य है । लालमिर्च वातघ्न है इस कारण वातप्रकृति वाले को विशेष उपकारी जानो । और पित्त वाले वा स्वस्थ के लिये भेदक वा वीर्यादि को क्षीण करने वाली है इस लिये उस को भी अभक्ष्य ठहरा सकते हैं । परन्तु उस के भक्षण से मद्यादि के तुल्य कोई पतित नहीं हो सकता । इसी प्रकार लहसुन आदि के खाने वाले भी पतित नहीं होते । किन्तु उन लहसुन आदि के प्रायः खाने से रजोगुण बढ़ता है । इस कारण उन लहसुन आदि के प्रायः खाने का ही निषेध है किन्तु नैमित्तिक रोगादि में नहीं । रोग में तो ओषधि के समान सेवन करना ही उचित है । इस अभक्ष्यप्रकरण में लहसुन आदि उदाहरणमात्र उपलक्षण हैं कि इस प्रकार के गुण वाले पदार्थ स्वस्थदशा में मनुष्यों को नहीं खाने चाहिये किन्तु परिगणन नहीं है कि इतने ही पदार्थ अभक्ष्य हैं । इस से यह आया कि वेदादिशास्त्र पढ़ने वा वेदोक्तधर्मयुक्त कर्मों का सेवन करने वाले ब्राह्मणादि द्विजों के स्वर-दूषक, सत्त्वगुणनाशक वा रजोगुण तमोगुणवर्द्धक जो कोई गिनाये हुए लहसुन आदि से भिन्न भी शाक, मूल, कन्द, फल वा पुष्पादि वस्तु हों उन को अभक्ष्य कोटि में रखना चाहिये । यहां उदाहरण (नमूना) मात्र दिखा दिया है । क्योंकि

सत्त्वगुण के ठीक होने पर ही सुख उत्पन्न होता और मुख्य कर धर्म का फल सुख ही है इस से भक्ष्याभक्ष्य का धर्म के साथ सम्बन्धयुक्त ही है ॥

इस अध्याय के छठे श्लोक में गव्यपेयूष (गाय की गिजरी) के खाने का निषेध किया है और आठवें श्लोक में दश दिन से पहिले गौ के दूध का निषेध है । इन में से पहिले में अग्नि के संयोग से कठिन हो जाने वाली गिजरी का निषेध है और प्रायः सात दिन तक दूध फटता वा गिजरी होती है उन दिनों में तो अवश्य ही वह त्याज्य है क्योंकि उस में बहुत दिन की गर्मी वा मलीनता का विकार जुड़ा रहता है इस कारण उस का विशेष निषेध है । और आठवें पद्य में गौ उपलक्षणमात्र है । इस से दश दिन के भीतर भैंस बकरी आदि का दूध न फटने पर भी त्याज्य है । इस प्रकार इस प्रकरण में भोज्य वा पेय-पीने योग्यादि पदार्थों में से उदाहरणमात्र कई को अभक्ष्य कहा है । विशेष व्याख्यान वहीं होगा । अब इस से आगे प्राणियों के शरीर से होने वाले मांस के विषय में भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया जायगा ॥

अथ मांसभक्ष्याभक्ष्यविचारः ॥

सर्वे मांसं हिंसाजनकत्वादभक्ष्यम् । हिंसा चाधर्मो यस्य हिंसारूपस्याधर्मस्य वर्णनं महच्च दुःखफलं बहुषु वेदादिशास्त्रेषु बाहुल्येन वर्णितम् । तस्यात्र सङ्ग्रहकरणं पिष्टपेषणवत्प्रतिभाति । अस्मिन्नपि मानवे शास्त्रे सिद्धान्तपक्षे मांसप्रतिषेधावसरे हिंसारूपमधर्मं पुरस्कृत्यैव प्रतिषेधः प्रदर्शितः । अहिंसा च परमो धर्म इत्यपि शास्त्रेषु वर्णितमेव । तथा चोक्तमस्मिन्नेव धर्मशास्त्रे—

“नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधवन्धौ च देहिनाम् ।

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥२॥”

इत्थं मांसभक्षणं निषिद्धं महच्च दुष्कर्म सर्वैस्त्याज्यमिति सामान्येनायं सिद्धान्तयुक्तो विचारः ॥

अथ विशिष्टो विचारः—यदि कश्चिद् ब्रूयाच्चिकित्साशास्त्रे मांसभक्षणस्य बहवो गुणाः प्रदर्शितास्तदर्थं भक्षणं कार्यमेव स प्रत्युच्यते । चिकित्साशास्त्रकारैर्हि सायाः प्रधिषेधोऽपि नहि दर्शितः । नैव तद्धर्मशास्त्रं यथा व्याकरणाच्चौर्यव्यभिचारादयः शब्दा अपि निष्पद्यन्ते । नैव तत्र धर्मशास्त्रवदाज्ञा दीयते चौर्यकरणं धर्मोऽधर्मो वास्ति । एवमत्रापि चिकित्साशास्त्रे धर्माधर्मयोर्विवेचनं नास्ति । यथा स्तेयकर्मणा प्राप्तमप्यन्नं क्षुन्नितृप्तिं करिष्यति तथैव मांसमपि भक्षितं सापेक्षान् गुणाऽगुणान् करोतु । तेन मांसस्य हिंसादोषदुष्टत्वं नैव व्याहन्यते । अयमाशयः—ये क्षुन्निवारणमत्या स्वशरीरपोषणमनीषयैव वा धर्माऽधर्मयोर्विवेचनं विहाय स्वभावत इव सामान्येन सर्वजन्तुमांसभक्षणे प्रवृत्तास्तदर्थोऽयं सङ्कोचः । तैरपि तादृशं मांसं न भक्षणीयं येन तदानीमेवावगुणजन्यं दुःखं स्यात् । यद्वा क्वाप्यापत्कालेऽन्यत्प्राणरक्षणाय भक्ष्यं किमपि नो स्यात्तदापि विवेकेन मांसभक्षणं कार्यं न सामान्यतः । यद्दौषधार्थं पराधीनतया क्वापि मांसं सेव्यमेव स्यादन्यथा तद्रोगनिवृत्तिर्दुर्लभा चेत्तदा च वैद्यकशास्त्रोक्तविवेचनपुरस्सरं मांसं भक्षणीयं हिंसा तूभयथा भविष्यत्येव ॥

ऋव्यादान् शकुनीन्सर्वास्तथा ग्रामनिवासिनः । इत्यादिपरिणनेन येषां मांसस्य भक्षणं प्रतिषिद्धं ततोऽन्येषां भक्षणमर्थादापद्यते तत्रेत्यं बोद्धव्यम् । गवादयः सदैव मनुष्योपकारकाः पशवस्तु कदापि केनापि नैव भक्षणीयास्तेषां भक्षणेन महती कृतघ्नता हानिश्चोपजायते । ये चात्र तत्सदृशा भक्ष्या इत्यर्थादापद्यते तत्रापि नायं विधिरपितु सङ्कोचवाक्यान्येतानि । यश्चासौ सामान्यतया

मांसभक्षणाय प्रवर्तते तस्य सर्वथा निषेधः कथमपि काञ्चिदपि मांस-
भक्षणाप्रवृत्तिं न कारयति । किन्त्वनया युक्त्या भक्षणनिषेधः सम्भ-
वति । यथा कश्चिद्यावत्पापमाचरति ततोऽर्द्धं चतुर्थींशं वा कया चि-
द्युक्त्याऽऽचरेत्तदाधिकपाप्यपेक्षया स प्रशस्तो भविष्यति । यथाऽकर-
णान्मन्दकरणं श्रेय इति जनश्रुतिः सम्यगस्ति तथैव बहुपापाचर-
णादल्पपापाचरणं श्रेय इत्यपि वक्तुमुचितमेव । अयं च प्रवृत्तेः स-
ङ्कोचप्रकारोऽत्रैव नास्त्यपितु बहुषु श्रेष्ठपुस्तकेषु दृश्यते । तथा च
योगशास्त्रस्य साधनपादे—जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौ-
मा महाव्रतम् । अर्थात् काञ्चिद्भवादिजातिं महोपकारिकां ब्राह्मणादिकं
वा न हन्यात्कस्मिंश्चिद्देशे काले समये वा हिंसा न कर्तव्येति कथने-
नाविशेषतया जात्यादिषु हिंसां कर्तुं प्रवृत्तस्य प्रवृत्तिर्हासमापद्य-
ते । इत्थमेवं भूतानि शास्त्रीयवाक्यानि हिंसाया मांसभक्षणस्य नि-
वर्तकानि न तु विधायकानीति । तथैव पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या इत्यत्र
पस्पशाह्निकस्थमहाभाष्ये कैयटः—अर्थित्वाद्भक्षणं प्राप्तं पञ्चसु प-
ञ्चनखेषु नियम्यमानः सामर्थ्यादन्येभ्यो निवर्तते । नत्वयं विधिर-
प्राप्तेरभावात् । अर्थादप्राप्तस्य विधानं कर्तुं शक्यते—इदमित्थं का-
र्यम् । यच्च प्राप्तमेव नैव तस्य विधानं कर्तुमुचितमस्ति । यथा केन
चिन्नैतिकं विशिष्टं मद्यपानं सात्मीकृतं स चान्नस्येव तस्य त्यागं
कर्तुमक्षम इति । यदि त्यजेत्तदा मरणमेव स्यात् । एवं सात्मीकृ-
तस्य मांसस्यापि यत्र त्यागः कष्टसाध्योऽसाध्यो वास्ति तत्र प्रवृ-
त्तिशैथिल्याय जात्यादिनियमेन कथनमपि सङ्कोचपरत्वात्सुखकर-
मेवास्तीत्याशयः ॥

अत्र केचिद्ब्रुवन्ति—यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।

यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ १ ॥

अतो यज्ञे पशुमांसहोमाय पशवो हन्तव्याः शिष्टं च हव्यं मांसादिकं भक्षणीयमेव । एवं च मनुस्मृतावन्येष्वपि बहुषु निबन्धेषु विधानं दृश्यते तस्माद्यज्ञे हिंसा नास्ति तत्र मांसभक्षणमप्यदूषितम् । अतएव “वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति” इत्यपि कस्यचित्कथनं चरितार्थं वेदादिशास्त्रानुकूलं च सम्पद्यते ! अयं च मांसभक्षणप्रतिपादकानां प्रबलः पूर्वपक्षः ॥

अत्रोच्यते—अयुक्तमेतत्कथनं यज्ञे मांसभक्षणप्रतिपादनं मांसभक्षकैरेव क्रियते यज्ञश्च तेषां व्याजमात्रः किन्तु मांसभक्षणदोषाणामाच्छादनार्थो व्यवधानमात्रो यज्ञस्याश्रयः । नायं साधुः पन्थाः—तथाचोक्तं महाभारतस्य शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि—

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।

संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥१॥

सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।

कामकाराद्दिहिंसन्ति बहिर्वेद्याम्पशून्नराः ॥२॥

तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।

अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥३॥

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कसुरौदनम् ।

धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्देवेषु कल्पितम् ॥४॥

मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् ।

विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणः ॥५॥

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा ।

तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्विंसा न यज्ञिया ॥६॥

अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाऽहितः ।

सत्यन्तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम् ॥७॥

स्पष्टमेतन्नैव विशिष्टं व्याख्यानमपेक्षते सिद्धमनेन यदत्र मानवधर्मशास्त्रे पुरा महाभारतनिर्माणवसरे यज्ञार्थः पशुवधो मांस-भक्षणविधिश्च नासीदपित्वनन्तरं कैश्चिदत्र प्रक्षिप्तम् । नचायं मनोः सिद्धान्तः किन्तु केनापि कदापि हिंसा न कार्या हिंसाकरणं सर्वथा सर्वदाऽधर्मएवेति सिद्धान्तः । अतएव “सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।” इत्येतत्कथनं सङ्घटते । व्यासेनाप्युक्तम्—“सर्वथा सर्वदासर्वभूतानामनतिद्रोहोऽहिंसा” अहिंसायाः परमधर्मत्वं च सर्वानुमतमस्ति । यच्चोक्तं वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति तस्यायमाशयः—राज्ञा दुष्टास्तस्करा दस्यवादयो हन्तव्याः । आततायी च सर्वैर्हन्तव्यः । सर्पवृश्चिकसिंहादयोऽपि सर्वैर्वध्याः । इयमेव वैदिकी हिंसाऽस्ति । यस्मादेतेषां मारणाय वेदादिशास्त्रेषु विधानं क्रियते तस्मादियं वैदिकी हिंसास्ति । यद्यप्येषां मारणेऽपि दोषोऽस्ति तेषां प्राणवियोगकारणात् । तथापि तेषां वर्तमाने यावाननुपकारो जायते यावच्च तेषां मारणेनान्येषां सुखोत्पादात्पुण्यमुत्पद्यते तावन्मारणे पापं नास्तीति कृत्वा वैदिकी हिंसा हिंसा न भवतीत्युक्तम्—यच्च सर्वज्ञ-नारायणेन मनुभाष्यकृतोक्तम्—“लोकस्य भूत्यै जन्मने आहुत्या सूर्याप्यायनवृष्टिबीजपरम्परया शुक्रोत्पत्तौ प्राण्युत्पादात् । एतेनैकपशुहिंसयाऽनेकप्राणिनिस्तारात्तादृशदोषाभाव उक्तः” नैवेयं युक्तिः सम्यगुपपद्यते यतो मांसहोमो वृष्टेः कारणं न सम्भवति प्रत्युत निरोधकं भवति । तथा चाकाशे तापाधिम्यादृष्टिरुत्पद्यते बहूनौ

तापाधिक्यं घृतादिना सम्भवति नतु मांसेन । प्रज्वलितेऽग्नौ मांसप्रक्षेपेणाग्नेः सम्यग्ज्वलनमप्यसम्भवम् । कथञ्चित्स्याद्घृतादिना तदा मांसज्वलनाद्गन्ध उत्थास्यति तथा च तादृशगुणविशिष्टायां वृष्टौ सत्यां तादृशगुणका ओषध्यादयो जायमानाः प्राण्यनुपकारा एव भविष्यन्ति । यदि घृताद्यभावेन मांसमात्रस्य होमः कार्यसाधकः स्यात्तदा सर्वज्ञनारायणकथनं सङ्गच्छेत तत्त्वाशामोदकायितमेव । अतः कारणाद्वैदिकीहिंसाया उक्तमेव प्रयोजनमवगन्तव्यम् ॥

मांसभक्षणं घृणायुक्तमप्यस्ति । यथा रुधिरादिभ्यो घृणोत्पद्यते तथैव सज्जनानां मांसादपि घृणा जायते रुधिरादेव मांसस्य निष्पन्नत्वात् । अतएवैकादशेऽध्याये प्रायश्चित्तप्रसङ्गे मानवेऽस्मिन् शास्त्रोक्तम्—

“यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।”

अर्थाद्यैर्मद्यं मांसं च खाद्यते त एव यच्चा राक्षसाश्चेते वक्तुं शक्यते । अतएव मांसभक्षणं कर्म रजस्तमसोः प्रवर्तकं सत्त्वस्य विघातकं चास्ति । येन च मांसं खाद्यते तस्य मद्यपानप्रवृत्तिरपि जायते तयोः सतोरेव मैथुनायापि विशिष्टतया प्रवर्तते तथा सति धर्मार्थमोक्षैर्वियुज्यते क्षीणतादिजन्यं दुःखं च महदाप्नोति । तस्मादपि मांसभक्षणं निरुपपरिणामजनकम् । धर्ममाचरता मनुष्येणात्मौपम्येन सर्वस्य सुखं दुःखं च प्रतीक्षणीयम् । नैव कश्चित्स्वस्य मांसं सिंहादिभ्यो दातुमुत्सते यथेच्छति मदीयं मांसं कोऽपि सिंहादिर्न खादेतथैव स्वयमपि कस्यापि मांसं भक्षयितुं मनो न कुर्यात् । इत्थमेवाचरणं धर्मानुकूलमतो विपरीताचरणमधर्मोऽतो मांसभक्षणं नास्ति धर्मः । एवं केनापि कदापि मांसभक्षणं न कार्यमयमेव

धर्मः । आपत्काले च यदामिषभक्षणमन्तरेण निर्वाहो भवितुं न शक्नोति तदा पूर्वोक्तविवेकेन मांसं भक्षणीयम् । तदपि मांसत्यागापेक्षया श्रेष्ठं नास्त्यपित्वविशेषप्रवृत्त्यपेक्षया जात्यादिभेदेन प्रवृत्तिरल्पपापापगुणयोः प्रवर्तिकास्तीति वेदादिशास्त्रस्य सिद्धान्तः ॥

अब मांसभक्षण विषय में बिधि वा निषेध का विचार किया जाता हैः—हिंसा को उत्पन्न करने वाला होने से सभी मांस अभक्ष्य है । हिंसा एक अधर्म है कि जिस हिंसारूप अधर्म और बड़े दुःखफल का वर्णन बहुत वेदादिशास्त्रों में प्रायः किया है । उस का इस में संग्रह करना पिष्टपेषण के तुल्य जान पड़ता है । इस मनुस्मृति में भी मांस के निषेधरूप सिद्धान्त में हिंसारूप अधर्म को लेकर ही मांस का निषेध दिखाया है । और अहिंसा को परमधर्म मानना भी शास्त्रों में लिखा ही है । सो इसी धर्मशास्त्र में कहा है—“प्राणियों को मारे बिना कहीं कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता । तथा प्राणियों का बध करना कल्याणकारी नहीं इस से मांसभक्षण छोड़ देना चाहिये । मांस की उत्पत्ति और प्राणियों के बध बन्धन को विचार कर सब प्रकार के मांसभक्षण से रहित हो जाना चाहिये ” इस प्रकार मांस खाना बुरा काम होने से सब को त्याज्य है यह सामान्य कर सिद्धान्तयुक्त विचार है कि मांसभक्षण अच्छा काम नहीं ॥

अब विशेष विचार यह है कि यदि कोई कहे कि चिकित्साशास्त्र में मांसभक्षण के बहुत गुण दिखाये हैं इस कारण मांसभक्षण कर्तव्य ही है । इस का उत्तर यह है कि वैद्यकशास्त्र वालों ने हिंसा का निषेध भी नहीं किया कि मांस खाने में हिंसारूप अधर्म नहीं है । और वे चिकित्सासम्बन्धी ग्रन्थ धर्मशास्त्र नहीं हैं जैसे कि व्याकरणशास्त्र से चोरी व्यभिचारादि शब्द भी सिद्ध किये जाते हैं परन्तु वहां धर्मशास्त्र के तुल्य आज्ञा नहीं दी जाती कि चोरी करना धर्म वा अधर्म है । इसी प्रकार यहां वैद्यकशास्त्र में भी धर्म अधर्म का विवेचन नहीं है । जैसे चोरी करके प्राप्त हुआ अन्न भी क्षुधा की निवृत्ति करेगा । वैसे ही हिंसारूप अधर्म से उत्पन्न हुआ मांस भी खाने पर किसी की अपेक्षा न्यूनाधिक गुण अवगुण करो इससे मांस का अधर्म दोष नाम हिंसारूप दोष से ग्रस्त होना नहीं छूटता अर्थात् दोष अवश्य बना रहता है । अभिप्राय यह है कि जो लोग धर्म अधर्म का विचार छोड़कर स्वभाव से ही क्षुधा के निवारणार्थ वा अपने शरीर

को पुष्ट करने की बुद्धि से सामान्य कर सब जन्तुओं का मांस खाने के लिये प्रवृत्त होते हैं उन के लिये वैद्यकशास्त्र में एक प्रकार का सङ्कोच दिखाया गया है कि वे लोग भी वैसे जीवों के मांस को न खावें जिस से खाते ही समय अवगुण हो कर दुःख होवे। क्योंकि सर्वथा मांसभक्षण से वचना सम्भव नहीं तो उस गिरती हुई दशा में भी ऐसा उपाय बताना चाहिये जिस से कुछ कम ही दुःख भोगने पड़े। अथवा कभी आपत्काल में जब प्राणरक्षा के लिये अन्य कुछ भी भक्ष्य न मिल सके तब भी वैद्यकशास्त्र में लिखे अनुसार विचार के साथ गुणकारी और जिस से संसार का कम अनुपकार हो ऐसा मांस खाना चाहिये। प्रयोजन यह है कि पशु आदि की अपेक्षा मनुष्य के प्राण की रक्षा रहना अधिक उपयोगी है। इस कारण मांस से ही प्राण बचते हैं तो आपत्काल में ऐसा करे। अथवा पराधीनता से ओषधि के लिये कहीं मांस खाने ही पड़े अन्यथा उस रोग की निवृत्ति होना यदि दुर्लभ हो तो चिकित्साशास्त्र में कहे विवेक पूर्वक मांसरूप औषध के सेवन से रोग की निवृत्ति करनी चाहिये। रहा हिंसारूप दोष सो तो दोनों पक्ष में होगा चाहें गुण अवगुण का विचार किया जाय वा नहीं। तो ऐसी दशा में भी जितना विचार हो सके वही अच्छा है ॥

कच्चा मांस खाने वाले वा ग्राम के निवासी पक्षियों को छोड़ देना चाहिये इत्यादि श्लोकों में जिन २ पशुपक्षी आदि के मांसभक्षण का निषेध किया है उन से भिन्न पशुआदि के मांसभक्षण का विधान अर्थापत्ति से प्राप्त होता है। इस विषय में ऐसा जानना चाहिये कि मनुष्यादि के विशेष उपकारी दुग्ध घृतादि से अनेक प्रकार मनुष्यों के रक्षक गौ आदि पशुओं का तो कदापि किसी को मांस नहीं खाना चाहिये क्योंकि उन के खाने से बड़ी रुतघ्नता और हानि होती है। इसी कारण इस प्रकरण में गौ आदि उपकारी पशुओं के विषय में विशेष विधि निषेध कुछ नहीं किया गया किन्तु उन के आश्रित होने से सर्वथा रक्षा ही कर्तव्य है। और जो निषिद्ध पशुपक्षियों के सदृश अन्य पशुपक्षी भक्षण के विधान में आते हैं वहां भी ये विधिवाक्य नहीं किन्तु संकोच हैं। जो वह सामान्य कर मांसभक्षण के लिये प्रवृत्त है उस का सर्वथा निषेध करना किसी प्रकार मांसभक्षण की प्रवृत्ति को कुछ भी नहीं हटाता अर्थात् जो पुरुष सब प्रकार का मांस प्रत्येक समय विशेष कर खाने में प्रवृत्त है उस को कहा जाय कि तू मांस खाना सर्वथा छोड़ दो तो एक साथ छूटना असम्भव होगा। किन्तु इस युक्ति से

कहा जाय कि असुक २ देश काल वा समय में तथा असुक २ गौ आदि जाति का मांस न खाना चाहिये । रहेशेष उन का खाना भी विहित नहीं कि खाना ही चाहिये । क्योंकि विधिवाक्य वहां रहते हैं कि जहां उस काम वा वस्तु का अभाव हो । वह मनुष्य तो स्वयमेव मांस खाने में प्रवृत्त है । उस के लिये किसी जाति आदि का निषेध करना वा किसी जाति आदि का नियम करना कि इन्हीं का खाना उचित है अर्थात् इन से भिन्न का मांस न खाओ ये दोनों प्रकार उस को मांस खाने की प्रवृत्ति कम करने के लिये हैं । और कम होने पर धीरे २ उस का छूटना भी सम्भव है । जैसे कोई जितना पाप करता है उस से आधा वा चतुर्थांश किसी युक्ति से करने लगे तो अधिक पापी की अपेक्षा वह प्रशंसित माना जावेगा । जैसे लोक में यह कहावत प्रसिद्ध है कि “न करने से थोड़ा करना भी अच्छा है” वैसे ही अधिक पाप करने की अपेक्षा थोड़ा पाप करना अच्छा है । यह प्रवृत्ति को कम करने का प्रचार यहीं हो सो नहीं किन्तु अनेक श्रेष्ठ पुस्तकों में दीखता है । जैसे पातञ्जल योगशास्त्र के साधनपाद में लिखा है कि “गौ आदि जाति, पाठशालादि देश, पर्वदिनादि काल और पूर्वाह्णादि समय में हिंसा न करे वा मांस न खावे । क्योंकि गौ आदि बहुत उपकारी जीव हैं उन को कभी न सारे इस कथन से जो सामान्य कर जाति आदि में हिंसा करने के लिये प्रवृत्त है उस की प्रवृत्ति कम हो जाती है । इस प्रकार ऐसे शास्त्रीय वाक्य हिंसा और मांसभक्षण की निवृत्ति करने वाले हैं । किन्तु विधायक नहीं । तथा “पांच नख वालों में से पांच जीव भक्ष्य हैं” इस महाभाष्य के कथन पर कैयट ने प्रथमाहिक में ही लिखा है कि “मांसाहारी लोग लोभी हो कर मांस खाते हैं [जैसे कि चोर लोगों को चोरी करने में स्वभाव पड़ जाता है और वे दूसरों के पदार्थों की प्रति समय ताका करते हैं] इस से उन में मांस खाना स्वयमेव प्राप्त है कि वे सभी जीवों का मांस खाने के लिये अपने स्वभाव से प्रवृत्त होते हैं । पांच नख वाले पांच जीवों में नियम कर देने से अन्य के मांस खाने से बच जाता है किन्तु यह विधि—आज्ञावाक्य नहीं है कि पांच जीवों का मांस खाना चाहिये । क्यों कि विधिवाक्य वहां कहने पड़ता है जहां उस काम का अभाव हो । जब मांसाहारी स्वयमेव सामान्य कर सब जीवों का मांस खाने में प्रवृत्त हैं तो उस की आज्ञा देना व्यर्थ है । जैसे कोई नित्य २ विशेष मद्यपान करता है और उस ने मद्य के पीने को एक स्वाभाविक आहार बना लिया

हो तो वह अन्न के तुल्य उस का त्याग नहीं कर सकता । जो छोड़े तो मरण ही हो जावे । ऐसे ही स्वभाव पड़े हुए मांस का भी त्याग जहां कष्टसाध्य वा असाध्य है । वहां मांस खाने की प्रवृत्ति को कम करने के लिये जाति आदि के नियम से कहना संकोच परक होने से सुखकारी ही है यह आशय है ॥

इस विषय में कोई लोग कहते हैं कि मनुस्मृति में लिखा है “यज्ञ के लिये परमेश्वर ने स्वयमेव पशु बनाये हैं । यज्ञ में मारने से सब का कल्याण होता है इस से यज्ञ में किया वध मारना नहीं अर्थात् निर्दोष है” । इस कारण यज्ञ में पशुओं को होम करने के लिये मारना चाहिये और होम से शेष बचा खाना भी उचित ही है । मनुस्मृति तथा अन्य पुस्तकों में ऐसा भी विधान दीखता है । इस कारण यज्ञ में हिंसा नहीं और वहां मांसभक्षण भी निर्दोष है । इसी कारण “वेदोक्तहिंसा हिंसा नहीं होती” यह किन्हीं का कथन वेदानुकूल और चरितार्थ होता है । मांसभक्षण के प्रतिपादक लोगों का यह पूर्वदर्शित एक बड़ा वा प्रबल पूर्वपक्ष है ॥

इस का उत्तर—यह पूर्वोक्त कथन अयोग्य है । यज्ञ में मांसभक्षण का प्रतिपादन मांसभक्षी लोगों ने ही किया है । उन लोगों का यज्ञ करना ढलमात्र है । अर्थात् मांसभक्षण से जो पाप वा दोष लगते हैं उन को दबाने के लिये आड़मात्र यज्ञ का आश्रय लेना है । यह मार्ग कदापि अच्छा नहीं है कि यज्ञ में पशु मारे जावें और उन का होम से बचा मांस खाया जावे । महाभारत के शान्तिपर्यान्तर्गत मोक्षधर्मपर्व में लिखा है कि “मर्यादा को बिगाड़ने वाले मूर्ख संशयात्मा स्वार्थी दबी २ बातें करने वाले नास्तिक लोगों ने यज्ञ में हिंसा कर मांस खाने का विधान किया है ॥ १ ॥ यज्ञादि सब उत्तम कर्मों में धर्मज्ञ मनु जी ने अहिंसा को ही धर्म कहा है । स्वार्थी लोग मांस खाने के लोभ से यज्ञ में वा उस से पृथक् पशुओं को मारते हैं ॥ २ ॥ इस कारण विचारशील मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि वेद प्रमाण का ठीक २ निश्चय करके [कि वेद में हिंसा है वा नहीं ?] सूक्ष्मधर्म का सेवन करना चाहिये । क्योंकि सब प्राणियों के लिये धर्म के सब लक्षणों से अति उत्तम अहिंसा धर्म माना गया है ॥ ३ ॥ यज्ञादि शुभकर्मों में मांसमद्यादि घृणित वस्तुओं का उपयोग धूर्त लोगों ने लगाया है किन्तु वेद में उस का विधान नहीं किया गया ॥ ४ ॥ मान अज्ञान और लोभ से दुराचारी लोगों ने यज्ञ में मांसमद्यादि खाने, चढ़ाने की कल्पना की है । और श्रेष्ठ ब्राह्मण

लोग सब यज्ञों में एक परमेश्वर की ही उपासना मानते हैं ॥५॥ किसी ब्राह्मण ने कई लोगों से सुने जाने के अनुसार यज्ञ में हरिण मारने की इच्छा की थी उस के बड़े भारी सञ्चित तप में विघ्न पड़ गया अर्थात् तप खण्डित हो गया । इस से हिंसाकर्म यज्ञ के योग्य नहीं अर्थात् यज्ञ में हिंसा न होनी चाहिये ॥ ६ ॥ अहिंसा समस्त धर्म और हिंसा करना केवल अधर्म वा अहितकारी है । इस कारण मैं प्रतिज्ञा के साथ कहता हूँ कि सत्यवादियों का बड़ा धर्म अहिंसा ही है ॥

इस पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो गया कि पहिले महाभारत बनते समय इस मनुस्मृति में यज्ञ के लिये पशुओं का मारना वा मांस खाने की विधि भी नहीं थी किन्तु पीछे किन्हीं लोगों ने प्रक्षिप्त किया है कि यज्ञ में पशुओं को मारना चाहिये । यह मनु का सिद्धान्त नहीं है किन्तु किसी को कदापि हिंसा नहीं करनी चाहिये हिंसा करना सर्वथा और सब काल में अधर्म ही है । इसी कारण “सब कर्मों में धर्मात्मा मनु जी ने अहिंसा को ही श्रेष्ठ कहा है” महाभारत का यह पूर्वोक्तकथन सङ्घटित होता है । योगभाष्य में व्यास जी ने भी कहा है कि “सब प्रकार सब काल में सब प्राणियों से द्रोह न करना रूप अहिंसा ही परम धर्म है । और अहिंसा का परमधर्म होना सर्वसम्मत है । और जो यह कहा था कि वेदोक्तहिंसा हिंसा नहीं उस का आशय यह है कि राजा वा अन्य धर्मरक्षक लोगों को उचित है कि दुष्ट, चोर, डाकू, वा जो अपने मारने को शस्त्र ले कर सामने आता हो उस को तथा सांप, बिलू और सिंहादि हिंसक प्राणियों को मार डालें यही वेदोक्तहिंसा है क्योंकि इन को मारने के लिये वेदादि शास्त्रों में आज्ञा की गयी है इस से यह वेदोक्तहिंसा है यद्यपि इन चोरदुष्टादि के मारने में भी पाप है क्योंकि उन के प्राण का वियोग होने से उन को क्रोध पहुंचता है तो भी उन के बने रहने में जितना-जगत् का अनुपकार होता है और उस के मारने से अन्यो को सुख हो कर जितना पुण्य होता है उतना पाप उन के मारने में नहीं अर्थात् उन के मारने से जो पाप होता है उस की अपेक्षा पुण्य अधिक हो जाता है इस कारण वेदोक्तहिंसा को हिंसा नहीं माना किन्तु अहिंसा माना है ॥

और जो मनु के भाष्यकर्त्ता सर्वज्ञनारायण ने कहा है कि “यज्ञ करने से वृष्टि, वर्षा से ओषधि, अन्न और वीर्य की परम्परा से उत्पत्ति होने पर मनुष्यादि प्राणियों के शरीर बनते हैं । इस कारण एक पशु को मार कर यज्ञ करने से अनेक प्राणियों की उत्पत्तिरूप निस्तार हो कर पाप की अपेक्षा पुण्य बढ़ जाता है । इस

कारण यज्ञ की हिंसा को अहिंसा माना है” सो यह युक्ति इस कारण ठीक नहीं है कि जिस से मांस का होम करना वृष्टि का कारण नहीं बनता किन्तु किसी प्रकार वृष्टि का हानिकारक है। जैसे आकाश में ताप के अधिक बढ़ने से वर्षा होती है [इसी कारण ग्रीष्म ऋतु में अधिक ताप बढ़ने से वर्षा अच्छी होती] और घृतादि के अधिक पड़ने से अग्नि में तेज बढ़ता है किन्तु मांस से नहीं। जलते हुए अग्नि में मांस छोड़ने से जलना भी ठीक नहीं हो सकता किन्तु बुतजाना सम्भव है। कदाचित् घी आदि की सहायता से वा इन्धन के ठीक शुष्क होने से मांस जल भी जावे तो उस में से दुर्गन्ध उठेगा और वैसे दुर्गन्धगुणयुक्त वृष्टि के होने पर वैसे ही गुणों वाले उत्पन्न हुए ओषधि आदि पदार्थ प्राणियों के लिये अनुपकारी होंगे। यदि घी आदि के बिना ही केवल मांस के होम से वर्षारूप कार्यसिद्ध हो जावे तो सर्वज्ञनारायण का कहना बन सकता है सो तो इच्छामात्र के लड्डू खाना है अर्थात् असम्भव है। जब घृतादि की सहायता बिना मांस का होम कुछ भी उपकारी नहीं हो सकता तो वह उपकार घृतादि से हो सकना सिद्ध हो गया। इस कारण वेदोक्तहिंसा का पूर्वोक्त ही प्रयोजन जानना चाहिये। मांस खाना घृणित काम भी है। जैसे रुधिर आदि से घृणा होती वैसे बहुत विचारशीलों को मांस से भी घृणा रहती है क्योंकि दूध से दही के समान रुधिर से ही मांस बनता है। इसी कारण इस मनुस्मृति के प्रायश्चित्त-प्रकरण ग्यारहवें अध्याय में कहा है कि—“मद्यमांसादि घृणित वस्तु यक्ष राक्षस और पिशाचादि नाम वाले मनुष्यों का अन्न है” अर्थात् मद्यमांसादि के खाने वालों का ही राक्षसादि नाम है। इसी से मांसभक्षण कर्म रजोगुण तमोगुण का बढ़ाने वाला और सत्त्वगुण का नाशक है। जो मांस खाता है वह मद्य पीने को भी उद्यत होता और मद्यमांस के सेवन से जैथुन के लिये भी अधिक चेष्टा होती है। ऐसा होने पर धर्म, अर्थ और मोक्ष से विमुख हो जाता है। और क्षीणतादि से होने वाले बड़े दुःखों को प्राप्त होता है। इस से भी मांस खाना बुरा फल देता है। धर्म का आचरण करने वाले मनुष्य को अपने आत्मा के तुल्य सब को सुख देना चाहिये। जब कोई मनुष्य सिंहादि मांसाहारियों को अपना मांस देने को उद्यत नहीं होता। तो उस मनुष्य को भी अन्य जीवों का मांस कदापि न खाना चाहिये। जैसे सब कोई चाहता है कि मेरा मांस कोई सिंहादि न खावे वैसे ही आप भी किसी के मांस खाने को चित्त न करे ऐसा ही

आचरण धर्मानुकूल है इस से विपरीत को अधर्म जानो इस कारण मांसभक्षण करना धर्म नहीं है। इस उक्त प्रकार से सब गुण दोष विचार कर किसी को मांसभक्षण न करना चाहिये। यही धर्म और इस से विरुद्ध अधर्म है। आपत्काल में जब मांसभक्षण किये बिना किसी प्रकार निर्वाह नहीं हो सकता हो तब पूर्वोक्त विचारपूर्वक मांस खाना चाहिये। यह भी मांस की आज्ञा नहीं किन्तु पूर्वोक्त प्रकार संकोचपरक वाक्य है। अर्थात् मांस त्यागने की अपेक्षा यह संकोच भी श्रेष्ठ नहीं किन्तु सामान्य प्रवृत्ति की अपेक्षा जाति आदि के भेद से प्रवृत्त होना थोड़े पाप और बुराई का हेतु है यह वेदादिशास्त्रों का सिद्धान्त है। यद्यपि इस विषय पर पहिले भी उपोद्घात में कई अवसरों पर लिख चुके हैं कि विधि निषेध सिद्धान्तवाद और अर्थवाद को उन्हीं २ के विचारानुसार लोग समझा करें किन्तु अर्थवाद वा सिद्धान्तवाद को विधिवाक्य कोई न समझ लेवे। तथा अपवाद वा विशेष वचन सामान्य वा उत्सर्ग का हानिकारक नहीं होता। ऐसा उलटा समझ लेने वाला मनुष्य अपनी और अन्य मनुष्यों की हानि कर लेता है। जैसे कहा गया कि ऋतु समय में केवल अपने वर्ण की स्त्री के साथ गमन करना चाहिये यह सामान्य कर विधिवाक्य है। इस का अपवाद वा विशेष वचन यह होगा कि अमुक २ अवसर में ऋतु समय भी गमन न करे वा अमुक २ अवसर में ऋतु से भिन्न समय में भी गमन करे इस से वह सामान्य विधान खण्डित नहीं होता। तथा ऋतु समय में स्त्री से समागम करने की आज्ञा को जब प्रायः लोग तोड़ डालते हैं और नित्य समागम करने में तत्पर होते हैं उन को ऋतु समय का उपदेश कुछ भी कार्यसाधक नहीं होता किन्तु वे कदापि ऐसा नहीं कर सकते कि नित्य के भोजन को छोड़ कर सहिने भर में एक बार खावें तो ऐसी दशा में तीसरे चौथे वा आठवें दिन मैथुन का उपदेश किया जाय तथा किन्हीं २ पर्वादि तिथियों में निषेध किया जाय तो सम्भव है कि वह निवाह ले। यह मैथुन का उपदेश नित्य की अपेक्षा विशेष सुख और कम हानिकारक होगा। परन्तु इस कथन से सामान्य वचन जो ऋतु समय में भार्यागमन का विधान है सो कटता नहीं है अर्थात् ऋतु समय में गमन करने की अपेक्षा तीन चार आदि दिन के अन्तर से करना भी बुरा है। परन्तु नित्य की अपेक्षा अच्छा है। इसी प्रकार मांसप्रकरण में भी समझना चाहिये कि मांस का सर्वथा त्याग करना यही मुख्य आज्ञा है। और जो स्वयमेव उस में अधिक प्रवृत्त है उस को कम वा

कभी खाने का उपदेश इस लिये नहीं कि मांस खाने की आज्ञा दी जावे वा मांस के निषेध का खण्डन किया जावे । इस प्रसङ्ग में इतना लौट २ इसी लिये लिखा है कि कोई विरुद्ध ऐसा न समझ लेवे कि इन्होंने मांस खाने की आज्ञा दी वा उस को अच्छा माना हो । किन्तु सिद्धान्त पर ध्यान देना चाहिये ॥

अथ द्रव्यसूतकयोः शुद्धिमालोचयिष्यामः । अस्मिन्नाशौचप्रसङ्गे प्रथमां प्रेतशुद्धिं शावमाशौचमिति वा वदन्ति । तच्चाशौचं शोकहेतुकं शोकश्च प्रियेष्टवियोगात्तारतम्येन सर्वैरनुभूयते । यदा केनापि कारणेन मनो देहाकृतिश्च ग्लानिमृच्छति तदेवाशुद्धेर्लक्षणमस्ति । मृते च कस्मिंश्चित्पित्रादिसम्बन्धिनि स्वत एव ग्लानिरुत्पद्यते । ग्लानीभूतैश्च मनोवाग्देहादिभिः पवित्रीभूतैर्मनोवाक्कायैरनुष्ठेयानि कर्माणि सिद्धानि भवितुं नार्हन्तीत्याशौचस्यावधिः क्रियते । यावता कालेन यज्जन्य शोकस्य निवृत्तिर्भविष्यतीति विद्वद्भिरनुमितं तावानाशौचस्य कालः प्रतिपादितः । यद्ययमवधिर्न स्यात्तदा सामान्यलौकिकजना नावधारयेयुः कियता कालेन शोको निवारणीयः सत्येव वा शोके स्वस्थबुद्धिसाध्यानि कर्माण्यारम्भमाणाः कार्यसिद्धिं प्राप्नुयुरिति नास्ति सम्भवम् । अतः शोकरूपस्याशौचस्य निर्णयार्थं सामान्यतया ब्राह्मणादीनां समयावधिः कृतः—तथा चोक्तमस्मिन्नेव मानवधर्मशास्त्रस्याशौचप्रकरणेः—

विप्रः शुध्येद्दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।

वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥

अत्र ज्ञानस्य तारतम्याच्छोकावधेस्तारतम्यमस्ति । अतएव ब्राह्मणस्य सर्वेभ्यो विशिष्टं ज्ञानमिति कृत्वा दशाहानि रक्षितानि । शूद्रश्चान्यवर्णापेक्षया ज्ञानहीनस्तस्य मासेन त्रिगुणकालेन शोकनिवृत्तरूपमाशौचं रक्षितम् । शोकनिवृत्तेरन्तिमदिने च गृहशरीरवस-

नादीनां विशिष्टा शुद्धिः कार्या सापि मनःप्रसादहेतुत्वाच्छोकनिवारिका
सम्भवति । तदानीमेव कुटुम्बिन एकीभूय भोजनादिकं च कुर्युः ।
अन्येभ्यश्च सुपात्रब्राह्मणेभ्यो यथाशक्ति दानं दद्युः । अनेनापि का-
र्यान्तरासक्तचेतस्त्वाच्छोकनिवृत्तिः सम्भवति । दानादिकं च शुभं
धर्म्यं कर्म भाविशुभफलजनकमिति कृत्वा सेव्यमेव । इयं च दशा-
हायवधिका सामान्योत्सर्गरूपाऽशुद्धिरुक्ता सा चासति विशेषे तथैव
सर्वैः सेव्या । अन्ये चास्यैवापवादाः । यथोक्तम्—

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।

अर्वाक् सञ्चयनादस्थनां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥

अत्रैते विकल्पा विशेषदशासु सद्यः शौचार्थाः । कुत्रचिज्ज्ञान-
स्यातिप्राबल्यात्सद्यः शोकनिवृत्तिः सम्भवति तेन नैव शोकः कार्यः ।
कुत्रचिन्मृतः प्राण्येव विशिष्टशोकाहोर्नास्ति तत्रापि सद्यः शौचं शो-
कनिवृत्तिश्चापेक्ष्यते । यथा कस्यचिद्विवाहस्य समय आगतः सर्वाणि
च साधनान्यन्नपानादीनि सञ्चितानि यदि नियतकालमतिक्रामेत्तदा
सर्वं भोज्यादिकं विनष्टं स्याद्यद्वा समयान्तरे तद्विवाहादिकार्यमेव के-
नापि कारणेन न सम्भवेत्तदा सद्य एव शौचं कृत्वा तद्विवाहादिक-
मपि कर्तव्यम् । कुत्रचित्सायस्के वाले विशिष्टप्रीतेरभावाच्छोकोऽ-
प्यल्पः सम्भवति तदानीं सद्यः शौचं कार्यमित्यादिप्रकारेण लोक-
व्यवहारसिद्धये शावाशौचं निर्णीतम् । नतु मृतोद्देशेन तदानीं कर्तुं
युज्यते । अस्य च विचारः श्राद्धविचारप्रकरणे दर्शितः । सन्निरुष्ट-
बान्धवानां यावान् शोकः सम्भवति न च तावान् विदेशस्थानां तैश्च
मृतस्य प्राणत्यागो दाहादिकं चेन्द्रियगोचरं नैव क्रियते । अतएव
तेषां न्यूनमाशौचमुक्तम् । सपिण्डादन्येषामपि शोकः सपिण्डापेक्षया

न्यूनः सम्भवत्यतएव तत्रापि न्यूनमेवाशौचमुक्तम् । यानि चाशौचस्य दिनानि रक्षितानि तेषु यथा यथा नियमाः सेवनीयास्ते चास्मिन्नेव प्रकरणेऽक्षारलवणान्नाः स्युरित्यादि नोक्ताः । विशेषश्च भाष्ये द्रष्टव्यः ॥

इयं च मृतानन्तरं जायमानाऽशुद्धिरुक्ताऽग्रे सूतकविषये किञ्चिदुच्यते । सूतकशब्दो जननाशौचस्य वाचकः । सूड् प्राणिगर्भविमोचन इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नत्वात् ।

“सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।

सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥”

नवमासेषु सञ्चितं मलं योनिमुखान्निस्सरति—तस्माद्विशेषतया दशाहावधि मातुरेवाशौचमित्युक्तम् । पिता तु जातकर्मणि बालं स्पृशति तदनन्तरं स्नानं कृत्वा शुद्धो भवति । तथापि सूतिकां तत्सन्निकृष्टानि वस्तूनि वा कार्यवशाद्ये सम्बन्धिनः स्पृशन्ति तेऽपि संसर्गदोषात्कथञ्चिदशुद्धा भवन्ति । अतएव सामान्यतया सर्वैः सूतकाशौचं कार्यम् । शावाशौचेन साकमस्य महान् विशेषः । तत्राशौचकारणं शोकोऽत्र तु मालिन्यमानन्दश्च कारणमस्ति । अर्थात्सूतकाशौचमल्पतरमेवास्ति ॥

द्रव्यशुद्धेः पूर्वमत्र शारीरमाशौचमभिहितम् । द्रव्येषु नाना विधानां सामान्यविशेषवस्तूनां शुद्धिरुक्ता । न चात्र कस्याश्चिज्जातेः स्पर्शमात्रेणाशुद्धिरुक्ता । न च पाकशालाऽन्येन केनापि स्पृष्टा सत्येवाशुद्धा भवतीति लोकप्रचरितं धर्मशास्त्रानुकूलमस्ति किन्तु घृणितेन पुरुषेण वस्तुना वा स्पृष्टमशुद्धमवश्यं भवति । यतो हि मनसि ग्लानिरुत्पद्यते बुद्धिश्च प्रसन्ना न भवति तदमेध्यम् । स्थान-

वस्त्रशरीरादीनां सर्वैः सर्वदा शुद्धी रक्षणीया परन्तु नैतया कृतक-
त्या जना भवितुमर्हन्ति । योऽर्थे शुचिः स शुचिर्न मृदारिशुचिः शुचिः ।

अत्रार्थशौचस्य प्राधान्यं प्रतिपाद्यते नतु मृदारिभ्यां जायमा-
नायाः शुद्धेः प्रतिषेधे तात्पर्यमस्ति । दानादानादिः सर्वो व्यापारो
यस्य छलकपटादिरहितोस्ति यः कस्यापि विश्वासघातं न करोति
सोऽर्थे धनादिव्यवहारे शुचिरित्युच्यते । जलादिनाशोधकेनान्तःकर-
णस्य मनसो जीवात्मनश्च शुद्धिर्भवितुमशक्येति कृत्वा तयोः शु-
द्ध्यर्थमन्य एव यत्नः प्रदर्शितः । ज्ञानंतपोऽग्निराहार इत्यादिना
शुद्धेर्द्वादशकारणानि दर्शितानि । विशेषो भाष्ये द्रष्टव्यः ॥

भाषार्थः—अब द्रव्य और सूतकशुद्धि का कुछ विचार किया जाता है । इस
आशौचप्रकरण में पहिली प्रेतशुद्धि अर्थात् किसी के मरने पर जो अशुद्धि मानी
जाती है । वह आशौच शोक से होता है । जहां अपने किसी प्रिय वा इष्टमित्रादि
का मरणरूप वियोग होता है । वहां प्रीति और मित्रतादि के न्यूनाधिक होने
से सब को शोक भी न्यूनाधिक होता है । जब किसी कारण से मन और शरीर
की आकृति को ग्लानि प्राप्त होती है उस को अशुद्धि का सामान्य लक्षण जानो ।
किसी पिता आदि अपने सम्बन्धी के मरने पर मनुष्य के चित्त में स्वयमेव ग्लानि
और शोक उत्पन्न हो जाता है और मन वाणी तथा शरीर के मलीन शोकातुर
होने पर शुद्ध पवित्र वा प्रसन्न मन वाणी और शरीरों से सेवने योग्य शुभ कर्म
ठीक सिद्ध नहीं हो सकते । उन का अनध्याय रखने के लिये और सर्वसाधारण
को अपनी शोकदशा जताने के लिये कि हम ऐसी दशा में हैं । हम से सब कोई
ऐसा व्यवहार न करें जैसा प्रसन्न दशा में करना योग्य है इत्यादि विचार से शोक
के दिनों की अवधि और उन दिनों में अपनी विशेष दशा [कुशादि के आसन
पर पृथिवी पर बैठे रहना खटिया पर न सोना न लेटना स्त्री के पास न जाना
सुगन्धि आदि न लगाना आदि] रखनी चाहिये । पहिले हुए विचारशील ऋषि
महर्षि लोगों ने विचारपूर्वक अनुमान किया कि इतने काल में शोक की निवृत्ति
हो सकेगी उतना काल अशुद्धि का बताया गया । यदि यह अवधि अर्थात् शोक रखने

की सीमा न की जाती तो साधारण लौकिक मनुष्य निश्चय न कर पाते कि कितने काल में शोकनिवृत्त करनी चाहिये। अथवा शोक के बने रहते ही स्वस्थबुद्धि से होने योग्य कामों का आरम्भ करते हुए कार्यसिद्धि को प्राप्त हों यह सम्भव नहीं है। इस कारण शोकरूप अशुद्धि के समय का निर्णय करने के लिये सामान्य कर ब्राह्मणादि वर्णों के पृथक् समय बाँधे। सो मानवधर्मशास्त्र के इसी प्रकरण में कहा है कि "ब्राह्मण दश दिन, क्षत्रिय बारह दिन, वैश्य पन्द्रह दिन और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है" ज्ञान के न्यूनाधिक होने से ब्राह्मणादि में न्यूनाधिक दिनों तक शुद्धि की अवधि रक्खा है। ब्राह्मण वर्ण के सब से अधिक ज्ञानवान् होने से उस का शोक शीघ्र निवृत्त हो सकता है इसी कारण उस के लिये सब से कम दश दिन अशुद्धि रक्खी। और अन्य तीनों वर्ण की अपेक्षा शूद्र अधिक अज्ञानी होता इस कारण उस को एक सहिने भर अशुद्धि मानने को कहा गया [आज कल प्रायः प्रान्तों में चारो वर्ण में दश ही दिन की अशुद्धि मानी जाती है यह प्रचार वर्णव्यवस्था के ठीक न रहने से विगड़ा है अर्थात् शास्त्र से विपरीत चल गया है सो ठीक नहीं है] शोकनिवृत्ति के अन्तिम दिन में घर शरीर और वस्त्रादि की विशेष शुद्धि करनी चाहिये। उस से भी मन की प्रसन्नता होने से शोक की निवृत्ति होना सम्भव है। उसी समय कुटुम्बी लोग एकत्र हो कर भोजनादि करें तथा अन्य सुपात्र ब्राह्मणों को भी उस समय यथाशक्ति दान दक्षिणा दें। इस से द्वितीय अच्छे धर्मसम्बन्धी कार्य में लगने से शोक की निवृत्ति होना सम्भव है। और दानादिक भी धर्मयुक्त शुभकर्म है भविष्यत् में उस से अच्छा फल होगा इस कारण अवश्य सेवने योग्य है। यह दश आदि दिनों में सामान्य कर उत्सर्ग रूप शुद्धि दिखायी है। अन्य वचन इसी के अपवाद वा बाधक माने जावेंगे। जैसे कहा कि सात पीढ़ी वालों को मरणानन्तर दशदिन अशुद्धि माननी चाहिये तथा कहीं कभी चार तीन और एक दिन में भी शुद्ध हो सकते हैं। यहां ये सब विकल्प इस लिये दिखाये गये हैं कि विशेष दशाओं में शीघ्र शुद्धि कर लेने के लिये हैं अर्थात् जहां जैसी आवश्यकता पड़े वहां वैसी शुद्धि कर लेनी चाहिये। कहीं ज्ञान के अतिप्रबल होने से शीघ्र ही शोकनिवृत्ति हो सकती है उस को शोक नहीं करना चाहिये। कहीं मरा हुआ प्राणी ही विशेष शोक करने योग्य नहीं वहां भी शीघ्र ही शोक की निवृत्ति हो सकती है। कहीं शीघ्र शुद्धि न करने में विशेष हानि देख कर शीघ्र शुद्धि और शोक की निवृत्ति करनी

चाहिये जैसे किसी के विवाह का समय आ गया और सब अन्नपानादि पदार्थ भी जोड़ लिये गये कि जिन का व्यय होगा ऐसे समय में किसी का मरण हो जावे और पूरी अशुद्धि मानने में विवाह का नियत समय निकल जावे तो सब भोज्य वस्तु बिगड़ जाना सम्भव है अथवा समय टल जाने से वह विवाहादि कार्य ही किसी कारण पीछे न हो सके तो ऐसी दशा में शीघ्र ही शुद्धि करके वह विवाहादि कार्य भी करना चाहिये । कहीं तत्काल के उत्पन्न हुए बालक के मर जाने पर उस में विशेष प्रीति के न हो पाने से शोक भी न्यून होगा ऐसे समयों में शीघ्र शुद्धि करनी चाहिये । तथा इसी ग्रन्थ मनुस्मृति में न्यायाधीश राजा के लिये आज्ञा है कि वह उसी समय शुद्ध हो जावे न्याय कभी बन्द न हो । युद्ध में अशुद्धि नहीं लगती इस प्रकार से लोक के व्यवहार की सिद्धि के लिये मृतक अशुद्धि का निर्णय किया गया है किन्तु मृतक को जन्मान्तर में फल पहुंचाने के उद्देश से कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है । इस का विशेष विचार आहुतसम्बन्धी विचार के प्रकरण में दिखा चुके हैं । समीप रहने वाले भाई वन्धुओं को मृतक का जितना शोक होता है उतना विदेशस्थों को नहीं होता । विदेश में रहने वाले वन्धु मरने वाले के प्राण त्याग को और उस के जलाने आदि को अपनी आंखों से नहीं देखते । इसी कारण उन विदेशस्थों को मृतक का संसर्ग न होने और शोक के कम होने से अशुद्धि भी उस के लिये कम कही गयी है । समीपी सगे और सात पीढ़ी वालों की अपेक्षा अन्य कुटुम्बियों को भी शोक कम होता है इस लिये उन को भी कम शौच बताया गया है । और जो अशुद्धि के दिन रखे गये हैं उन दिनों में जैसे २ नियम से-वने वा जो २ वर्त्ताव करना चाहिये वे “खार लवणादि न खावें” इत्यादि प्रकार इसी प्रकरण में कहे हैं । विशेष विचार भाष्य में देखना चाहिये ॥

यह मरण के पश्चात् हुई अशुद्धि कही गयी आगे मृतकविषय में कुछ कहते हैं । मृतकशब्द उत्पत्ति में होने वाली अशुद्धि का वाचक है क्योंकि मृतक शब्द उत्पत्ति अर्थ वाले सूत्रात् से बना है इसी प्रकरण में लिखा है कि “मरणसम्बन्ध की अशुद्धि सब कुटुम्बियों को लगती परन्तु जनने की अशुद्धि केवल माता पिता को ही लगती है । उस में भी माता विशेष कर अशुद्ध रहती है पिता तो जातकर्म किये पश्चात् स्नान करके शुद्ध हो जाता है” नव महिनों का जुड़ा हुआ मेल योनि द्वारा निकलता इस कारण विशेष कर दशदिन माता को ही अशुद्धि कही गयी है, तो भी सूतिका और उस के पास के वस्त्रादि को जो २ स्त्री पुत्रादि छूते हैं

वे भी संग के दोष से किसी प्रकार अशुद्ध होते हैं इसी से सामान्य से उन सब को शुद्धि करनी चाहिये। मृतक अशुद्धि और सूतक में बहुत भेद है। मृतक दशा में विशेष कर अशुद्धि का कारण शोक है परन्तु यहां सूतक में मलीनता और आनन्द दोनों अशुद्धि के कारण हैं। अर्थात् सन्तान की उत्पत्ति का एक बड़ा आनन्द होता है और अधिक आनन्द की प्राप्ति में मनुष्य का चित्त ठीक स्वस्थ और व्यवस्थित नहीं रहता इस से विशेष कार्य ठीक २ नहीं हो सकते। इस कारण अनेक कार्यों का अनध्यायरूप अशुद्धि मानी है। परन्तु जनने की अशुद्धि छोटी है ॥

इस ग्रन्थ में द्रव्यशुद्धि से पहिले शरीर की शुद्धि पर कुछ कहा गया है। द्रव्यों में अनेक प्रकार के सामान्य विशेष वस्तुओं की शुद्धि कही गयी है। परन्तु इस प्रकरण में किसी जाति वा समुदाय विशेष के स्पर्शमात्र से अशुद्धि नहीं दिखायी गयी और किसी के छू लेने से चौका आदि की अशुद्धि भी नहीं कही इस से लोक में प्रचरित ऐसी अशुद्धि धर्मशास्त्र के अनुकूल नहीं है। परन्तु पृथित मनुष्य वा वस्तु के छूने से अशुद्धि अवश्य होती है इसी से चाण्डाल का स्पर्श करना लोक में निषिद्ध है। जिस से मन में ग्लानि और बुद्धि की अप्रसन्नता हो वह अशुद्ध है। घर वस्त्र और शरीरादि की सब को सब समय शुद्धि रखनी चाहिये परन्तु इस शुद्धि से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता लिखा है कि “जो भीतर मन से शुद्ध है वही शुद्ध है किन्तु सट्टी जल से शुद्ध हुआ शुद्ध नहीं” यहां मन शुद्धि की मुख्यता दिखायी है किन्तु सट्टी जल से शुद्धि करने के निषेध में अभिप्राय नहीं। लेन देन आदि सब व्यवहार जिस का छलकपटादि रहित है वा जो किसी का विश्वासघात नहीं करता वह अर्थ नाम धनादि के व्यवहार में शुद्ध कहा जाता है। जल आदि बाहरी शुद्धि के हेतुओं से मन और जीवात्मा की शुद्धि नहीं हो सकती इस कारण उन की शुद्धि के लिये अन्य ही यत्न दिखाया गया है। ज्ञान तप और अग्नि आदि बारह शुद्धि के कारण दिखाये हैं। विशेष विचार भाष्य में देखना चाहिये ॥

अथ पञ्चमाध्यायस्थप्रक्षिप्तपद्यसमीक्षणमारभे ॥

अत्र प्रारम्भे चत्वारि पद्यानि प्रक्षिप्तानि प्रतीयन्ते। तथैव व्यूलरसाहवेनाप्युक्तम्। शिष्यशिक्षकाभ्यामन्येन तृतीयेन केनाप्युक्तमिति स्पष्टमेव प्रतीयते तथा प्रश्नोत्तरे अपि युक्तियुक्तेनैव दृश्येते।

यदा च वेदशास्त्रविदां स्वधर्ममनुतिष्ठतामित्युक्तं प्रश्ने पुनरुत्तरेऽन-
 भ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनादित्येतत्कथनं नैव सम्भवति ।
 ये स्वधर्ममनुतिष्ठन्ति नैव त आचारं वर्जयन्ति ये चाचारं न सेवन्ते
 ते स्वधर्मसेविनोऽपि भवितुं नार्हन्ति । आचारोऽपि सर्वेषां स्वस्यैव
 धर्मोऽस्ति नान्यस्य । ये वेदशास्त्राणि विदन्ति नैव तेषां वेदान-
 भ्यासो वक्तुं शक्यते । इदं च कथनं वदतो व्याघातवत्—आम्नान्
 पृष्टः कोविदारानाचष्टे इतिवद्वा प्रतिभाति । उत्पत्तिधर्मकमनित्य
 मिति नैयायिकसिद्धान्तमाश्रित्य जगत्पुत्रानां प्राणिनां मृत्युरवश्यं
 भविष्यति कोऽस्ति तस्य वारयिता । यद्यल्पमृत्युः कथं भवतीति
 तात्पर्यमस्ति तथाऽक्षराणि न सन्ति । मनुष्याः पूर्णायुषः कथं न
 भवन्तीति प्रश्नो युक्तः स्यात् । तस्योत्तरं तु सर्वमिदं धर्मशास्त्रमेव
 सम्भवति नहि लशुनादयो मांसादयश्च पदार्था अल्पायुषो निमि-
 त्तभूता भवितुमर्हन्ति । नहि लशुनादीनां मांसादीनां वा भक्षका
 एवाल्पायुषो दृश्यन्ते किन्तु तद्दन्त्येऽपि दुराचारिणोऽल्पज्ञाः शरी-
 ररक्षोपायानजानन्तोऽल्पायुषो भवन्ति । तस्मादेतदध्यायस्यादिमा-
 नि चत्वारि पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति । षोडशं चापि पद्यं प्रक्षिप्तं
 प्रतिभाति । यदा च यज्ञे सर्वमांसमात्रं दुष्टं त्याज्यमधर्मजनकं चेति
 प्रमाणैर्युक्त्या च प्रतिपादितम् । पुनः पाठीनरोहितयोर्हव्ये कव्ये च
 नियोगः प्रामादिकः स्वार्थसाधकश्चेति । राजीवानित्याद्युत्तरार्द्धमस्य
 यद्यस्यासम्बद्धमप्यस्ति । नैव तत्स्थपदानां क्वापि सम्बन्धो दृश्य-
 ते । स्याच्चेत्कथमपि सम्बन्धस्तथापि मांसं हव्यं कथमपि न भवि-
 तुमर्हति तस्मात्क्षिप्तम् । अग्र ऊनविंशतिपद्यात्रयोविंशतिपद्यावधि
 पञ्च श्लोकाः प्रक्षिप्ताः । तेष्वध्यास्यस्तु व्यूलरसाहवेनापि क्षिप्ताए-

वेत्युक्तम् । लशुनादीनामभक्ष्यत्वमादावेवोक्तमित्यतः पुनरुक्तत्वात् प्रक्षिप्तमनुमीयते । पद्यद्वये च प्रायश्चित्तमभिहितं तच्च प्रकरणविरुद्धं पुनरुक्तं च । किन्त्वेकादशेऽध्यायेऽभक्ष्यभक्षणस्य सामान्येन विशेषतया च प्रायश्चित्तानि दर्शितान्येव तत्रैव च तस्य प्रकरणमस्ति । द्वाविंशत्रयोविंशं सप्तविंशं च पद्यं यज्ञे पशुवधार्थमित्यतः क्षिप्तं प्रतिभाति । यज्ञे मांसभक्षणं महदुष्कमेति पूर्वमेव प्रमाणैर्युक्त्या चोपपादितम् । अग्रे त्रिंशत्तमपद्यादारभ्यद्वाचत्वारिंशत्तमपद्यावधि त्रयोदश श्लोकाः प्रक्षिप्ताः प्रतिभान्ति । परमेश्वरेण भक्ष्या भक्षकाश्च प्राणिनः सृष्टा इत्यतः कारणाद्यदि दोषो नास्ति तर्हि पापं पुण्यं च सर्वमीश्वरेण सृष्टं पुनः पापाचरणे क्वापि दोषेण न भाव्यम् । एवं सति सर्वाणि धर्मशास्त्रस्थादीनि कर्तव्याऽकर्तव्योपदेशकानि विधिनिषेधपराणि वाक्यान्यनर्थकानि स्युस्तस्मात्प्रामादिकमेतत् ॥

अग्रे मांसस्य यज्ञार्था प्रवृत्तिर्दर्शिता तस्याश्च दुष्टत्वं दर्शितमेव । विशेषश्च भाष्ये द्रष्टव्यः । अतोऽग्रे षट्पञ्चाशत्तमं पद्यं क्षिप्तं प्रतिभाति । अत्र केचिद्ददन्ति सामान्येनायं सिद्धानुवादो न तु मांसादिभक्षणस्य विधायकं वाक्यम् । इदं च धर्मशास्त्रं द्विजातिधर्म्यकर्म प्रतिपादनार्थम् । अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुरिति वचनमनुसृत्य हिंसा मनुष्यमात्रेण न कार्या सत्यां च हिंसायां मांसमुत्पद्यते । तथासति मांसभक्षणं मनुष्यमात्रेण नैव कार्यम् । सुरा द्विजातिभिर्न पातव्येत्येकादशे निषिद्धिः । मैथुनं विवाहविधाने तृतीयेऽध्याये उक्तम् । अवशिष्टशूद्रपशवादीनां स्वभावद्योतकं पद्यमिदं तेषामपि निवृत्तिरेभ्यो महाफलेति । इदं समाधानं कस्मिंश्चिदंशे सम्भवति न सर्वथा । ये ये दोषा

अत्रायान्ति नैव तेषां सर्वेषां समाधानमुक्तप्रकारकप्रयासेनापि सम्भवति । यद्यपि सिंहव्याघ्रादीनां मांसभक्षणं स्वाभाविकं कर्मास्ति तथापि मद्यगानं पश्यादीनां कर्म नास्ति । शूद्रादीनामपि स्वाभाविकं न दृश्यते । यथाचान्नस्य भक्षणं सर्वदा प्राणिमात्रेण क्रियते । केनाप्याहारेण विना मनुष्यस्य प्राणयात्रा न सम्भवति । अतएवाहारः स्वाभाविको नतु मद्येन कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति । न च सर्वे प्रायशो वा मद्यगानं कुर्वन्ति । ये च पिबन्ति तेषामपि मद्यपाननिषेधेन धर्मशास्त्रकारैरुद्धारः कार्यः । ये च स्वयमेव प्राकृतिकरागेण मांसमद्यमैथुनेषु प्रवृत्तास्तेषां न मांसभक्षणे दोष इत्यादि कथनं मांसादिभक्षणस्य प्रवृत्तिवर्द्धनेन नाशाय भवति । तत्र तु मांसभक्षणे महान् दोषः केनापि कदापि मांसं न भक्ष्यं मद्यं न पेयम् । निषिद्धमैथुनं च त्याज्यमित्यादिप्रकारेण कथनमेवोपकारकम् । अतः प्रक्षिप्तमेतत् केचित्सर्वज्ञनारायणादयो भाष्यकारा दोषशब्दात्पूर्वं लुप्ताकारं प्रश्लेषयन्ति—तथा च मांसभक्षणे—अदोषो न किन्तु दोष एव । एवं मद्यादिष्वपि । क्लृष्टकल्पनमेकदेशिकथनमिदम् । एवं सति निवृत्तिस्तु महाफलेति कथनमपि न सङ्गच्छते । यस्मिन्क्रियमाणे दोषस्तस्मिन् त्यक्ते पुण्यफलमित्यर्थादेवापन्नं भवति । केचिद्दिहितानां मांसमद्यमैथुनानां दोषाभावं प्रतिपादयन्ति यथा—ऋतौ भार्यामुपेयादिति मैथुनाय विधिवाक्यमस्ति नैवं वेदादिषु मांसमद्ययोर्विधानमस्ति । सौत्रामण्यां सुरां पिबेदिति विध्याभासो नायं विधिः । यथाऽऽपत्काले क्वापि कदाचिन्मांसभक्षणं प्राणरक्षार्थमपेक्ष्यते । नैवमापत्काले मद्येन प्राणरक्षा कर्तुं शक्यते । अतो मद्यमांसयोर्यदा विधानमेव नास्ति पुनस्तत्र दोषाभावकथनमपि नैव सङ्गच्छते । यदि

मांसादीनां विधानमपि स्यात्तदा तस्य विधानमात्रेणैव दोषाभावः
सिध्यति पुनरेतत्कथनं पुनरुक्तत्वात्प्रक्षिप्तमेवेत्यलमनल्पजल्पनात् ॥

अग्रे षण्णवतिसप्तनवतिपद्यद्वयं च प्रक्षिप्तम् । नायमर्थवादः
साधुरपितु प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणमिति चतुर्णव-
तिपद्ये सम्भवितोऽर्थवाद उक्त एव । चन्द्राग्न्याद्यंशैः सर्वप्राणिनां
शरीराणि निर्मितानि भवन्ति तस्मात्कारणाद्यद्याशौचनिषेधो राज्ञः
स्यात्तदा सर्वेषां भवितुमर्हति । अतः प्रक्षिप्तं पद्यद्वयमिदम् । अग्रे
पञ्चविंशं शतं पद्यं प्रक्षिप्तं प्रतिभाति । यदि द्रवं सूषशाकपायस-
श्राणादिकं वस्तु पक्ष्यादिभिः किमपि जग्धं तदा तु तस्मिन् मृत्प्रक्षे-
पेण पूर्वापेक्षयाप्यधिकमभक्ष्यत्वं भविष्यति नहि मृदामिश्रितं वस्तु
कश्चिद्भोक्तुमुत्सहते । यदि शुष्कस्य कस्यापि वस्तुनोऽंशः पक्ष्यादिभि-
र्दुषितस्तदा दूषितांशमेव पृथक् कृत्वा शुद्धं भवितुमर्हति न तु मृत्प्र-
क्षेपेणेति । नैव कश्चिन्मृत्प्रक्षेपमात्रेणोक्तदोषस्य शोधनं श्रद्धातुमर्हति
तस्मात्प्रक्षिप्तमेतदिति । अग्रे एकत्रिंशं शतमपि पद्यं प्रक्षिप्तं श्वामृ-
गग्रहणे शुचिरित्यनेन ततः पूर्वपद्यस्थवाक्येनोपलक्षकेनोक्तत्वात् पु-
नरुक्तमेतत् । मनुरब्रवीदित्येतत्कथनं मनुवाक्ये संदेहं कारयति ।
यदा च सर्वमेव मनूक्तम्—तदैतस्य कथने नैव कचिद्विशिष्टा प्रति-
पत्तिरस्ति । अग्रे सप्तत्रिंशं शतमपि पद्यं प्रक्षिप्तमस्ति । गृहस्थ आधि-
क्येनाशुद्धो भवति नैव तथा ब्रह्मचारिवनस्थयतयोऽशुद्धा भवन्ति ।
अतस्तेषां गृहस्थादपि न्यूनाऽशुद्धिरुचिताऽस्ति । मलमूत्रादौ च या-
दृशो गन्धो मालिन्यं च गृहस्थस्यास्ति तादृशमेवान्येषामपि पुनर्ना-
स्ति कारणमन्येषामधिकशौचस्य तस्मात् प्रमादकृतमन्येन प्रक्षिप्त-

मिदं पद्यम् । इत्थमस्मिन्नध्याये एकोनषष्ठ्युत्तरशतपद्येषु त्रिंशत्पद्यानि
प्रक्षिप्तानि शिष्टान्येकोनचत्वारिंशदधिकशतानि च शुद्धानि ॥

भाषार्थः—अब पांचवें अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार किया जाता है ।
यहां प्रारम्भ में चार श्लोक प्रक्षिप्त हैं और व्यूलर साहब ने भी पञ्चमाध्याय के
प्रारम्भ में पहिले चार श्लोक प्रक्षिप्त माने हैं । इस पुस्तक के बनने में भृगु उपदे-
शक और मरीच्यादि ऋषि श्रोता हैं तो ये चार श्लोक उन दोनों शिष्य शिक्षकों
की ओर से नहीं बन सकते । क्योंकि उनमें लिखा है कि “उक्त प्रकार मरीच्यादि
ऋषियों ने भृगु से स्नातक के धर्मों को सुन कर महात्मा भृगु से यह प्रश्न किया
और भृगु ने उन ऋषियों को ऐसा उत्तर दिया” इत्यादि कथन अन्य किसी की
ओर से स्पष्ट प्रतीत होता है । तथा प्रश्नोत्तर भी युक्तिपूर्वक ठीक नहीं हैं ।
जब पूछा गया कि वेद शास्त्र के जानने और अपने धर्म का सेवन करने वाले
ब्राह्मणों का मृत्यु कैसे होता है ? तो क्या यह उत्तर ठीक होगा ? कि वेदों
का अभ्यास न करने और अच्छे आचरण के छोड़ देने तथा आलस्य और
अभक्ष्यभक्षण से ब्राह्मणों का मृत्यु मार डालना चाहता है । जब पूछने वाला
तो कहता है कि विद्वानों का मृत्यु कैसे होता है तो उत्तर देने वाला कहे कि
विद्या का अभ्यास न करने से ज्ञानियों का मृत्यु होता है । यहां विचार का
स्थल है कि जब वे विद्वान् और धर्मात्मा हैं तो वेद का अभ्यास और अच्छे
आचरण तो अवश्य होंगे और न होंगे तो वे विद्वान् और धर्मात्मा नहीं हो सक-
ते । क्योंकि श्रेष्ठ आचरण भी मुख्य कर धर्म का लक्षण है । इस कारण ये प्रश्नो-
त्तर अपने कहे को आप ही काटने वा कुछ पूछने पर कुछ उत्तर देने के तुल्य
हैं । तथा एक बात यह भी विचारने योग्य है कि जो २ प्राणी संसार में उत्पन्न
हुए हैं वे मरेंगे भी, जिस का जन्म है उस का मरण भी अवश्य होगा क्योंकि
उत्पन्न होने वाले सभी घटपटादि पदार्थ भी अनित्य हैं यह न्याय का सिद्धान्त
है इस के अनुसार जब विद्वान् अविद्वान् धनी निर्धनी सब का मरण अवश्य है
तो प्रश्नोत्तर कैसे ठीक हो सकते हैं ? यदि कोई कहे कि अल्पमृत्यु क्यों होता
है ? यह पूछने का अभिप्राय है तो प्रश्नोत्तरसम्बन्धी वाक्यों में वैसे शब्द वा अक्षर
नहीं पढ़े गये जिन से वह आशय निकलता । मनुष्यों की पूर्ण अवस्था क्यों नहीं
होती बीच में क्यों मर जाते हैं ? ऐसा प्रश्न ठीक होता परन्तु उस का उत्तर

केवल भक्ष्याभक्ष्य का विचारमात्र नहीं हो सकता किन्तु ऐसे प्रश्न का उत्तररूप ही यह सब धर्मशास्त्र है। लहसुनादि और मांसादि पदार्थ ही न्यून अवस्था होने के कारण नहीं हैं क्योंकि उन के खाने वाले थोड़ी अवस्था में सर जावें ऐसा नियम नहीं दीखता लशुनमांसादि में जो २ दोष हैं वे अन्य ही हैं। जैसे लशुनमांसादि के खाने वाले सरते हैं वैसे अन्य भी दुराचारी अल्पज्ञ और शरीर की रक्षा के उपायों को नहीं जानने वाले थोड़ी अवस्था में सरते हैं। इस कारण इस अध्याय के आरम्भ में चार श्लोक प्रक्षिप्त हैं ॥

सोलहवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। जब यज्ञ में अधर्म का हेतु होने से सब मांस मात्र दुष्ट वा त्याज्य है यह बात प्रमाणों और युक्ति से सिद्ध हो चुकी फिर पा-ठीन और रोहूनामक सन्धियों का यज्ञ और आहु में लेने का उपदेश प्रामादिक तथा स्वार्थी लोगों का घुमेड़ा है। राजीवादि सन्धियों को इत्यादि इस श्लोक का उत्तरार्द्ध असम्बद्ध भी है क्योंकि उस के पदों का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं दीखता यदि किसी प्रकार सम्बन्ध लग भी जावे कि राजीवादि को खाना चाहिये तो भी जब मांस, होमने योग्य वस्तु किसी प्रकार नहीं ठहर सकता और यज्ञ के वहाने बिना खाना बनेगा नहीं इस लिये वह पूर्वोक्त इस अध्याय का सोलहवां श्लोक प्रक्षिप्त है ॥

आगे उन्नीशवें श्लोक से तेर्हशवें श्लोकपर्यन्त पांच श्लोक प्रक्षिप्त हैं। उन में से पहिले तीन को व्यूलर साहब ने भी प्रक्षिप्त माना है। पहिले में लहसुन आदि को पुनर्বার अभक्ष्य कहा है सो छठे श्लोक में कह चुकने से पुनरुक्त हो गया इस से प्रक्षिप्त है। अगले दो पद्यों में प्रायश्चित्त कहा है सो प्रकरण से विरुद्ध और पुनरुक्त है किन्तु ग्यारहवें अध्याय में प्रायश्चित्त का प्रकरण है वहां अभक्ष्यभक्षण का सामान्य विशेष प्रायश्चित्त कहा है फिर यहां प्रायश्चित्त कहना पुनरुक्त है। आगे वाईश तेर्हश और सत्ताईशवां श्लोक यज्ञ में पशु मारने के लिये होने से प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। यज्ञ के वहाने से मांसभक्षण करना बहुत बुरा काम है यह पहिले प्रमाण और युक्तियों से सिद्ध कर चुके हैं। आगे तीशवें श्लोक से ब-यालीशवें श्लोकपर्यन्त तेरह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। परमेश्वर ने भक्ष्य और भक्षक दोनों प्रकार के प्राणी बनाये हैं इस कारण यदि मांस खाने में दोष नहीं तो पाप पुण्य भी सब ईश्वर ने रचा है फिर पाप करने में दोष भी नहीं मानना चाहिये। यदि ऐसा हो कि पाप करने में भी दोष नहीं तो कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

का जिन में उपदेश है ऐसे विधিনিषेधपरक धर्मशास्त्रों के सब वाक्य व्यर्थ हो जावेंगे इस लिये वह श्लोक प्रामादिक होने से प्रसिद्ध है ॥

आगे इकतीशवें श्लोक से ले के यज्ञ के लिये मांस की प्रवृत्ति दिखायी है। उस की बुराई लिख ही चुके हैं विशेष भाष्य में देखना चाहिये। इस से आगे छप्पनवां श्लोक प्रसिद्ध प्रतीत होता है इस पर किन्हीं लोगों का कथन है कि “सामान्य कर यह सिद्धानुवाद दिखाया गया है किन्तु मांस खाने की आज्ञा देने के लिये यह (न मांसभक्षणे दोषो) श्लोक नहीं है। और यह धर्मशास्त्र ब्राह्मणादि द्विजों के धर्मयुक्त कर्मों का प्रतिपादन करने के लिये है। “अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, पवित्रता और इन्द्रियों को वश में करना यह संक्षेप से चारों वर्णों को सेवने योग्य सामान्य धर्म मनु जी ने विशेष कर कहा है” इस प्रमाण के अनुसार मनुष्यमात्र को हिंसा नहीं करनी चाहिये। और हिंसा किये बिना मांस उत्पन्न होता नहीं ऐसा होने पर मनुष्यमात्र को मांसभक्षण नहीं करना चाहिये। द्विजों को मद्य नहीं पीना चाहिये इस प्रकार ग्यारहवें अध्याय में निषेध किया है। और विवाहविचारप्रकरण के साथ तृतीयाध्याय में अयुक्त वा निकृष्ट नीच के साथ मैथुन का निषेध ब्राह्मणादि के लिये किया है। अब शेष रहे शूद्र और पश्यादि उन का स्वभाव जताने के लिये यह श्लोक है कि सिंहादि वा विल्ली आदि का स्वभाव मांस खाने का है उन के लिये कोई दोष नहीं दिखाया गया। नीच अन्त्यज शूद्रादि का स्वभाव है कि वे मद्य पीते हैं और मैथुन भी सब में स्वाभाविक है परन्तु उन मांसभक्षणादि कर्मों से बचना वा निवृत्त होना उन शूद्रादि के लिये भी विशेष फलदायक है” इस प्रकार कोई लोग इस का समाधान करते हैं तो यह समाधान किसी अंश में सम्भव है सर्वथा नहीं क्योंकि इस विषय में जो २ दोष आते हैं उन सब का समाधान उक्त प्रकार परिश्रम करने से भी नहीं हो सकता। यद्यपि सिंहव्याघ्रादि का मांस खाना स्वाभाविक काम है। तो भी पश्यादि का काम मद्य पीना नहीं है और शूद्रादि का भी स्वाभाविक काम मद्यपीना नहीं दीखता। जैसे प्राणीमात्र अन्न का भोजन सदा करते हैं। किसी प्रकार का आहार किये बिना मनुष्यादि के प्राणों की रक्षा कदापि नहीं हो सकती इसी कारण आहार स्वाभाविक है परन्तु मद्य से किसी के प्राण की रक्षा बिना अन्य आहार के नहीं हो सकती तथा जैसे प्रायः सब मनुष्य अन्न खाते वैसे मद्य पीने वाले प्रायः सब प्राणी नहीं हैं और जो लोग मद्य पीते भी

हैं उन का भी मद्यपान का निषेध करके धर्मशास्त्रकारों को उद्धार करना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी २ उन्नति और सुख के साधन चाहता है तो धर्मशास्त्र का काम होगा कि वह सब को कल्याण का मार्ग बतावे और जिस में किसी समुदाय के लिये दुःख का मार्ग बतलाया जावे उस को विचारवान् विद्वान् लोग कदापि धर्मशास्त्र नहीं कह सकते। इस से सिद्ध हुआ कि मद्यपानादि सब के लिये बुरा काम है इसी कारण यह श्लोक धर्मशास्त्र की योग्यता से बाहर होने से प्रक्षिप्त है। जो लोग आप ही स्वाभाविक प्रीति से मांस मद्य और मैथुन के सेवन में प्रवृत्त हैं जिस से उनकी मानस वाचिक और कायिक उन्नति में बड़ी बाधा पड़ चुकी वा पड़ रही है उन के लिये ऐसा उपदेश सुना देना कि [“न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने” मांस मद्य और मैथुन के सेवन में दोष नहीं] विशेष कर गढ़े में गिराने वाला होगा। अर्थात् उन को ऐसा आश्रय मिल जाने से मांसमद्यादि को और भी अधिक सेवेंगे जिस से उन का बहुत शीघ्र नाश होगा। इस लिये धर्मशास्त्रों में उन के कल्याणार्थ ऐसे वचन हों कि मांसभक्षण वा मद्यपान करने में बड़ा दोष है किसी को नहीं करना चाहिये। इत्यादि प्रकार कहना उन के लिये कुछ उपकारी होगा। इस से यह (न मांसभक्षणे दोषो) श्लोक अवश्य निस्सन्देह प्रक्षिप्त है ॥

इस श्लोक में कोई २ सर्वज्ञनारायणादि भाष्यकार दोषशब्द से पूर्व लुप्त अकार की सन्धि मानते हैं कि मांसभक्षण में अदोष नहीं किन्तु अवश्य दोष है इसी प्रकार मद्यमैथुनादि में भी जानो सो यह उन लोगों की क्षिप्तकल्पना और एकदेशी कथन है अर्थात् यह बात सर्वसम्मत नहीं। तथा यह एक प्रकार का थाकटल है। यद्यपि जो लोग मांसमद्यादि के सेवन करने की इच्छा से इस श्लोक को प्रमाणरूप ढाल बनाना चाहते हैं उन को उत्तर देने के लिये ऐसा अर्थ कर लेना उपयोगी है क्योंकि वे लोग इस को प्रक्षिप्त कदापि न मानेंगे परन्तु यह धर्मात्माओं की शैली से प्रतिकूल है। और मांसभक्षण में अदोष नहीं किन्तु दोष ही है ऐसा अर्थ करने पर अर्थापत्ति से सिद्ध हो गया कि मांसादि के छोड़ देने में अवश्य पुण्य है क्योंकि जिस के करने में दोष माना जाता है उस के त्याग में पुण्य फल होता ही है। इस कारण इस प्रकार की सन्धि निकालनेरूप पक्ष में निवृत्ति से महाफल दिखाना भी व्यर्थ है। किन्हीं २ मेधातिथि आदि भाष्यकारों की सम्मति है कि जिन २ मांसभक्षणादि का विधान है कि यज्ञ में मांसखाना,

सौत्रामणी यज्ञ में मद्यपीना और ऋतुकाल में अपनी स्त्री से गमन करना चाहिये। ऐसे मांस, मद्य और मैथुन के सेवन में दोष नहीं परन्तु उस से भी बच सके तो बहुत उत्तम है"। सो यह भी उन लोगों का विचार ठीक नहीं क्योंकि वेदादि अष्ट पुस्तकों में मांस मद्य का विधान नहीं है। सौत्रामणी यज्ञ में मद्य पीने का विधान प्रामादिक है। जैसे आपत्काल में कहीं कभी प्राणरक्षा के लिये मांसभक्षण की अपेक्षा रखी है वैसे आपत्काल में भी मद्य से प्राण की रक्षा नहीं हो सकती। इस कारण मद्यमांस का विधान ही जब नहीं है फिर उस में दोष का निषेध करना भी असङ्गत है। यदि मांसादि का विधान भी होता तो उस के विधानमात्र से ही दोष न होना सिद्ध हो जाता है क्योंकि निर्दोष को ही कर्तव्य कह सकते हैं। फिर पुनरुक्त होने से यह श्लोक (न मांसः) प्रक्षिप्त है ॥

आगे छरानवे सत्तानवे दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकों में कहा अर्थवाद ठीक नहीं है किन्तु प्रजा का विवाद मेट वा निर्णय (फैसला) कर रक्षा करने के लिये राजा को नित्य न्यायासन (राजगद्दी) पर बैठना चाहिये इस कारण उस को अशुद्धि नहीं लगती यह चौरानवे श्लोक में कहा अर्थवाद ठीक है। और चन्द्रमा अग्नि आदि के अंशों से तो सब प्राणियों के शरीर बनते ही हैं इस कारण से यदि राजा को अशुद्धि का निषेध हो तो सब को अशुद्धि न माननी चाहिये। इस कारण उक्त दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। आगे एक सौ पच्चीशवां श्लोक प्रक्षिप्त है। यदि गीले दाल शाक खीर वा शीरादि में से कुछ भाग पक्षी, मक्खी, बाल वा कीड़ा आदि से दूषित हो तो उस दाल आदि में थोड़ी मट्टी डाल देने से उस की शुद्धि नहीं हो सकती किन्तु पहिले की अपेक्षा और भी बिगड़ जायगा। क्योंकि मट्टी मिली हुई दाल आदि को कोई नहीं खा सकता। यदि किसी सूखे वस्तु को पखेरू आदि ने झूटा कर डाला हो तो बिगड़े हुए भाग को निकाल देने से शुद्धि हो सकती है किन्तु मट्टी डाल देने से वह भी शुद्ध न होगा। और मट्टी डाल देने मात्र से ऐसे दोष की कोई शुद्धि नहीं मान सकता। आगे एकसौ इक्कीशवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है क्योंकि उस से पूर्व श्लोक में लिखा है कि किसी मृग के पकड़ने में कुत्ता का मुख शुद्ध है। यह उपलक्षणमात्र माना जावे कि कुत्ता आदि अशुद्ध प्राणियों का मुख भी शिकार पकड़ने में शुद्ध है इस से सामान्य कर अन्य भी आ सकते हैं फिर पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है। यह मनु ने कहा ऐसी आड़ लेना मनु के वाक्य होने में सन्देह कराता है। जब सभी पुस्तक मनु

का कहा है तब इस कथन में कुछ विशेषता की सिद्धि नहीं है। अर्थात् जहां धर्मसम्बन्धी कोई विशेष लक्षण होगा वहां मनु का नाम उस के साथ बल देने के लिये उपयोगी होगा कि इस को विशेष बल के साथ मनु का कथन जानो। परन्तु यहां यह बात नहीं। किन्तु शिकार में कुत्ते का मुख शुद्ध कहने से यह न समझना कि यहां शिकार और मांस खाने की आज्ञा दी जाती हो किन्तु यहां एक प्रकार का सिद्धानुवाद है कि जो लोग मांस खाने में प्रवृत्त हैं वे कुत्ते आदि मृगयाकारी (शिकारी) अशुद्ध के पकड़े जन्तुओं को भी अशुद्ध नहीं मानते। और यह तो सिद्ध कर दिया है कि जीवों का मारना और मांस खाना पाप का हेतु है। आगे एकसौ सैंतीशवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। क्योंकि अन्य आश्रमियों की अपेक्षा स्त्री के साथ में सम्बन्ध होने से गृहस्थ अधिक अशुद्ध होता है वैसे ब्रह्मचारी आदि अशुद्ध नहीं होते इस कारण गृहस्थ से भी ब्रह्मचारी आदि को अधिक अशुद्धि दिखानी चाहिये। परन्तु यह विपरीत लिखना अनुचित है कि गृहस्थ से द्विगुण ब्रह्मचारी को उस से दूनी वानप्रस्थ को और वानप्रस्थ से दूनी संन्यासी को शुद्धी करनी चाहिये। तथा सब के मलमूत्रादि में गन्ध और मलीनता एकसी होगी। इस लिये कोई उचित कारण ऐसा नहीं मिलता जिस से ब्रह्मचर्यादि आश्रमस्थों को अधिक २ अशुद्धि कही जावे। इस कारण किसी ने प्रमाद से यह श्लोक मिलाया जान पड़ता है। इस प्रकार इस पांचवें अध्याय के एकसौ उनहत्तर १६९ श्लोकों में से तीस श्लोक प्रक्षिप्त हैं शेष रहे एकसौ उनतालीश १३९ श्लोक अच्छे निर्विवाद माननीय हैं ॥

अथ वानप्रस्थसंन्यासविचारः ॥

मनुष्यआदौ यथाविधि ब्रह्मचर्याश्रमे वेदादिशास्त्रशिक्षासम्पन्नो भूत्वा धर्मतो गृहाश्रमे पुत्रानुत्पाद्य तान्समर्थान् कृत्वा पञ्चाशद्-
र्षादूर्ध्वं गृहान्निस्सृत्य वने वसेत्। वनवासोऽत्रोपलक्षणमात्रं तेनै-
कान्तवासोऽपेक्ष्यते स एवं भूतेऽवकाशे निवसेद्यत्र वासेन चेतसोऽ-
न्तःकरणस्य परमैकाग्र्यं समाधानं च संजायेत तच्च जगदुपकाराय
स्वस्थ परमार्थसाधनाय वापरमं साधनमस्ति न ह्येकान्तवासमन्तरेण

तादृशं समाधनं सर्वैः कर्तुं शक्यते । यदि केनचिदधिकारिणा पुरुषविशेषेण गृहे सतैव तपस्तप्तुं शक्यते तदर्थं च गृहान्निस्सृत्य वनवासो नैवात्र विधीयते यतोऽस्मिन्नेवाध्याय-उक्तम्-

वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ।

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।

नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥

इत्यादि प्रकारेण ये गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहं तपस्तप्तुं शक्नुवन्ति तैः पञ्चाशद्दर्षादूर्ध्वं स्वस्त्रिया साकमपि कामासक्तिं सर्वथा विहाय गृहे सद्भिरेव वानप्रस्थाश्रमकृत्यं सेव्यम् । तपःसेवनाय च वानप्रस्थाश्रमोऽस्ति । तथा च व्यासेन योगभाष्यस्य समाधिपादारम्भ एव तपःसेवनस्य परमावश्यकत्वं प्रदर्शितम्—“नातपस्विनो योगः सिध्यति-अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते इति तपस उपादानम्—तच्चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति ।” यथा वस्त्रादिष्ववस्थितः स्थूलो मलः सरलोपायेन पूर्वं निर्धूयते । सूक्ष्मस्य बहुकालात्सञ्चितस्य दृढतया स्वाधारेऽवस्थितस्य विशिष्टप्रयत्नादिना निवृत्तिः कर्तुमशक्येति कृत्वा तपोरूपविशिष्टोपायसेवनाय तृतीयाश्रमः सर्वैः स्वकल्याणकाङ्क्षिभिर्जनैरवश्यं सेवनीय इति गृहाश्रमानन्तरं वानप्रस्थाश्रमकरणस्य तात्पर्यमस्ति ॥

संन्यासाश्रमस्तु जीवन्मुक्तिदशाधारणाय केवलपरमात्माश्रयेणैवैकाकिना भ्रमणाय मुक्तिद्वाराश्रयाय च सर्वैरन्यावस्थायां सेवनीयः । तत्र पूर्वाश्रमत्रयं संसेव्यैव संन्यस्तेन भाव्यमिति सामान्यतया प्रधानः पक्षः । अतएवोत्सर्गरूपतयोक्तम्—

अधीत्य विधिवद्देदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

अस्यापवादा अन्ये यथा—यदहरेव प्रव्रजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा ब्रह्मचर्यादेवेति केचित् । अस्यायमाशयः—पूर्णे परिपक्वे च सांसारिकसुखाज्जायमाने वैराग्ये पूर्णविद्येन भुक्तदृष्टसुखेन तत्र दृष्ट-
दोषेण विदुषा संन्यास आश्रमः कार्यः । इत्थं करणमाश्रमत्रयसेव-
नानन्तरमेव सम्भवति । यत्राविद्ब्रह्मैर्वैराग्याभासाविष्टैः क्षुद्रैर्जनैः
संन्यासाश्रमो प्रियते तस्य देशस्य तेषां च सदाधोगतिरेव जायते ।
अतएवायमपि सिद्धान्तः साधुरेवास्ति यद्ब्राह्मणेनैव संन्यासो धार-
णीयो विद्यापारगश्च ब्राह्मणो भवति । यदि क्षत्रियादिः संन्यासयो-
ग्यो भवेत्तदा सोऽपि स्वगुणकर्मभिर्ब्राह्मणो भूत्वैव तत्कर्तुमर्हति ना-
न्यथेति शम् । अस्मिन्नध्याये प्रक्षिप्तं किमपि पद्यं नास्ति ॥

भाषार्थः—अब वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का संक्षेप से विचार किया जाता है—मनुष्य पहिली अवस्था में वेदादि शास्त्रों में लिखे अनुसार ब्रह्मच-
र्याश्रम की धारण करके वेदादि शास्त्रों की शिक्षा को प्राप्त करके गृहाश्रम में विवाह कर धर्मपूर्वक पुत्रों को उत्पन्न और उन को समर्थ करके पचाश वर्ष की अवस्था से ऊपर गृह से निकल कर बन में वसे । बन में वसना यहां उपलक्षण-
मात्र है । अर्थात् घर से बाहर कहीं एकान्त में जहां वसने से मन की अत्यन्त स्थिरता और अन्तःकरण के सब सन्देहों की निवृत्ति हो । इस प्रकार मन की शुद्धि होना ही जगत् के उपकार और अपने परमकल्याण मुक्ति आदि को प्राप्त होने के लिये सर्वोपरि उपाय है । एकान्त में वसने के बिना चित्त का वैसा स-
माधान संभव कोई नहीं कर सकते । यदि कोई विशेष अधिकारी बिरला मनुष्य घर में रहता हुआ ही तप कर सकता हो तो उसके लिये घर से निकल कर बन में वसने का यहां बिधान नहीं है । क्योंकि इसी ठोठे अध्याय में लिखा है कि “यहां तक सामान्य कर संन्यासियों का धर्म कहा अब आगे विशेष वेदसंन्या-
सियों का धर्म कहते हैं । सब कर्म और उन के फलभोग की उत्कण्ठा को छोड़

कर कर्म के दोषों को छोड़ता हुआ नियमपूर्वक वेद का अभ्यास कर के पुत्र और ऐश्वर्य के साथ ही मरणपर्यन्त निवास करे। यहां राजा जनकादि का उदाहरण जो शतपथादि में लिखा है वही विशेष दृष्टान्त है। अर्थात् पूर्वकाल में ऐसे बहुत ऋषि महर्षि हो गये जो घर में रहते हुए ही वैसे काम कर सकते थे। इत्यादि प्रकारसे जो घर में रहते हुए ही गृहाश्रम की सफलता हुए पीछे पांचो इन्द्रियों को वश में करनारूप तप कर सकते हैं उनको पचाश वर्ष की अवस्था के पश्चात् अपनी स्त्री के साथ भी कामासक्ति को सर्वथा छोड़ कर घर में रहते ही वानप्रस्थाश्रम का काम-तप करना चाहिये क्योंकि तप करने के लिये वानप्रस्थाश्रम है। सो व्यास जी ने योगभाष्य के समाधि पाद के आरम्भ में ही तप करने की अत्यन्त आवश्यकता दिखायी है “तप किये बिना योगसिद्धि नहीं हो सकती और योगाभ्यास किये बिना मनुष्य का कल्याण भी नहीं होता क्योंकि अनादि काल से किये शुभाशुभ कर्म और अविद्यादि क्लेशों की वासनारूप र-स्सियों से जकड़ी चित्रविचित्रविषयक जाल जिस में प्रगट है ऐसी अन्तःकरण की अशुद्धि बिना तप किये नष्ट नहीं हो सकती इस कारण अपना कल्याण चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य को सावधानी से तप करना चाहिये। परन्तु ऐसा भी तप न करे कि जिस से शरीर को विशेष कष्ट हो कर असाध्य रोगादि में अस्त हो जावे किन्तु जिस से चित्त प्रसन्न हो ऐसा तप करे” जैसे वस्त्रादि में अवस्थित थोड़ा स्थूल मल पहिले साधारण धोने आदि उपाय से छूट जाता है। और बहुत काल से जुड़े उस वस्त्रादि के रोम २ में व्याप्त दृढ़ता से ठहरे हुए मल की निवृत्ति बहुत बड़े उपाय से कर सकते हैं ऐसा विचार कर तपरूप विशेष उपाय से अज्ञान को हटाने के लिये तीसरा वानप्रस्थ आश्रम अपना कल्याण चाहने वाले सब मनुष्यों को अवश्य सेवने योग्य है। यह वानप्रस्थाश्रम करने का अभिप्राय है। प्रयोजन यह है कि इस वानप्रस्थाश्रम में बहुत काल के जमे हुए अन्तःकरण के मल को छुड़ाने का उपाय बताया गया है कि ऐसा २ सेवन करना चाहिये “प्राणायामों से दोषों को जलावे, धारणाओं से मन के पाप को, प्रत्याहार से मन की फसावट मिटावे और ध्यान करके ईश्वर में विश्वास न होने रूप अन्तःकरण के दोष को दूर करे। जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं के मल छूट कर निर्मल निकल आते हैं ऐसे ही प्राणायामादि रूप योगाभ्यास तप से इन्द्रियों और अन्तःकरण को निर्मल कर कल्याण प्राप्ति का उपाय

वानस्थ आश्रम में करे । ” घर के अनेक फन्दों को छोड़ कर वन को प्रस्थान जिस दशा में किया जावे उस को वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं इस का विशेष विचार भाष्य में देखना चाहिये ॥

और संन्यासाश्रम तो केवल एक परमेश्वर के आश्रय को ले कर सब की सहायता छोड़ कर भ्रमण करने तथा जीवन्मुक्तिदशा को धारण कर मुक्ति के द्वार पर पग धरने के लिये सब वृद्धावस्था में सेवना चाहिये । सो पहिले ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों का सेवन करके ही संन्यासी होना चाहिये यह सामान्य कर उत्सर्गरूप प्रधान पक्ष है । इसी कारण इस छठे अध्याय में उत्सर्गरूप से कहा है कि “पहिले ब्रह्मचर्याश्रम में विधिपूर्वक वेद पढ़ के द्वितीय गृहाश्रम में धर्म से पुत्रों को उत्पन्न कर तथा वानप्रस्थाश्रम में यज्ञादि तप करके मोक्ष अर्थात् संन्यास में मन लगावे” अन्य वाक्य इस के अपवाद हैं कि जिस दिन विरक्तता आ जावे उसी दिन घर वा वन से तथा किन्हीं की सम्मति है कि ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यासी हो जावे । इस का आशय यह है कि संसारी सुखभोग से पूर्ण और परिपक्व दृढ़ वैराग्य होने पर संसारी सुखभोग में जिस ने अनेक दोष देखे अथवा लौकिक सब सुख जिस ने भोग लिये ऐसे पूर्ण विद्यायुक्त विद्वान् को संन्यास आश्रम धारण करना चाहिये । ऐसा होना तीनों आश्रम का सेवन किये पश्चात् संन्यास धारण करने पर सम्भव है । जिस देश में नाममात्र के वैराग्य में फस कर भूर्ख अविद्वान् लोग संन्यासाश्रम धारण करते हैं उस देश और उन मनुष्यों की सदा अधोगति ही होती है । इसी कारण यह भी सिद्धान्त ठीक ही है कि ब्राह्मण को ही संन्यास धारण करना चाहिये क्योंकि पूर्ण विद्वान् हुए बिना वैराग्य ठीक नहीं हो सकता और ब्राह्मण ही पूर्ण विद्यावान् हो सकता है यदि कोई क्षत्रियादि तप करके पूर्ण विद्वान् होने से संन्यास धारण करने योग्य हो तो वह गुण कसों से ब्राह्मण की योग्यता धारण करने पर ही हो सकता है अन्यथा नहीं । अब इस विषय का विचार समाप्त किया जाता है । और इस छठे अध्याय में प्रक्षिप्त भी कोई श्लोक नहीं इस कारण उस का भी कुछ विचार यहां कर्तव्य नहीं है ॥

अथाग्रं संक्षेपेण राजधर्मविचारः प्रक्रियते ॥

राजन्शब्दो लोके क्षत्रियवर्णस्यापि वाचक उपलभ्यते तस्य राज्ञः क्षत्रियमात्रस्य धर्मो राजधर्म इत्यपि समासः कर्तुं शक्यते ।

तथा प्रजापालकस्याधिष्ठातुरीश्वरस्यापि विशिष्टैश्वर्येण राजमानत्वा-
 हाचको राजनृशब्दोऽस्ति तस्य धर्मो राजधर्म इत्यपि वक्तुं शक्यत
 एव । यथाकथञ्चित्तदुभयं सम्भवति । अनयोश्च राजपदवाच्ययोर्य-
 थाकथञ्चित्किमपि साधर्म्यमप्यपेक्ष्यते । क्षत्रियसमुदायोऽपि प्रजा-
 नां रक्षणमेव करोति नैको राजा सर्वस्य रक्षणं कर्तुमर्हति । परन्तु
 प्राधान्येनात्र नृपस्याधिष्ठातूराज्ञ एव धर्मस्य विवेचनमस्ति । राज-
 धर्मस्य प्रधानतया नवमाध्यायावधि त्रिष्वध्यायेषु विस्तारेण वर्णनं
 कृतमस्ति । तस्य विशिष्टं व्याख्यानं तु तत्रैव द्रष्टव्यम् । इह तु
 धर्मस्य प्राधान्यं प्रदर्श्यते । यस्मिन् देशे धर्मपुरस्सरं राज्यं भवति
 तत्रस्था प्रजा सर्वसुखैः सम्पन्ना सन्तुष्टा च जायते । इदमेव सु-
 राज्यस्य लक्षणम् । राजनि धर्मात्मनि सति प्रजासु चौरास्तस्करा
 दस्यव उत्कोचकादयश्च नश्यन्ति सूर्योदयेन्धऽकार इव । राजा प्र-
 धानः प्रधानवदप्रधानोऽपि जायते । अतएव यथा राजा तथा प्रजेति
 जनश्रुतिचरितार्था भवति । धर्मात्मनो राज्ञो दृढं बहुकालस्यापि
 राज्यं भवति प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति । अतएवे-
 दमपि कथनं सम्भवति—राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमु-
 च्यते । वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते । एतदनुसारेण
 राजकर्मचारिभिरपि यत् क्रियते तत्रापि प्रधानस्य राज्ञ एव प्रधानो
 दोष इति । यश्च राजा लोभाभिपाती भवति स सम्यग्धर्मानुकूलं
 शासनं कर्तुमशक्तः—यतो हि लोभः पापस्य कारणम् । सर्गार-
 म्भाद्बहुकालावधार्याणां धर्मप्रधानत्वादेव राज्यं परम्परागतम् ।
 हीपान्तरस्थानां च धर्मबाह्यत्वादेव राज्यं विनष्टमग्रे च बहुकालाव-
 धि तादृशराज्यस्यावस्थितिरसम्भवा प्रतीयते । यादृशदण्डेनैकस्मै

चौरादये दत्तेन भयभीताः सन्तोऽन्ये तद्दण्डं दृष्ट्वा श्रुत्वा वा तादृशं कर्म नाचरेयुः । एवं दण्डो दातव्यो यथा कस्यचिन्मुहुर्मुहुश्चौर्यकर्मणि प्रवृत्तस्य केनचिद्राज्ञाहस्तौ छिन्नौ । अन्ये च तस्य तादृशं फलं दृष्ट्वा भीताः सन्तस्तथा नाचरिष्यन्ति । यस्मिन् राज्ये चौर्यायधर्मस्य प्रवृत्तिर्न्यूनाद्भ्यूना जायते तस्य धर्म्यराज्यत्वं वक्तुं शक्यते । तदेव च दृढं बहुकालस्थायि भवितुमर्हति । यथा दृष्टान्तरूपेणोक्तम्—धान्यानामष्टमो भागः पष्ठो द्वादश एव वा । अनेन यदा कृषौ धान्य-मल्पं बहु वा यादृशमुत्पद्यते तस्मात्कृषकात्तादृश एव न्यूनोऽधिको वा राज्ञोऽपि भागोऽस्ति । यदि कथञ्चिद्दैवात्किमपि नोत्पद्येत तदा राज्ञोऽपि भागो नास्ति प्रत्युत स्वकोशात्तदा कृषकेभ्यो राज्ञा देयम् । यत्र राज्ये कृषौ सर्वथा नष्टेऽपि तादृश एव करो राजकर्मचारिभिर्बलादादीयते तदेवाधर्मजनकं राज्यमिति बोद्धव्यम् ॥

भाषार्थः—अब संक्षेप से राजधर्म का विवेचन किया जाता है । लोक में राजन्शब्द क्षत्रियवर्ण वा जातिमात्र का भी वाचक मिलता है इसी कारण राजा नाम क्षत्रियमात्र के धर्म को भी राजधर्म कह सकते हैं । तथा राजानाम प्रजा के रक्षक मनुष्यों में ईश्वरनाम सर्वोपरि सामर्थ्यवान् स्वामी, विशेष ऐश्वर्य से प्रकाशवान् होने से लोक में प्रसिद्ध राजा का भी वाचक राजन्शब्द है इस कारण उस के धर्म को भी राजधर्म कहते हैं । इस प्रकरण में जिस किसी प्रकार दोनों अर्थ घट सकते हैं क्योंकि इन दोनों राजपदवाच्यों का किहू अंशों में साधर्म्य अपेक्षित है । क्योंकि सेनादि में रहने वाले सभी क्षत्रिय प्रजाओं की रक्षा करते हैं किन्तु एक प्रधान राजा ही सब की रक्षा नहीं कर सकता । परन्तु तो भी मुख्य कर प्रजारक्षक अधिष्ठाता राजा के ही धर्म का विवेचन अपेक्षित है । राजधर्म की इस ग्रन्थ के सात से नौ अध्याय तक तीन अध्यायों में विवेचना की गयी है । उस का विशेष व्याख्यान तो वहीं देखना चाहिये यहां केवल धर्म की प्रधानता दिखाते हैं- जिस देश में धर्मपूर्वक राज्य होता है वहां की प्रजा सब सुखों से युक्त और सन्तुष्ट होती है यही अच्छे राज्य और धर्मात्मा राजा का लक्षण

है। राजा के धर्मात्मा होने पर प्रजाओं में चोर डाकू और लुटेरे आदि सूर्य के उदय में अन्धकार के तुल्य नष्ट हो जाते हैं। जब राजा प्रधान वा मुख्य है तो उसी के तुल्य गौण प्रजा भी होगी क्योंकि यह लोक वा शास्त्र का नियम है कि प्रधान के तुल्य गुण कर्म स्वभाव वाला गौण भी हो जाता है अर्थात् राजा धर्मा- हो तो उस की प्रजा भी धर्मात्मा हो जायगी। और अधर्मी होगा तो अधर्मी प्रजा हो जायगी। इस के लिये सैकड़ों दृष्टान्त मिल सकते हैं कि खारी जल में जो अच्छे विन्दु गिरते हैं वे भी खारी हो जाते हैं। बहुत से चोरों का साथी एक दो अच्छा भी चोर बन जाता है। यदि वह अच्छा एक दो मनुष्य सब चोरों को अच्छा बना ले तो वहां वह एक दो ही प्रधान होगा और चोर गौण हो जायेंगे। तथा जैसे राजा जाता है यहां साथ चलने वाले राजकर्मचारियों को प्रधान राजा के अन्तर्गत मान के अन्यो के गमन का प्रयोग नहीं किया जाता। इसी पक्ष को प्रधान मान के लोक में यह भी जनश्रुति (कहावत) प्रसिद्ध है कि “यथा राजा तथा प्रजाः” इस सब कथन का आशय यह है कि जहां प्रजा के लोग वा राजकर्मचारी अधर्मी हों वा प्रजा की व्यवस्था ठीक न हो वा प्रजा के लोग राजा को कोशें वा बुरा समझें वहां अधिक दोष राजा का है। यदि राजा ठीक धर्मात्मा होगा और प्रजा के लोगों को पुत्र के तुल्य सुख देने को तत्पर रहे गा तो वहां की प्रजा भी कभी अधर्मी और राजा से विरुद्ध नहीं हो सकती किन्तु प्रजा उस राजा को अपना पिता वा ईश्वर के तुल्य मानने को तत्पर रहेगी। और जो राजा प्रजा के सुख दुःख की ओर पूरा ध्यान न देकर स्वार्थी लोभी और लालची बन के सब समय वा दशाओं में जिस किसी प्रकार प्रजा से धन हरणे का उपाय सदा रखेगा उस को प्रजा भी सदा दुष्ट समझेगी और दुःखी हो २ के सदा कोशेगी। ऐसे राजा का राज्य बहुत काल तक नहीं चल सकेगा अर्थात् लाखों वर्ष तो दूर रहा किन्तु सहस्रों वर्ष भी चलना दुस्तर है। और धर्मात्मा राजा का यह भी बड़ा लक्षण है कि उस का राज्य बहुत काल तक दृढ़ स्थिर रहता है। और उस राज्य में प्रजा मोहित वा दुःखित नहीं होती। प्रयोजन यह है कि न्यायाधीश राजा यदि चित्त से किसी की ओर कुटिलता वा स्वार्थपरता से न देखे गा तो प्रजा अवश्य सुखी रहेगी। इसी कारण इस राज-प्रकरण में कहा यह भी कथन सम्भव है कि “सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि ये सब राजव्यवहार के नाम हैं इस कारण राजा को ही बिद्वान् लोग युग कहते हैं”

तात्पर्य यह है कि जब स्वार्थपरता और आलस्यादि व्यसनों से दूर रह कर राजा ठीक २ धर्म की प्रवृत्ति करना चाहता है तब बहुत शीघ्र धर्म का प्रचार हो सकता है कि जो प्रजा की चाहना से सहस्रों वर्ष में भी पूरा होना दुस्तर है। जिस दिन किसी कर्तव्य के लिये राजा की आज्ञा हो जाती है उस को प्रजा के लोग निर्विवाद मानने लगते हैं। इसी के अनुसार धर्मकार्यों का प्रचार बहुत शीघ्र हो सकता है। तथा जैसे एक यह भी कहावत है कि “वह बक्ता का ही दोष है कि जिस के कथन को श्रोता लोग न समझ पावें।” अर्थात् इस से भी प्रजा की उन्नति न होने में राजा का दोष है। और राजकर्मचारी भी जो कुछ बुराई करते हैं उस में भी प्रधान राजा का ही मुख्य दोष होगा क्योंकि यह न्याय की बात है कि जिस को पाप लगता वही पुण्य भी भोगता है तथा जो पुण्य भोगता वह पाप का भी भागी होता है। अर्थात् जो कुछ प्रजा के साथ भलाई वा सुकर्म राजकर्मचारी करेंगे उस से जैसे राजा की प्रशंसा और राज्य की ओर से समझा जायगा वैसे वे जो कुछ पाप वा बुराई करेंगे वह भी राजा की ओर से होगा क्योंकि सब कर्मचारी वा न्यायसभा सहित का ही नाम राजा पड़ता है। जो राजा लोभी हो कि प्रजा के सुख दुःख को न देख कर लोभ-रूप गढ़े में ही गिरता रहता है वह ठीक २ धर्मानुकूल राजशासन नहीं कर सकता क्योंकि लोभ ही पाप का सर्वोपरि कारण है जो अधिक लोभी है उस के निकट जानो सब पापों का समूह है। क्योंकि अन्य सब पाप लोभ के ही वाल वृत्ते हैं। इस से सिद्ध है कि लोभी राजा महापापी है। सृष्टि के आरम्भ से बहुत काल अर्थात् लाखों क्रोड़ों वर्ष तक धर्म को आगे कर चलने से ही आर्य-राजाओं का राज्य बराबर चला आया। और द्वीपान्तरस्थ यवनादि का राज्य धर्मविरुद्ध चलने से नष्ट हो गया और आगे भी वैसे लोभमूलक राज्यों की अधिक स्थिति रहना असम्भव प्रतीत होती है ॥

जैसा दण्ड एक चोरादि को दिया जाता है उस को अन्य लोग देख वा सुन कर डर जावें और वैसे कर्म करने का साहस न करें अर्थात् ऐसा दण्ड देना चाहिये कि जैसे कोई वार २ चोरी करे तो उस के हाथ काट लिये उस की वैसी दशा देख कर अन्य लोग चोरी करने से डरते हुए वैसे काम न करेंगे। जिस राज्य में चोरी आदि अधर्म की प्रवृत्ति आगे २ सदा कम २ होती जाती है उस को धर्मानुकूल राज कह सकते हैं और वही दृढ़ बहुकालस्थायी राज्य होता है।

जैसे इसी राजधर्मप्रकरण में दृष्टान्तरूप से यह लिखा है कि “धान्य नाम अन्न की उत्पत्ति में आठवां छठा वा बारहवां भाग लेवे अर्थात् खेती की लागत महान्त और उत्पत्ति को देख कर तीन में से कहीं २ किसी २ भाग का ग्रहण राजा करे । इस से सिद्ध हुआ कि खेती में थोड़ा बहुत जैसा अन्न उत्पन्न होगा वैसा ही न्यून वा अधिक उस खेती वाले से राजा को भाग मिले गा । ” और जब किसान के घर में दैवयोग से अन्न उत्पन्न न हो वा हो कर नष्ट हो जावे तब राजा को कुछ नहीं लेना चाहिये किन्तु उलटा अपने घर से राजा किसान को देवे । और जिस राज्य में खेती में कुछ न होने पर भी वैसा ही कर राजकर्मचारी प्रजा से बलपूर्वक ले लेते हैं वही अधर्मजनक राज्य है ऐसा जानो । अभिप्राय यह है कि राजकर्मचारी भी राजा की इच्छा वा लोभादि को देख कर ही प्रजा पर निर्दयता से वर्त्ताव करते हैं यह राजा का महा अधर्म है कि जो प्रजा को तिल के समान दवा २ के तत्त्व खींचा जावे ॥

राजधर्मविषये किञ्चिदुक्तमग्रेऽप्यवशिष्टं किमप्यभिधीयते—राज्ञः काचिज्जातिर्नास्ति स यदा न्यायासने तिष्ठति तदा स्त्रीपुत्रादयोऽपि तस्य न सन्ति किन्तु यथा प्रजास्था अन्ये जना दुष्कर्माण्याचरन्तो दण्डार्हा भवन्ति तथैव स्त्रीपुत्रादयोऽपि व्यवहार्याः । स तदानीमीश्वरोऽस्ति यस्मै यादृशं दण्डं प्रयच्छति स तद्भुङ्क्ते । कर्मणा यत्क्षत्रियत्वं तद्राजकर्मैवास्ति । अन्येऽपि ब्राह्मणादयो यदा प्रधानरूपेणाप्रधानरूपेण वा राजकर्मचारित्वादिना राजकर्मानुतिष्ठन्ति तदा तेष्वपि क्षत्रियत्वमायात्येव । यदा तेषु पूर्वतः क्षत्रियत्वे कथञ्चित्सत्येव तादृशं राजकर्म कर्तुमुत्साहः प्रवृत्तिश्चोपजायते । अतएव राज्ञः सर्वस्मात् पृथक् भूतत्वमीश्वरत्वञ्च दर्शनायाष्टम उक्तम्—

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।

नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥

चत्वारो वर्णाश्चत्वारः पृथक् पृथक् समुदायाः सन्ति तेषां सर्वेषां सामान्येन शासकः स्वस्वधर्मे व्यवस्थापकः सर्वेषु समदृष्टिरेक

ईश्वरवद्राजास्ति तस्य काचिज्जातिर्नास्ति । पद्यपि राजधर्मः क्षत्रिय-
स्य प्रधानो धर्मोऽस्ति तथापि स क्षत्रियवर्णस्य पक्षपाती न भवति
अतएवोक्तम्—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

सिद्धमेतेन यः सर्वस्य समदृष्ट्या पालनं करोति स एव ध-
र्मात्मा राजा भवितुमर्हति ॥

यस्मिन् राज्ये व्यभिचारस्य लेशोऽपि नास्ति तदपि धर्मरा-
ज्यम् । यदि कश्चित्कदाचिद्विस्मृत्य परस्त्रीगमनं कुर्यात्तदा धर्मशा-
स्त्ररीत्या महद्वण्डं प्रयच्छेत्—यथोक्तमस्मिन्नेव प्रकरणे—

परदारभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नृन् महीपतिः ।

उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ १ ॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसङ्करः ।

येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ २ ॥

भर्तारं लङ्घयेद्या स्त्री स्वज्ञातिकुलदर्पिताः ।

ता श्वभिः स्वादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३ ॥

एतेन प्रतीयते पूर्वकाल आर्यावर्ते व्यभिचारो नासीदिदानीं
च व्यभिचारस्य विशिष्टो दण्ड एव नास्ति । अतएव प्रत्यहं तस्य
वृद्धिर्दृश्यते । यस्मिन् राज्ये व्यभिचारस्य विशिष्टो दोषो नास्ति
नादोधर्म्यराज्यं भवितुमर्हति । “कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च
रक्षणम् ।” एतत्कथनेनानुमीयते ब्रह्मचर्याश्रमस्य यथावत्पालनं
शिञ्चितयोश्च युवावस्थां प्राप्तयोः कन्यावरयोः सर्वविधसादृश्ये सति
विवाहोऽपि राजनियमेनैव भवेत्तदैव प्रजोन्नतिः सम्यग्भवति ।

राजनियममुल्लङ्घ्य नैव कश्चिदल्पावस्थायां कन्यावरयोरुद्वाहं कर्तुं शक्नोति । अस्मिन् राजप्रकरणे केचिद्विवादास्तन्निर्णयाश्च पूर्वं देश-कालभेदेनासन् । इदानीं तेषामुपयोगो नैव दृश्यते केचिच्च नूतनाविवादास्तत्र न सन्ति तदर्थं न्यायाधीशो नूतनान्नियमान् विद्वद्भिः कारयेत् । क्वचिद्ब्राह्मणादिवरिष्ठाय ज्ञानाधिक्यादृण्डाधिक्यमुचितम् । क्वचिच्च हानिलाभौ समीक्ष्य साधारणापेक्षया दण्डस्याल्पत्वं क्षमावेति सर्वं देशकालौ समक्ष्य कार्यम् ॥

भाषार्थः—राजधर्मविषय में इस से पहिले कुछ लिखा गया है आगे अब और भी कुछ संक्षेप से कहा जाता है—राजा की कोई जाति नहीं अर्थात् पहिले से भले ही वह ब्राह्मणादि किसी वर्ण समुदाय में उत्पन्न हुआ हो परन्तु जब वह न्यायासन—राजगद्दी पर बैठता है तब स्त्री पुत्रादि भी उस से अलग हो जाते और वह अपनी निज योग्यतानुसार सब से भिन्न वा विलक्षण माना जाता है । राजा एक सनुष्य जातिमात्र में बड़ा अधिकार है कि जो सब को मान्य होता है । इसी कारण वह किसी नीच समुदाय में भी उत्पन्न हो तो भी न्यायासन पर सुशोभित होने पर बैसा ही मान्य वा पूज्य होता है कि जैसा ब्राह्मण क्षत्रिय का राजा होने पर मानादि किया जावे । राजा जब राजगद्दी पर बैठता है तब जैसे दुष्टकर्म करने वाले प्रजा के अन्य लोग दण्ड के योग्य होते हैं वैसे ही राजा को अपने स्त्री पुत्रादि के साथ भी व्यवहार करना चाहिये । वह राजा न्याय करते समय ईश्वर का प्रतिनिधि है । इसी कारण राजा का नाम लोक में ईश्वर भी पड़ा है । क्योंकि ईश्वर का भी यही काम है कि वह जिस अपराधी को जैसा दण्ड देता है उस को निर्विवाद भोगना पड़ता है वैसे राजदण्ड भी निर्विवाद भोगने पड़ता है । कर्म से जो क्षत्रियपन माना जाता है वह भी राजकर्म ही है अर्थात् जो कोई राजकर्म में ठीक २ धर्मानुकूल प्रवृत्त हो वह क्षत्रिय कहा जा सकता है । जब ब्राह्मणादि भी राजा वा राजकर्मचारी आदि बन के राज्यसम्बन्धी काम का ठीक २ सेवन करते हैं तब उन में भी क्षत्रियत्व आ ही जाता है । अथवा यों कहिये कि पहिले से उन ब्राह्मणादि में क्षत्रियत्व प्राकृतिक गुणों के अनुसार होता ही है जिस से उन की वैसे राज्यसम्बन्धी कर्म करने में

उत्साह वा प्रवृत्ति हो जाती है। इसी कारण राजा का सब से पृथक् होना वा ईश्वर होना दिखाने के लिये आठवें अध्याय में कहा है कि “पिता, गुरु, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र वा पुरोहित कोई कभी न हो जो अपराध करे उसको बराबर यथायोग्य दण्ड देवे” चारों वर्ण पृथक् २ चार समुदाय हैं सामान्य कर उन सब का शासक और अपने २ धर्म पर चलाने वाला सब में समदृष्टि ईश्वर के तुल्य निष्पक्ष एक राजा है। यद्यपि राजधर्म क्षत्रिय का प्रधान वा मुख्य धर्म है तो भी वह क्षत्रियधर्म का पक्षपाती नहीं होता इसी से उस की कोई जाति नहीं है। और इसी कारण यह भी कहा है कि “इस सब जगत् की रक्षा के लिये परमेश्वर ने राजा को बनाया और ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार ही वह ऐसे अधिकार को प्राप्त होता है। मनुष्यरूप से बैठे राजा को देवता वा ईश्वररूप से देखना चाहिये अर्थात् प्रजास्य मनुष्य उस को अपने तुल्य साधारण मनुष्य न समझे क्योंकि उस को परमेश्वर ने उस काम पर बैठाया है। इसी से जो चाहे वह राजा नहीं बन सकता किन्तु जिस को परमेश्वर बनाता है वही राजा बन सकता है इस से सिद्ध हुआ कि जो सब का समदृष्टि से पालन करता है वही राजा धर्मात्मा हो सकता है ॥

जिस राज्य में व्यभिचार का लेश भी नहीं वह धर्मानुकूल राज्य है। यदि कोई कदापि भूल कर व्यभिचार करे तो धर्मशास्त्र (कानून) में लिखे अनुसार बड़ा दण्ड देवे। सो इसी राजप्रकरण में कहा है कि “परस्त्री के साथ व्यभिचार करने में प्रवृत्त मनुष्यों को लिङ्ग काट लेने आदि भयङ्कर दण्ड देके वा नाक कटवा लेना आदि दण्ड दे कर राज्य से बाहर निकलवा देवे ॥ क्योंकि व्यभिचार से ही जगत् में वर्णसङ्कर दोष बढ़ता है जिस से सुख की जड़ों को निर्मूल करने वाला अधर्म बढ़े वल से उठा हुआ सब का नाश करने वाला होजाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे व्यभिचार करने वाले स्त्री पुरुषों का चित्त चलायमान भयभीत शान्त्यादि शुभगुणों से रहित बुराई में लिप्त होता है वैसे ही व्यभिचार के सन्तान भी अधर्म की मूर्ति होते हैं। यह कदापि सम्भव नहीं कि यदि धर्मानुकूल परस्पर अतिप्रसन्नतापूर्वक स्त्री पुरुषों की ओर से गर्भाधान हो तो वह पुत्र पिता माता से कभी विरोध करे वा उन की सेवा प्रीति से न करे। जिस देश में अधिक फूट वा विरोध बढ़ता है उस का बड़ा कारण व्यभिचार ही है। इस से जो अपने राज्य को टूट करना चाहे वह व्यभिचार को जड़ से खोद कर उड़ा

देवे । जब व्यभिचार वा वेश्यागमन सर्वथा नष्ट होगा तभी स्त्री पुरुषों में भी ठीक २ प्रीति बढ़ेगी और प्रीति का फल अच्छे धर्मात्मा पुत्र होना वा संसार में सुख बढ़ना है ॥ जो स्त्री पति का तिरस्कार कर व्यभिचार करना चाहे उस को बहुत मनुष्यों के समुदाय में कुत्तों से काट २ के खिला देवे जिस से वैसा काम अन्य कोई फिर न करे । और जारपुरुष को लोहे की अत्यन्त तपायी अग्निवर्ण खट्टा पर बहुत मनुष्यों के समुदाय में लिटा देवे जिस से व्यभिचार का नाश हो जावे ।” इत्यादि कथन से प्रतीत होता है कि पूर्व समय में इस आर्यावर्त्त देश में व्यभिचार नहीं था । और अब व्यभिचार पर विशेष दण्ड ही नहीं है । इसी से प्रतिदिन उस की वृद्धि दीखती है । जिस राज्य में व्यभिचार का विशेष विचार नहीं होता उस को धर्मानुकूल राज्य नहीं कह सकते । इस पर कोई यह शङ्का कर सकता है कि छोटे अपराध में वैसा बड़ा दण्ड देना क्या न्याय होगा ? इस का उत्तर यह है कि वह वास्तव में न्याय है क्योंकि राजा का क्रोध उस मनुष्य पर नहीं किन्तु उस पापकर्म पर होना चाहिये । ऐसे दण्ड राजा को एक वर्ष में एक दो ही कर देने से प्रजा भर में उस पाप की निवृत्ति हो जायगी । वैसे पाप का नाम सुन के लोग कम्पायमान रहा करेंगे पाप की ओर मुख भी नहीं उठेगा । और जो सहज दण्ड दिये जावें तो हजारों को दण्ड देने पड़ें इस से न्याय बही है जिस से पाप का नाश और सदा धर्म की वृद्धि होती रहे ॥

कन्या घरों का ठीक २ ब्रह्मचर्य और विद्या शिक्षायुक्त होने पर युवावस्था में विवाह होना तथा उन की ठीक २ विधि वा तुल्यता मिल जाना यह सब राजा के नियमानुसार ही हो तभी प्रजा की ठीक २ रक्षति हो सकती है । यदि राजा की आज्ञा हो जावे कि सब ब्राह्मणादि के बालक इतनी अवस्था तक पढ़ाये जावें तब तक किसी पुत्र वा कन्या का विवाह हो तो अमुक दण्ड मिले । तो राजनियम को तोड़ कर थोड़ी अवस्था में कोई भी विवाह न करे फिर नित्य की झींकी झींकी आपही मिट जावे ॥

इस राजप्रकरण में कोई २ विवाद और उन का निर्णय (फैसला) ऐसे लिखे गये हैं जो पहिले देश काल भेद से इस देश में ये उन का उपयोग इस समय नहीं है तो भी व्यर्थ न समझने चाहिये क्योंकि जो कभी था वैसा फिर भी आगे हो सकता है । और अनेक विवाद वा निर्णय जो पहिले नहीं थे इसी से राज धर्म में नहीं लिखे गये उन के लिये राजा को चाहिये कि विद्वानों से नवीन

नियमकरा लेवे । तथा कहीं ब्राह्मणादि श्रेष्ठ पुरुषों को ज्ञानी होने से अधिक दण्ड देना उचित है और कहीं हानि लाभ देख कर साधारण की अपेक्षा बड़े को थोड़ा दण्ड देना वा क्षमा कर देना । ये दोनों बातें समयानुसार कर्तव्य हैं इसी से कहीं २ भेद दीखता है इस को विरोध नहीं समझना चाहिये ॥

अथ सप्तमाष्टमयोः प्रक्षिप्तविचारः क्रियते ॥

पूर्व सप्तमेऽध्याय एकचत्वारिंशं द्वाचत्वारिंशं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तमस्ति । यावता यादृशेन चार्थवादेन विनयप्रशंसायामविनयनिन्दायां च भवितव्यं तावान् तादृक् च ततः पूर्वेण पद्यद्वयेनोक्तएवास्ति । अयं चार्थवादः साधुर्न दृश्यते । वेनादयो राजानोऽर्वाचीनाः सन्ति येषां विशिष्टा विस्तारेण च कथा महाभारतादिष्वितिहासेषु दृश्यन्ते । इदं च मानवं धर्मशास्त्रमत्यन्तं प्राचीनमेतादृशे प्राचीनपुस्तके तादृशोर्वाचीनोर्थवादः कथं स्यात् ? । नहि पितुर्जन्मसमये तस्य भाविनां पुत्राणां वृत्तं केन चिद्व्याख्यातुं शक्यते । लोके च यस्ययस्येतिहासो यत्र यत्र पुस्तके दृश्यते स स तत्तत्पुस्तकनिर्माणकालात्पूर्वमेव भवति । इत्यादि कारणैः प्रक्षिप्तं तत्पद्यद्वयमिति धीमद्भिरनुसन्धेयम् ॥

अग्रेऽष्टमाध्याये पञ्चोत्तरशततमं षष्ठोत्तरशततमं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तं प्रतीयते । ततः पूर्वपद्ये यदि कस्माच्चित्कारणाद्ब्राह्मणादीनां वधनिवारणाय कृतमसत्यभाषणं सत्यादपि विशिष्टफलप्रदमस्ति पुनरसति पापे कस्य निवृत्तये प्रायश्चित्तम् ? । अर्थादनर्थकमेतत्प्रायश्चित्तमस्ति । तथाऽत्र प्रायश्चित्तस्य प्रकरणमपि नास्त्यपित्वेकादृशे तादृशो विचारः सामान्यविशेषतया कृत एवास्ति । तस्मात्प्रक्षिप्तमुक्तं पद्यद्वयम् ॥

दशोत्तरशततमं द्वादशोत्तरशततमं चतुर्दशोत्तरशततमात्पोड-
शोत्तरशततमावधि च पञ्च पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति । नायमर्थवादः
साधुरस्ति । यस्य सत्यवादित्वं लोके प्रकटं येन क्वापि कदापि मिथ्या
नोच्यते तस्य केनापि शपथकरणं नापेक्ष्यते । वसिष्ठादयो महर्षयः
शपथं किमर्थं कृतवन्तस्ते तु प्रसिद्धा एव सत्यभाषिणः । कथञ्चित्कृ-
तवन्तस्तर्हि तेषामुदाहरणस्य नास्त्यत्र प्रयोजनम् । यदि सत्यस्या-
न्वेषणं शपथेन सम्भवेत्तदा शपथमपि कर्त्तव्यम् । कामिन्यादिविष-
येऽपि मिथ्याशपथकरणमधर्मजनकं प्रामादिकं च । धर्मविरुद्धका-
र्यस्य सिद्धये मिथ्याशपथकरणं को धीमान् श्रद्धास्यति । असम्भ-
वमेतद्यदग्न्यादयो हस्तज्वलनादिकं न कुर्युरिति जले च तरणशक्ति-
मन्तरा निमज्जनं न स्यात् । अतएव नीतिज्ञैरुक्तम्—

“होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः।”

अग्नेर्दहनस्य स्वभाव एवास्ति स्वाभाविकगुणस्य निरोधं कोऽपि
कदापि कर्त्तुं न शक्नोति । इदानींतनेषु यदि कश्चिच्छ्रद्धहीनः तेन प्रज्व-
लन्नयोगोलकं हस्ते धार्य मिथ्यादोषाश्च तत्र मादृशेन केनचिद्यो-
क्ष्यन्ते । यदि हस्तादिकं तस्य न ज्वलेत्तदैतत्सत्यं स्यात्तत्त्वसम्भवं
प्रतीयतेऽतः प्रक्षिप्तानि पञ्चपद्यानि ॥

अग्रे चतुःषष्ठ्युत्तरत्रिंशततमं पद्यं क्षिप्तमस्ति । व्यभिचारप्रकरणे
यदा तन्निवारणाय महदुग्रदण्डा उक्ताः पुनः कन्याया व्यभिचारे
किमपि दूषणं न स्यादिति विरुद्धम् । यदि सा कस्यापि जाया
नास्तीति कृत्वा दूषणाभिधानप्रतिषेधः स्यात्तदपि नास्ति सम्यक् य-
तस्तेन कर्मणा व्यभिचारस्य वृद्धिरेव दृश्यते । मातापित्रोरवज्ञाचा-
पि दोषः । यदि विवाहरीत्या कन्योत्कृष्टमुपेयात्तदात्र दोषाभावो

दण्डप्रतिषेधश्च व्यर्थ एवास्ति तथाऽस्मिन्पक्षे उत्तरार्द्धस्याप्यसङ्गति-
रिति कृत्वा प्रक्षिप्तं तत् ॥

अग्नेऽशीत्येकाशीत्युत्तरे त्रिशततमे द्वे पद्ये प्रक्षिप्तेस्तः ।

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।

गुरुं वा वालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।

द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्विषगुणविद्धि सः ॥

इत्यादि पूर्वोक्तराजधर्मप्रकरणस्थप्रमाणानुकूल्येन यदाऽन्या-
पेक्षया विद्वांसो गुरवः पुरोहिता बहुश्रुता अपि ब्राह्मणा दण्ड्या
वध्याश्चोक्ताः पुनः सर्वपापेष्ववस्थितस्य हननं तु पुण्यजनकमेवा-
स्ति । एतत्पद्यद्वयं केनचिद्ब्राह्मणेन स्वकुलरक्षार्थं निर्माय पक्षपाते-
नात्र धृतम् । यदि पापेष्ववस्थितमपि ब्राह्मणं न हन्यात्तदाऽधर्मस्य
तेन वृद्धिरेव जायेत । अतः प्रक्षिप्तमेतत्पद्यद्वयम् । एवमत्र सप्तमे
पद्यद्वयमष्टमे च दश पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति ॥

भाषार्थः—अब सप्तमाष्टम अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार किया जाता
है—पहिले सप्तमाध्याय के एकतालीश बयालीश दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इन दोनों
श्लोक में विनयपूर्वक वर्त्ताव की प्रशंसा और अविनयपूर्वक वर्त्ताव की निन्दा के
लिये वेन आदि राजाओं के दृष्टान्त दिखाये हैं सो ठीक नहीं हैं । क्योंकि वि-
नय की प्रशंसा और अविनय की निन्दा में जितना जैसा अर्थवाद होना चाहिये
उतना और वैसा उनतालीश और चालीश श्लोक में कहा ही है । और यह
अर्थवाद इस लिये ठीक नहीं है कि वेनादि राजा बहुत पिछले हैं जिन की
विस्तार पूर्वक विशेष कथा महाभारतादि इतिहासों में दीखती हैं । और यह
मानवधर्मशास्त्र बहुत प्राचीन है ऐसे प्राचीन पुस्तक में ऐसे पिछले लोगों की
स्तुति निन्दा कैसे हो सकती है ? और स्मृति वा धर्मशास्त्रों की शैली वा

परिपाटी से भी यह विरुद्ध है कि किसी का इतिहास उन में दिखाया जावे । क्योंकि इस के लिये महाभारतादि इतिहास पृथक् बनाये गये हैं । तथा पिता के जन्म समय में उस के आगे होने वाले पुत्रों के चरित्र का व्याख्यान कोई नहीं कर सकता । लोक में भी जिस २ का इतिहास जिस २ पुस्तक में दीखता है वह २ मनुष्यादि उस २ पुस्तक बनने के समय से पूर्व ही होता है । इत्यादि कारण से उक्त दोनों ४१।४२ श्लोक प्रक्षिप्त हैं ऐसा विचारशीलों को अनुसन्धान करना चाहिये ॥

आगे अष्टमाध्याय में एकसौ पांचवां और एकसौ छठा दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इन दोनों श्लोक में ब्राह्मणादि के वध को बचाने में बोले हुए झूठ का प्रायश्चित्त कहा गया है । सो इन दोनों श्लोकों से पूर्व के श्लोक में यदि किसी कारण ब्राह्मणादि को मरण से बचाने के लिये असत्यभाषण किया गया ठीक हो और उस को सत्यबोलने की अपेक्षा भी विशेष फलदायक माना तो पाप ही कहाँ हुआ ? फिर किस की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त कहा जावे इस से वह प्रायश्चित्त कहना व्यर्थ है । और यहां प्रायश्चित्त का प्रकरण भी नहीं है किन्तु ग्यारहवें अध्याय में वैसा झूठ बोलने आदि के प्रायश्चित्त का विचार सामान्य विशेष कर किया ही है । इस से उक्त दोनों श्लोक यहां प्रक्षिप्त हैं ॥

आगे एकसौ दशवां, एकसौ बारहवां और एकसौ चौदहवें से एकसौ सोलहवें तक पांच श्लोक प्रक्षिप्त हैं । यह भी अर्थवाद ठीक नहीं । इन श्लोकों में शपथ करने (कसम-खाने) की आवश्यकता मिथ्या शपथ करना और अग्निवर्ण लोहे का गोला हाथ पर धरना वा जल में डुबाना जिस को न अग्नि जलावे और न जल डुबावे वह जानो शुद्ध है उस का शपथ करना ठीक है वह पापी नहीं इत्यादि वर्णन किया है । सो यह ठीक नहीं क्योंकि जिस को सब कोई जानता है कि यह सत्यवादी है जो कभी कहीं मिथ्या नहीं बोलता उस को शपथ करने की कुछ आवश्यकता नहीं है । वसिष्ठादि महर्षि लोगों का उदाहरण भी यहां ठीक नहीं क्योंकि वे प्रसिद्ध ही सत्यवादी थे फिर क्यों शपथ करते और कदाचित् करते भी तो उन के उदाहरण की कुछ आवश्यकता नहीं क्योंकि वह इतिहास का विषय है और शपथ लेने का मुख्य प्रयोजन यही होता है कि जो सत्य का खोज करने के लिये शपथ हो वा शपथ से विवाद मिटता हो तो शपथ लेना चाहिये यही शपथविषयक अर्थवाद ठीक है । स्त्रियों को ठगने के लिये वा विवाहादि के

निमित्तमिध्याशपथ करना अधर्म का हेतु और प्रमादी वा कामी लोगों का कथन है। धर्म से विरुद्ध कार्य की सिद्धि के लिये मिध्याशपथ करने को कौन बुद्धिमान् अच्छा कहेगा ? । और यह तो असम्भव है कि अग्नि हाथ को न जलावे। नीति में लिखा है कि अग्नि का कोई मित्र नहीं होम करने वाला भी यदि स्पर्श करेगा तो अग्नि जला देगा। क्योंकि अग्नि का जलाना गुण स्वाभाविक है स्वाभाविक गुण को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। यदि आधुनिक कोई मनुष्य इस को सत्य माने कि शुद्ध को अग्नि न जलावे गा तो उस को कोई मिथ्या दोष लगा देवे वह दोषी तो है नहीं फिर अग्नि का अङ्गार हाथ पर धर लेवे तब यदि उस का हाथ न जले तो यह सत्य हो सकता है परन्तु यह असम्भव है। इस से ये उक्त पाँचो श्लोक प्रक्षिप्त हैं ॥

आगे तीनसौ चौसठवां श्लोक प्रक्षिप्त है। इस पट्ट में कन्या को व्यभिचार में दोष का निषेध किया है। सो इस व्यभिचारप्रकरण में जब उस को हठाने के लिये बड़े कठोर दण्ड कहे फिर कन्या को व्यभिचार में कुछ दोष नहीं यह विरुद्ध है। यदि वह किसी की स्त्री नहीं इस से दोष का निषेध होतो ठीक नहीं क्योंकि उस कर्म से व्यभिचार की वृद्धि ही दीखती है और स्वयं किसी पुरुष से व्यभिचार करने में माता पिता की आज्ञा न लेना उन का अपमानरूप दोष है। यदि एक व्यभिचारिणी कन्या को कठोर दण्ड दिया जावे तो आगे अन्य कन्या उसी दण्ड के भय से व्यभिचार न करेंगी। इस लिये कन्या को भी दण्ड देना व्यभिचार का नाशक होगा। यदि कोई कहे कि विवाह रीति से किसी उत्तम वर को कन्या ग्रहण कर ले इस में दोष नहीं तो दोष वा दण्ड का निषेध भी व्यर्थ है। क्योंकि विवाह में दोष प्राप्त ही कैसे था जिस का निषेध किया जाता। तथा इस पक्ष में इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की भी सङ्गति न लगेगी इस से वह प्रक्षिप्त है ॥

आगे तीनसौ अस्सी और तीनसौ इक्याशीवां दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं क्योंकि पूर्व कह चुके हैं कि “पिता, गुरु, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित इत्यादि सभी को राजा दण्ड देवे। गुरु, बालक, वृद्ध, वा बहुश्रुत ब्राह्मण भले ही हो यदि शस्त्र ले कर सामने मारने को आवे तो बिना विचारे मार देवे वा मार डाले। तथा ब्राह्मण सब विषयों के गुण दोष वा धर्माधर्म के तत्त्व को सब की अपेक्षा अधिक जानता है इस कारण सब से अधिक दण्ड ब्राह्मण को दिया जावे”

इत्यादि प्रमाणों के अनुसार जब अन्य की अपेक्षा विद्वान् गुरु पुरोहित और बहुश्रुत ब्राह्मणों को अधिकदण्ड और वध्य कहा फिर सब पापों में अवस्थित ब्राह्मण का मार डालना पुण्यकारक ही होगा । ये दोनों श्लोक किसी ब्राह्मण ने अपने कुल की रक्षा के लिये बना कर पक्षपात से यहां डाल दिये हैं । जो पापी ब्राह्मण को भी न मारे तो उस से अधर्म की वृद्धि अवश्य होगी इस से ये दोनों पद्य प्रसिद्ध हैं । इस प्रकार सप्तमाध्याय में दो और अष्टमाध्याय में दश श्लोक प्रसिद्ध हैं ॥

अथ संक्षेपेण दायभागविचारः ॥

विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य तनयैर्यत्र कल्प्यते । “दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैरिति नारदीयवचनम् ।” दायशब्देन विशिष्टं धनमुच्यते यद्धनं न्यायतो येन ग्राह्यं स तस्य दाय इति भवति । धनशब्दश्चात्र रूप्यादेरेव वाचको न ग्राह्योऽपितु यावत्पित्रादीनां स्वं स सर्वो दायएवास्ति तं दायमादत्तेऽस्ति वाऽसौ दायदः । तस्य दायस्य विभागविवेचनं दायभागः । स च दायो द्विविधः सविवादो निर्विवादश्च । पितृव्यमातामहादीनामौरसपुत्रस्वामिनोरभावे सविवादो दायः । पितुः पितामहस्य वा तयोरभावे पुत्रपौत्रादिभिर्ग्राह्यो निर्विवादो दायः क्वचित्सविवादो निर्विवादतां निर्विवादश्च सविवादत्वमपि प्राप्नोति तदर्थमेव महर्षिभिर्दायभागविवेचनपराणि धर्मशास्त्राणि निर्मितानि तस्मादप्यवशिष्टं सामयिके न्यायालये न्यायाधीशैर्निर्णीयते ॥

अत्रायं पूर्वपक्षः प्रवर्तते—यैर्मृतेभ्यः पितृभ्यः पिण्डार्पणं नैव स्वीक्रियते तेषां मते—

“उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ।

पिण्डदोऽंशहस्त्वेषां पूर्वाभावे परः परः ॥”

इत्यादीनि दायभागसम्बन्धे मृताय पित्रादये पिण्डदानप्रति-
पादनपराणि पूर्वोक्तानि वचांसि याज्ञवल्क्यस्मृतिस्थानि तथा—

“स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ।

पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्वनम् ॥

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।

त्तितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥”

इत्यादीनि च मानवधर्मशास्त्रस्थानि वचांसि व्याह्नयेरन् ।
अर्थादुक्तपद्येषु यो यस्तस्मै तस्मै पित्रादये पिण्डं दातुमर्हति स स
तस्य तस्य दायदो भवितुमर्हति । यद्वा यद्वत्तं पिण्डं योऽवाप्नोति
तस्य धनस्य स एव पिण्डदाता ग्राहको भवति ॥

अत्रेदं समाधानमुच्यते—श्राद्धविचारप्रसङ्गेऽपि किञ्चिदुक्तम्—
पिण्डशब्दोऽत्र ग्रासोपलक्षकः सम्भवति । “अष्टौ पिण्डान् समश्रीया-
द्विप्रो मध्यन्दिने स्थिते । श्वापिण्डदस्य कुरुते”—इत्यादि सत्प्रयुक्त-
पद्यादिषु पिण्डशब्दो ग्रासपर्यायः स्पष्ट एवास्ति । यथा स्त्रियो विवा-
हानन्तरं पाणिग्राहकसम्बन्धाद्दसनाच्छादनप्राप्तेर्भागिभ्यः सन्ति यदि
कथञ्चिद्भोजनाच्छादने पाणिग्राहको न दद्यात्तदा राजा ताभ्यो दा-
पयेत् ताश्च राजद्वारि निवेदनं कृत्वा कारयित्वा वा स्वनिर्वाहाय य-
थाशक्ति भोजनाच्छादने गृहीतुमर्हन्ति कुर्वन्ति चैवं काश्चित् । तथै-
वात्रापि यस्य यस्य तेन पित्रादिना साकं यद्यदपेक्षया सन्निकृष्टः
सम्बन्धोऽस्ति तस्य तस्य साक्षात्परम्परया वा स पित्रादिः पालकः
पोषकश्च जायते । येन पित्रादिना तेषां स्वसम्बन्धिनां पुत्रादीनां
कथमप्युपकारः कृतस्तेषामुपरि वृद्धावस्थायां दायोऽस्ति । तदानीं
ते पुत्रादयो वृद्धाः शरीरेन्द्रियादीनां शैथिल्यात्स्वस्य धनाद्युपार्जनेन

भोजनाच्छादनव्यापारेण सम्यग् रक्षां कर्तुं न शक्नुवन्ति । अतस्तदानीं येषामुपरि तेषां वृद्धानां रक्षणस्य भारोऽस्ति तेषां न्यायतो रक्षणाभावे ये राजतो दण्डमर्हन्ति बलात्कारेण वा राज्ञा तैः पित्रादीनां रक्षा कारयितव्याऽस्ति ते त एव तेषां तेषां पित्रादीनां दायस्य वस्तुनो भागिनो भवितुमर्हन्ति यतस्ते जीवतां वृद्धानां पिण्डदातारो भोजनाच्छादनभारभागिन आसन् । लोके समस्तो व्यवहार उपकारप्रत्युपकाराभ्यामेव जायते । येन पूर्वं कथमपि यस्योपकारः कृतस्तेनानन्तरं तस्य प्रत्युपकारः कर्तव्य एव । योनिसम्बन्धे चान्तरङ्गबहिरङ्गतया यावानुपकार इतरेतरं क्रियते नैव तावानन्येन कर्तुं शक्यते । यथा पित्रा पुत्रमुत्पाद्य तस्य रक्षादिना महानुपकारः कृतः समर्थेन च सता पुत्रेण सर्वथा मातापित्रोर्वृद्धावस्थावधि महानुपकारो रक्षादिरूपः कार्यः पुनः स एव पित्रादिभिरुपार्जितवस्तूनां तेषां मरणानन्तरमादाता भवति । यदि कथञ्चित्पिण्डोपलक्षितभोजनादिना पित्रादीनां रक्षणस्यावसरो नागच्छेत्तथापि तेषां पुत्रादीनां पिण्डदत्वं नैव दुष्यति । यतः पिण्डदानस्य तेषामुपरि भारोऽस्ति नियमश्च सार्वत्रिकस्तस्य क्वचिदप्रवृत्तौ सामान्यकथनस्य विधातो ज्ञातुमयुक्तः । यतः कारणान्नियोगोत्पन्नः सुत उत्पादकोत्पादयित्र्योरुभयोः पिण्डदाताऽस्ति तस्मात्तयोर्द्वयोरेव दायादोऽस्तीति याज्ञवल्क्यस्याशयः । द्वादशपुत्रेषु पूर्वस्य पूर्वस्याभावे परःपरः पिण्डदोऽशहरो दायादश्च भवति । यो यस्मै पिण्डदानेऽधिकतस्तस्य दायाद इति न्याय्यमेव । स एव दद्याद् हौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च । अस्य मनुवचनस्यायमाशयः—यदा मातामहस्थान्यः कोऽपि पुत्र औरसो नास्ति तदा स दौहित्र एव मातामहाय वार्द्धके

पिण्डदत्त्वेन रक्षको भवितुमर्हति तथासति स एव तस्य दायादः स्यात् । स्वस्य पित्रे पिण्डदत्तस्य दायादश्चास्त्येवेति सिद्धानुवादः । एवमन्यानि सर्वाणि वचांस्यनेनैव सिद्धान्तेन व्यवस्थितानि भवन्ति । पिण्डशब्देन पक्वान्नमुपलक्ष्यते यतो वार्द्धके पित्रादयः स्वहस्तेन पाकादिकमपि कर्तुमशक्तास्तेभ्यः सिद्धमन्नं प्रीत्या स एव दद्याद्यस्तदानीमन्यापेक्षयाऽन्तरङ्गतया तेन सम्बद्धोऽस्ति । यस्योपरि भोजनाच्छादनाभ्यां रक्षणस्य पित्रादीनामशक्तदशायां भारोऽस्ति स एव तेषां देहान्तानन्तरं दायादः स्यादिति दायभागप्रसङ्गे सिद्धान्तः पक्षो मन्वादीनाम् ॥

भाषार्थः—अब संक्षेप से दायभागसम्बन्धी विचार किया जाता है । इस विषय में नारदस्मृति का वचन है कि “पिता के वस्तु का पुत्र लोग जो बांट करते हैं उस को विद्वान् लोगों ने व्यवहार की व्यवस्था का हेतु होने से दायभाग कहा है” दायशब्द एक प्रकार के धनादि वस्तु का नाम है जिस पर न्यायानुकूल किसी अपने सम्बन्धी का स्वत्व (हक) हो । जिस धनादि वस्तु को न्यायपूर्वक जो ले सकता है वह उसी का दाय है और वह पुरुष उस वस्तु के स्वामी का दायाद (वारिस) कहाता है । यहां दायनामक धन केवल रुपये आदि का ही वाचक नहीं है किन्तु जो कुछ पृथिवी आदि सुखसाधन पितादि का वस्तु है वह सब दाय ही है इस प्रकार के दाय का विवेचन करके कि (किस को क्या मिलना चाहिये) विभाग करना दायभाग कहाता है । वह दाय दो प्रकार का माना जाता है—चाचा वा नाना आदि के जब कोई निज पुत्र न हो और उन का स्वयं भी शरीर छूटने पर आवे तो उन का धनादि दाय विवाद सहित होता है और पिता वा पितामह का उन के न रहने पर पुत्र वा पौत्रादि को लेने योग्य दाय निर्विवाद माना जाता है । कहीं सविवाद जिस में किसी प्रकार का झगड़ा है वह झगड़े से रहित हो जाता और जिस में झगड़ा नहीं उस में भी कहीं झगड़ा खड़ा हो जाता है इसी लिये महर्षि लोगों ने दायभाग के विवेचनार्थ धर्मशास्त्र बनाये और उस से भी बचे हुए का सामयिक न्यायालयों में राजाओं के द्वारा निर्णय होता रहता है ॥

इस विषय में पूर्वपक्ष यह है कि जो लोग मरे हुए पितरों को पिण्ड देना स्वीकार नहीं करते उन के मत में “वह नियोग से उत्पन्न हुआ पुत्र अपने उत्पादक दोनों माता पिता को पिण्ड देने वाला और दोनों के धनादि का ग्राहक होता है। यहाँ दोनों का पृथक् से कहने का अभिप्राय यह है कि उन नियुक्त माता पिता के दो घर होते हैं जिस विधवा स्त्री का नियोग होता है वह अपने पूर्वपति के घर वा नाम को नहीं छोड़ती इस लिये नियोग से उत्पन्न हुआ सन्तान दोनों घर का धन ले सकता है। यदि नियोगकर्त्ता पुरुष का कोई औरस पुत्र हो तो नियोगज पुत्र को दाय नहीं मिलेगा। तथा “बारह पुत्रों में से पूर्व २ के न रहने वा न होने पर पर पुत्र पिण्ड देने वाला होगा।” इत्यादि दायभागसम्बन्ध में मरे हुए पितादि को पिण्डदान करने का प्रतिपादन करने वाले याज्ञवल्क्यस्मृति के वाक्य तथा “नाना के कोई पुत्र न हो तो उस का और अपने पिता का दोनों का पिण्डदान करे और वही एक सन्तान दोनों अर्थात् अपने पिता का और ननशाल का धन लेवे” इत्यादि मनुस्मृति के वाक्य विरुद्ध पड़ेंगे क्योंकि जिस को पिण्ड देने का अधिकार है वही उस का दायभागी होगा। अथवा जिस का दिया पिण्ड उस पितादि को पहुँच सकता है वही २ पिण्डदाता उस २ का दायभागी हो सकता है ॥

इस पर यहाँ समाधान दिया जाता है और आहुविचार के प्रकरण में भी कुछ कहा है कि पिण्डशब्द ग्रास कौरा रोटी वा टुकड़ा का उपलक्षक है। “आठ पिण्ड—ग्रास मध्याह्न में खावे। कुत्ता पिण्डनाम कौरा देने वाले की सेवा वा उपासना करता है” इत्यादि प्रमाणों के अनुकूल पिण्डशब्द ग्रास वा कौरा का वाचक स्पष्ट ही है। जैसे स्त्रियाँ विवाह के पश्चात् अपने पति से भोजन वस्त्र पाने की भागिनी होती हैं। यदि कदाचित् पति भोजनादि देकर अपनी स्त्री की रक्षा न करे तो राजा को उचित है कि उस के पति से भोजन वस्त्र दिलाकर रक्षा करावे और वे स्त्री लोग भी राजदरबार में निवेदनपत्र (अर्जी) देकर वा दिलाकर अपने निर्वाह के लिये उन पुरुषों की शक्ति के अनुसार उन से भोजन वस्त्र ले सकती हैं। और कोई २ स्त्रियाँ ऐसा करती भी हैं। वैसे यहाँ भी जिस २ का उस पितादि के साथ जिस २ की अपेक्षा निकट सम्बन्ध है उस २ का साक्षात् वा परम्परा से वह पितादि रक्षक रहा वा है। जिस पितादि ने उन अपने सम्बन्धी पुत्रादि का किसी प्रकार उपकार किया है उन पुत्रादि पर वृद्धावस्था में

पितादि का रक्षा कराने का भार (हक) है । उस समय वे वृद्धपितादि शरीर और इन्द्रियों के शिथिल हो जाने से धनादि का उपार्जन कर अपने शरीर की भोजन वस्त्रादि के व्यवहार से ठीक २ रक्षा नहीं कर सकते । इस कारण उस वृद्धावस्था में जिन २ पर उन वृद्धों की रक्षा का भार है उन की न्यायानुकूल रक्षा न करने पर जो पुत्रादि राज्य की ओर से दण्ड पाने योग्य हैं । अथवा राजा बलपूर्वक जिन के द्वारा उन वृद्ध पितादि की रक्षा करा सकता है वा राजा को न्यायानुसार रक्षा करानी चाहिये वे २ पुत्रादि उन पितादि को पिण्डनाम भोजनादि देने के अधिकारी और उन के मरने पर दायभागी अर्थात् सब वस्तु के स्वामी होने के योग्य हैं । क्योंकि वे जीते हुए वृद्धपितादि को पिण्डनाम भोजनाच्छादनादि देकर रक्षा करने के अधिकारी रहे । लोक में सम्पूर्ण व्यवहार परस्पर के उपकार प्रत्युपकार से ही चल रहा है जिस ने पहिले किसी प्रकार जिस का उपकार किया हो उस को पीछे उस का प्रत्युपकार अवश्य करना चाहिये । और योनिसम्बन्ध में निकटवर्त्ती वा दूरवर्त्ती होने से जितना परस्पर उपकार किया जाता है । उतना अन्य किसी से नहीं हो सकता । जैसे पिता पुत्र को उत्पन्न कर उस का सर्वथा रक्षादि द्वारा महान् उपकार सकता है । जब पुत्र समर्थ हो तब उस को वृद्धावस्था पर्यन्त अपने माता पिता का भोजन वस्त्रादि द्वारा महान् उपकार करना चाहिये फिर वही पुत्र अपने पितादि के सञ्चित किये वस्तुओं का पितादि के मरने पर लेने वाला होता है । यदि कदाचित् किसी प्रकार पिण्डनाम भोजनादि से पितादि की रक्षा करने का अवसर वृद्धावस्था में भी न आवे तो भी उन पुत्रादि के पिण्डदाता होने वा कहे जाने में कोई दोष नहीं है क्योंकि अवसर होने से पिण्ड देने का भार उन पर है जिस कार्य के करने का भार जिस पर है वह चाहे किसी कारण किसी देश वा किसी काल में उस कार्य को न करे वा न कर सके तो सामान्य नियम में बाधा नहीं पड़ सकती । यदि कोई निमित्त न होता तो वह अवश्य वैसा करता । जो निपम सामान्य कर सर्वत्र के लिये होता है उस की प्रवृत्ति कहीं न होने पर सामान्यकथन की हानि समझना ठीक नहीं है । अब आगे पूर्वोक्त याज्ञवल्क्यादि के पिण्डदानविषयक श्लोकों का अर्थ करते हैं—जिस कारण नियोग से उत्पन्न हुआ पुत्र अपने पिता माता दोनों की भोजनादि से रक्षा करने वाला है इसी से वह दोनों का दायद है यह याज्ञवल्क्यस्मृति का आशय है । वारह पुत्रों में से पहिले २ के

में अगला २ पिण्ड देने वाला और दायभागी होता है। जो जिस की पिण्ड देने के लिये अधिकारी है वह उस के वस्तु का ग्रहण करने वाला हो यह न्यायानुकूल ही बात है। “वही दौहित्र-धेवता अपने नाना और बाप दोनों को दो पिण्ड देवे,” इस मनु के वचन का आशय यह है कि जब नाना के कोई अन्य अपना निज औरस पुत्र न हो तब वह धेवता ही नाना के लिये वृद्धावस्था में पिण्ड अर्थात् भोजनादि दे कर रक्षा करने का उद्योग करे। ऐसा होने पर वही दौहित्र उस नाना का दायद (हकदार) होगा। अपने पिता के लिये पिण्ड देना और उस का दायद होना तो सिद्ध को ही दिखाने रूप सिद्धानुवाद है। इसी प्रकार दायभाग में पिण्डदान की चर्चा वाले सब वाक्य इसी उक्त सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थित हो जाते हैं। पिण्डशब्द से पकाये हुए रोटी आदि अन्न का ग्रहण है क्योंकि वृद्धावस्था में पितादि अपने हाथ से पाकादिक भी नहीं कर सकते। यदि कोई कहै कि रसोइयादि से करा लेंगे तो उत्तर यह है कि प्रथम तो रसोइया रखना सब का काम नहीं किन्तु धनी ही रख सकते हैं और धनी भी हों तो रसोइयादि कर्मचारियों से काम लेने और धनादि की रक्षा के लिये कोई पुरुषार्थी मनुष्य होना चाहिये किन्तु वृद्ध से सब प्रबन्ध नहीं हो सकता। इस लिये उन को बनाया हुआ भोजन प्रीतिपूर्वक वही पुरुष देवे जो उस समय पर अन्वियों की अपेक्षा निकटवर्ती सम्बन्ध वाला हो। जिस के ऊपर भोजन वस्त्रादि देके अशक्त असमर्थ दशा में पितादि की रक्षा करने का भार है वही पिण्डदान जानो अर्थात् जिन को पितादि की वृद्धावस्था में पिण्डनाम भोजनादि देना चाहिये वे ही पुत्रादि पिण्डदाता हैं उन्हीं का पिण्ड पितादि को पहुंच सकता और पितादि का उन पर पिण्ड लेने का दायनाम हक है इसी कारण उन के मरण पर वे ही पिण्डदाता पुत्रादि उन के पदार्थों के दायभागी होने चाहिये यह मनु आदि का सिद्धान्त पक्ष है ॥

अथ सापिण्डविचारः ॥

समानो वीर्यरुधिराद्यन्वयेनैकत्वमापन्नः पिण्डो देहो येषां ते सपिण्डाः। यद्वा योनिसम्बन्धसन्निध्यात्समान एकत्वमापन्नः पिण्डो ग्रासाद्युपलक्षितभोजनव्यापारो येषां ते सपिण्डाः। यस्य भोजनं येन पुत्रादिना पित्रादिना वा न्यायतः प्रापणीयं स तस्य सपिण्डो-

ऽस्ति । याज्ञवल्क्यस्मृतिसहवर्त्तिन्यां मिताक्षरायां च सापिण्ड्यनिर्ण-
यावसर इत्थमुक्तम्—“सपिण्डता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति ।
तथाहि पुत्रस्य पितृशरीरावयवान्वयेन पित्रा सह सापिण्ड्यम् ।
एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात् । एवं
मातृशरीरावयवान्वयेन मात्रा । तथा मातामहादिभिरपि मातृद्वारेण ।
तथा मातृष्वसृमातुलादिभिरपि एकशरीरावयवान्वयात् । तथा
पितृव्यपितृष्वस्त्रादिभिरपि । तथा पत्या सह पत्न्या एकशरीरार-
म्भकतया । एवं भ्रातृभार्याणामपि परस्परमेकशरीरारब्धैः सहैकश-
रीरारम्भकत्वेन । एवं यत्र यत्र सपिण्डशब्दस्तत्रतत्र साक्षात्परम्प-
रया वा एकशरीरावयवान्वयो वेदितव्यः । यद्येवं मातामहादीनाम-
पि दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयत इत्यविशेषेण प्राप्नोति ।
स्यादेतत् यदि तत्र प्रत्तानामित्तरे कुर्युरित्यादिविशेषवचनं न स्यात् ।
अतश्च सपिण्डेषु यत्र विशेषवचनं नास्ति तत्र दशाहमित्येतद्वचन-
मवतिष्ठते । अवश्यं चैकशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यं वर्णनीयम् ।
आत्मा हि जज्ञे आत्मन इत्यादि श्रुतेः । ” परमतमप्रतिषिद्धं स्व-
मतमिति हि तन्त्रयुक्तिरिति वात्स्यायनभाष्यमनुसरता मयापि
मिताक्षरावर्णनमूरीकृतम् । द्वितीयश्च पक्षः पिण्डोपलक्षितभोजनं
यस्य येन समानमिति मिताक्षराकारेण नाङ्गीकृतः । उभयविधमिदं
सापिण्ड्यं ब्राह्मणादिवर्णमात्रे कथञ्चिन्मनुष्यमात्रे वा सम्भवती-
त्यनवस्थादोषनिवारणाय योगरूढित्वमस्य शब्दस्य मनुना पञ्च-
माध्याय उक्तम्—सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते । एवंविध-
सापिण्ड्यसिद्धान्ते सिद्धे मृतोद्दिष्टपिण्डसामान्यतया सापिण्ड्यव-
र्णनं निराकृतं भवतीति कथनस्याशयः ॥

अथ समासेन स्त्रीदायविचारः । केचिद्धर्मशास्त्रविदो विद्वांसः स्त्रीणां दायमेव नेच्छन्ति न वदन्ति वा । इत्थमेव च पूर्वजधर्म-शास्त्रकारमन्वादिमहर्षीणामपि राद्धान्तं वर्णयन्ति । तत्तु न सम्यक् । यतो मनुनैव स्पष्टमुक्तम्—

स्वेभ्योऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भातरः पृथक् ।

स्वात्स्वादंशाञ्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥

अत्र मेधातिथ्यादयो भाष्यकाराः कन्याशब्देनानूढानामेव ग्रहणं कृत्वा तासामुद्वाहसंस्कारार्थं भ्रातृभिर्दातव्यमिति वर्णयन्ति । यदि पितुर्मरणात्पूर्वमेव कन्यानामुद्वाहः स्यात्तदा न दातव्यमिति तदा-शयः । इत्थमेव च याज्ञवल्क्यस्मृतौ मूले मिताक्षरायां च वर्णि-तम् । तदेव दृष्ट्वा र्वाचीनभाष्यकारैरप्युक्तमित्यनुमीयते । यद्ययमेव सिद्धान्तस्तदा भार्याया अर्द्धाङ्गित्वं विरुध्यते । मूले च किमपि पदं तादृशं नास्ति येनानूढानामुद्वाहार्थं चतुर्थभागकल्पना सम्भाव्येत । अन्यदपि मनुनोक्तं नवमेऽध्याये—

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।

तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ॥

अत्र धर्मत इति पदं पुत्रदुहित्रोर्भेदं निराकरोति । एतत्कथने-नानुमीयते पूर्वमपि केचिद्भेदं ज्ञातवन्त इति । लोकेऽपि सामान्य-तया मातापितरौ पुत्रं दुहितरं च तुल्यप्रीत्यैव पश्यन्ति । चतुर्थभाग-मिति वैषम्येन न्यूनांशकल्पना तु पाणिग्राहधनस्यापि कथञ्चित्स्वाम्यं तासां भवतीति मनसिकृत्य कृता तत्तूचितमेवास्ति । यदि कुत्राप्यंशे पुरुषापेक्षया स्त्रीणां पारतन्त्र्यमप्राधान्यं वास्ति तर्हि पुरुषस्यापि कुत्रचिदप्राधान्यं भवितुं युज्यते । यथा ब्राह्मणापेक्षया क्षत्रियस्य

कथमप्यप्राधान्यमस्ति तथैव कुत्रचिदंशे क्षत्रियापेक्षया ब्राह्मणस्याप्यप्राधान्यमस्ति तादृशप्राधान्याऽप्राधान्याभ्यां स्त्रीणां दायनिषेधः कर्तुमशक्यः । पुरुषापेक्षया कथञ्चित्स्त्रीणामप्राधान्यमूरीकृत्य दायस्य पुत्रापेक्षया न्यूनत्वं सम्भवति । कन्याः पित्रोः सेवावसरे वार्द्धक्ये पत्युर्वेदमनि तिष्ठन्ति तत्रत्यानि च कार्याण्यालोचयन्तीति मत्वा तदप्राधान्यमभिमतम् । पुत्रास्तु सुशिक्षिताः सन्तो नैरन्तर्येण पित्रोर्वेदमशोभयन्तस्तयोरेव सेवामहर्निशं विदधति । पुत्राभ्यां पितुर्नाम गोत्रं च परम्परया प्रवर्तते कन्याश्चान्यगोत्रे मिलित्वा पत्युः श्वशुरस्य च नाम्नः प्रवृत्तिहेतवो भवन्ति । अनेन तासामपत्यत्वं दायश्च सर्वथा न स्यादिति धर्मविरुद्धम् । येन मार्गेण यादृशक्रियया श्रमेण च पुत्रा उत्पाद्यन्ते पाल्यन्ते च तादृश एव कन्यानामपि मार्गोऽस्ति पुनः सर्वथा स्वत्वनिवारणे को हेतुः ? । यदि कन्यानां मातापित्रोर्धनादौ स्वत्वं न स्यात्तदा मात्रादीनामपि हार्दिकी प्रीतिर्न स्यात्तत्तु न दृश्यते । यदा पुत्रदुहित्रोः समा प्रीतिरस्ति पुनरिदमेव पित्रोर्धने द्वयोः स्वत्वं सूचयति । यच्च मेधातिथ्यादिभिः कन्याशब्दस्यानूढापरत्वमुक्तं तत्सर्वसाधारणापेक्षया तथास्तु । मातापित्रोरपेक्षया भ्रात्रापेक्षया वा तासां सदैव कन्यात्वमस्ति तथैव च ते सदा व्यवहरन्ति । यथा पलितशिरस्कमपि स्वापत्यं पिता बालपुत्रवत्सादिशब्दैरेवाह्वयति तथैव कृतोदाहामपि पितरौ कन्याशब्देनैव व्यवहरतः । अतः कन्याशब्देन तत्रानूढानां ग्रहणं न कार्यमपितृभयविधानां ग्रहणमुचितम् । यत्रैका कन्या बहवश्च भ्रातरस्तत्र भ्रातृभिः समानं शान्प्रकल्प्य स्वात्स्वादंशाञ्चतुर्थं चतुर्थं भागं सर्वे तस्यै दद्युः । यत्र चैको भ्राता बह्व्यश्च भगिन्यस्तत्र सर्वमूलधनाञ्चतुर्थभागमादाय सर्वाभ्यः

समानंशान्दद्यात् । एवमन्यत्रापि संयोज्यं विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः ।
अनेन सिद्धं पितुर्धने कन्यानामपि दायोऽस्ति । तस्मात्ताभ्योऽपि यथो-
चितो भागो दातव्य इति मानवः सिद्धान्तः संक्षेपेणोक्तः ॥

भाषार्थः—अब सापिण्ड्य शब्द पर कुछ विचार किया जाता है । समान और पिण्डशब्द को मिला कर सपिण्डशब्द बनता और उस से भावकर्म अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होकर सापिण्ड्य सिद्ध होता है । वीर्य रुधिरादि की परम्परा से जिन का पिण्डनाम देह एकता को प्राप्त है वे मनुष्य परस्पर सपिण्ड कहते हैं । अथवा इस शब्द का द्वितीय अर्थ यह भी हो सकता है कि योनिसम्बन्ध की समीपता से पिण्डनाम ग्रासोपलक्षित भोजन व्यापार जिन का एक है जिन को सब प्रकार का भोजन परस्पर मिल कर करने में किसी प्रकार की घृणा नहीं उन को भी सपिण्ड कह सकते हैं । जिन पुत्रादि वा जिन पितादि को जिन अपने सम्बन्धी आदि का भोजन न्यायपूर्वक करना चाहिये वे उन के सपिण्डी कहे वा माने जाते हैं । इस सिद्धान्त पर जो अतिव्याप्ति दोष आ सकता है उस की निवृत्ति आगे की गई है । याज्ञवल्क्यस्मृति पर जो मिताक्षरा टीका है उस में सपिण्डता के विचार प्रसङ्ग पर इस प्रकार लिखा है कि—“सपिण्डता भी एक शरीर का अंश परम्परा से अनेकों में जाने से होती है जैसे पिता के शरीर का अंश पुत्र में आने से पिता के साथ पुत्र की सपिण्डता है इसी प्रकार पिता में पितामह के शरीर का अंश होने से पिता के द्वारा पौत्र की पितामह (दादा) के साथ सपिण्डता है । इसी प्रकार माता के शरीर का अंश पुत्र में आने से माता के साथ पुत्र की सपिण्डता तथा माता के द्वारा नाना आदि के साथ भी सपिण्डता है । और सौसी वा मामा आदि के साथ भी माता के द्वारा सपिण्डता है क्योंकि जिन के शरीर से माता का शरीर बना उन्हीं से मामा वा सौसी का भी बना है इस कारण वे भी सपिण्ड हैं तथा चाचा और बुआ आदि के साथ भी पिता पितामह के द्वारा सपिण्डता मिलती है । और स्त्री पुरुष दोनों से एक पुत्रादि का शरीर बनता है इस लिये पुत्रादि द्वारा स्त्री पुत्र की सपिण्डता है । और द्यौरानी जिठानी आदि आपस में एक श्वशुर के शरीर से बने पतियों के साथ मिल के एक २ पुत्रादि के शरीर का कारण होने से सपिण्डता है । इसी प्रकार जहां २ सपिण्ड शब्द की प्रवृत्ति है वहां २ साक्षात् वा परम्परा

से शरीरांश मिलने का विचार जानना चाहिये । यदि ऐसा होने पर जो मनु आदि धर्मशास्त्रों में सपिण्ड वालों को दश दिन की मृतक अशुद्धि मानना लिखा है सो नाना आदि को भी सामान्य कर प्राप्त होगी । इस का समाधान यह है कि “जो कन्या पतिकुल में चली गई उन के पुत्रादि सम्बन्धी आशौच उसी कुल वालों को होगा ” इत्यादि विशेष विचार न हो तो नानादि को भी आशौच लग सकता है । यह सपिण्डसम्बन्धी विचार शरीरांश के मेल से अवश्य मानना चाहिये क्योंकि पिता का स्वरूप ही पुत्र उत्पन्न होता है यह वेद का सिद्धान्त है” न्यायसूत्र पर वात्स्यायन भाष्य में लिखा है कि “अन्य का विचार अपने अनुकूल हो तो वह अपना सिद्धान्त जानो यह शास्त्रकारों की युक्ति वा शैली है” इसी के अनुसार हम ने भी मिताक्षरा का वर्णन यहां अपने सिद्धान्त पक्ष में रक्खा है । दूसरा पक्ष जो भोजन की एकता से सपिण्डता मानी है इस को मिताक्षराकार ने नहीं माना । इस दोनों प्रकार की सपिण्डता का ब्राह्मणादि वर्णमात्र में वा मनुष्यमात्र में लक्षण चला जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जावेगा क्योंकि शरीर के अंश की एकता मिलाने लगे तो उस की उस से उस की उस से मिलते २ सब की एकता सब के साथ परम्परा से मिल सकती है [सम्बन्धी का सम्बन्ध-नाते का नाता खोजते २ अवधि मिलना दुस्तर है यह अनवस्थापत्ति दोष कहाता है] इसी प्रकार भोजन की परम्परा भी एक से दूसरे की और दूसरे से तीसरे की मिलते २ सब के साथ सब की सपिण्डता प्राप्त होगी । इस अनवस्था दोष को हटाने के लिये मनु जी ने पञ्चमाध्याय में इस शब्द को योगरूढ लाक्षणिक अर्थ से ठहराया है कि “सप्तम पीढ़ी में सपिण्डता समाप्त हो जाती है” । अर्थात् जिन २ की जिन २ के साथ सपिण्डता मानी गयी है उन २ की सात पीढ़ी के अन्तर्गत ही रहेगी । इस प्रकार जब सपिण्डता का सिद्धान्त ठीक सिद्ध हो गया तो मरे हुए को पिण्ड देने की रीति से सपिण्डता के मानने वा कहने की शङ्का दूर हो जाती है यह सपिण्डता के वर्णन का आशय है ॥

अब संक्षेप से स्त्री के दाय का विचार किया जाता है । कोई २ धर्मशास्त्र के ज्ञाता स्त्रियों का दाय नहीं मानते वा चाहते । और ऐसा ही पूर्वजधर्मशास्त्रकार मनु आदि महर्षियों का सिद्धान्त भी कहते वा मानते हैं सो ठीक नहीं है । क्योंकि मनु ने ही नवमाध्याय के दायभागप्रकरण में स्पष्ट कहा है कि—
“भाई लोग अपने २ अंशों में से कन्याओं के लिये चौथा २ भाग पृथक् २ दें

और यदि कन्याओं अर्थात् पिता के धन में से भगिनियों को भाग न दें तो शास्त्र की आज्ञानुसार वे पतित मानने चाहिये । इस सीधे अर्थ को मेधातिथ्यादि भाष्यकारों ने झमेला में डाल दिया है कि विवाह न होने से पूर्व ही कन्या शब्द से ग्रहण करके उन कन्याओं के विवाहसंस्कार के लिये भाइयों को अपने अंश से चतुर्थांश देना चाहिये ऐसा वर्णन करते हैं । और इसी से यह भी आशय निकल सकता है कि यदि पिता के मरने से पूर्व ही कन्याओं का विवाह हो जावे तो पीछे बांट होने पर नहीं देना चाहिये । पर मनु जी का यह आशय होता तो चौथा भाग देना नहीं लिखते किन्तु स्पष्ट यह लिख देते कि कन्याओं का विवाह करने से पहिले पिता मर जावे तो रियासत वा धन में से कन्याओं के विवाह को यथोचित धन पृथक् निकाल कर पीछे भाई लोग बांट करें । क्योंकि वैसा लिखने में अनेक दोष आवेंगे । जहाँ कुछ रुपया पैसारूप धन इकट्ठा हो उस में से तो कन्याओं के लिये विवाहार्थ देना बन सकता है । मान लीजिये कि कदाचित् पिता के समय की कुछ सम्पत्ति नहीं और वह छोटी २ कन्या छोड़ कर मर गया तो क्या भाइयों पर अपने पैदा किये धन से विवाह करने का भार धर्मशास्त्र की आज्ञा के अनुसार नहीं होना चाहिये ? । द्वितीय यदि पिता के मरने बाद हजार गांवरूप सम्पत्ति राज्य हो और उस का एक ही पुत्र अधिष्ठाता हो तो क्या २५० ग्राम की जमींदारी कन्या के विवाहार्थ दी जावे ? । जब इन लोगों को कन्याओं के लिये भाग दिलाना ही अभीष्ट नहीं फिर जमींदारी उन के नाम कैसे इष्ट हो सकती है और २५० वा ५०० ग्राम का मूल्य विवाह में व्यय भी नहीं हो सकता यदि कुछ कन्या को दे दिया जावे तो वह विवाह के व्यय में नहीं समझा जावेगा । तात्पर्य यह है कि यदि विवाह-मात्र का प्रबन्ध भाई लोग कर दें यही आशय धर्मशास्त्र का होता तो चौथा भाग कन्याओं को देना नहीं कहते क्योंकि कहीं तो चौथे भाग से [एक दो रुपया हो तो] विवाह हो नहीं सकता और कहीं चौथा भाग इतना हो सकता है जिस से सहस्रों विवाह हो जावें । इस लिये मेधातिथ्यादि भाष्यकारों की कल्पना ठीक नहीं है । और यह कल्पना केवल मेधातिथि आदि की ही नहीं है किन्तु मूल याज्ञवल्क्यस्मृति और मिताक्षरा टीका में भी ऐसा ही वर्णन किया है अनुमान होता है कि उन्हें को देख कर इन नवीन भाष्यकारों ने भी वैसा माना होगा । यदि इस सिद्धान्त को मानें तो स्त्री को अर्द्धाङ्गी मानना विरुद्ध

पड़ता है क्योंकि अर्द्धाङ्गी मानने का मुख्य प्रयोजन यही है कि सर्वत्र जड़ वा चेतन में आधा भाग स्त्री का और आधा पुरुष का है। मनुष्य के शरीर में विचारदृष्टि से देखें तो स्त्री का भाग अधिक और पुरुष का कम है क्योंकि गर्भाधान के दिन पुरुष का थोड़ासा अंश पड़ता और पीछे सब गर्भ का शरीर स्त्री के शरीर से बनता वा बढ़ता और नवमास के पश्चात् भी जब तक माता का दूध पीता है तब तक माता से ही बालक बढ़ता है इस लिये माता का भाग पुत्र के शरीर में अधिक है इसी कारण पिता की अपेक्षा सहस्र गुणी सेवा सन्तान को माता की करनी चाहिये यह धर्मशास्त्रकारों की आज्ञा है। इसी लिये पुत्र पर माता का अधिक बल वा दाय होना चाहिये। यदि वृद्धावस्था में कन्या पुत्र माता की ठीकर सेवा शुश्रूषा न करें तो राजद्वार से बलात्कार पुत्रों की कमाई में से माता लेसकती है [इसी स्त्री की प्रधानतारूप मूलपक्ष को लेकर कभी शाक्तमत चला हो ऐसा अनुमान होता है] इस के अनुसार स्त्री का अर्द्धभाग से भी अधिक होना चाहिये सो उसको पिता के धन में से कुछ न देना अन्याय क्यों नहीं हुआ ? और मूल श्लोक में वैसा कोई पद नहीं है जिस से अविवाहित कन्याओं के विवाहसंस्कारार्थ चौथे भाग की कल्पना समझी जावे। तथा नववें अध्याय में मनु जी ने कहा है कि “पुत्र के पुत्र और पुत्री के पुत्र में धर्म से देखा जाय तो कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं है क्योंकि पौत्रनाम पोते का पिता और दौहित्रनाम धेवते की माता ये दोनों उसी पुरुष के शरीर से उत्पन्न हुए हैं ” इस का अभिप्राय यह है कि जब कन्या और पुत्र दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं है तभी उन के सन्तान भी बराबर के अधिकारी हो सकते हैं। इस श्लोक में धर्मतः पद कहने का अभिप्राय यह है कि पुत्र कन्या बराबर के अधिकारी हैं। इस कथन से अनुमान होता है कि पहिले भी कोई लोग कन्या पुत्र में भेद मानते थे सो यथोचित भेद मानना तो ठीक ही है। लोक में भी सामान्य कर माता पिता पुत्र और कन्या को एकसी प्रीति से देखते हैं। और कन्या को जो भाइयों की अपेक्षा चतुर्थांश कम भाग देना लिखा इस का अभिप्राय यह है कि कन्या को पति के धन पर भी किसी प्रकार का अधिकार होगा और पति के धन का ही प्रायः भोग करेगी यह तो उस को केवल अपना स्वत्व रखने तथा आपत्काल में निर्वाह के लिये दिया जाता है। विवाह कर देने का तो पिता वा पिता के पीछे भाइयों पर सर्वथा भार है ही। तथा पूर्वकाल वा

शास्त्र के विचारानुसार विवाह कर देने में धन का तो कुछ व्यय होता भी नहीं जिस के लिये चौथा भाग देने की आज्ञा दी जाती। और यदि किसी अंश में पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों की पराधीनता वा न्यूनता है तो स्त्री की अपेक्षा किसी अंश में पुरुष की भी प्रधानता हो सकती है। जैसे ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय को किसी प्रकार अप्रधानता है वैसे किसी अंश में क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण की भी अप्रधानता हो सकती है। ऐसी प्रधानता वा अप्रधानता से स्त्रियों के दाय का निषेध नहीं कर सकते किन्तु पुरुष की अपेक्षा किसी प्रकार स्त्रियों की अप्रधानता मान के पुत्र की अपेक्षा कम धनांश दिया जाय यह हो सकता है। सो यह न्यूनता कन्याओं में इस लिये मानी गयी है कि वृद्धावस्था में जब कि पिता माता की सेवा का समय आता है तब कन्या अपने पति के घर में होती और वहीं के कामों को सम्हालती हैं और पुत्र तो अच्छी शिक्षा पाकर निरन्तर पिता के घर को सुशोभित करते हुए दिन रात वृद्धावस्था में माता पिता की सेवा में तत्पर रहते वा रह सकते हैं। पुत्रों से पिता का नाम और गोत्र भी बराबर आगे को चलता है तथा कन्या अन्य पति के गोत्र में मिल के सन्तानोत्पत्ति द्वारा अपने पति और प्रवशुर का नाम चलाने वाली होती हैं इस कारण से पुत्रों की प्रधानता और कन्याओं की कुछ न्यूनता वा अप्रधानता मानी जाती है पर इस से उन कन्याओं का सन्तानपन और दाय का छूट जाना नहीं हो सकता और ऐसा किया जाय तो धर्म से विरुद्ध है। जिस मार्ग से वा जैसी क्रिया और अम से पुत्रों की उत्पत्ति की जाती वा पालनपोषण होता है वैसा ही सब कन्याओं की उत्पत्ति में भी करने पड़ता है फिर पुत्रों का स्वत्व रहे और पिता के धन में कन्याओं का भाग न रहे इस में क्या कारण है? यदि माता पिता के धनादि में कन्याओं का स्वत्व न हो तो मातादि की भी हृदय से उन पर प्रीति न होनी चाहिये सो ऐसा नहीं दीखता पुत्रों के तुल्य कन्याओं पर भी प्रीति का होना ही उन के दाय का सूचक है और जो भेदातिथि आदि भाष्यकारों ने कन्याशब्द से कुआरी का ग्रहण किया है सो सर्वसाधारण मनुष्यों की अपेक्षा वे कन्या न समझी जायें यह हो सकता है परन्तु माता पिता और भाइयों की अपेक्षा तो उन में सदा कन्यापन ही रहता है और वे लोग कन्या बेटी छोरी आदि शब्दों से ही सदा व्यवहार करते वा बुलाते हैं। जैसे श्वेत वाल हो जाने पर भी पिता अपने पुत्रों को वालक पुत्र वा वत्सादि शब्दों से ही बुलाता है वैसे ही विवाही

हुई कन्याओं को भी साता पिता कन्याशब्द से ही व्यवहार करते हैं । इस कारण कन्याशब्द से उक्त मनुस्मृति के श्लोक में कुआरियों का ग्रहण नहीं करना चाहिये किन्तु विवाहित अविवाहित दोनों का ग्रहण समझना चाहिये । जहां एक कन्या और बहुत भाई हों वहां पिता के मरने पर सब भाई लोग बराबर अपने हिस्से करके अपने २ अंश से चौथे २ भाग को उस भगिनी के लिये देवें और जहां एक भाई तथा बहुत बहिनें हों वहां सब मूल धन से चतुर्थांश लेकर सब के लिये बराबर भाग कर देवे । इसी प्रकार अन्यत्र भी लगा लेना चाहिये इस का विस्तार भाष्य में देखना चाहिये । इस से सिद्ध हो गया कि पिता के धन में कन्याओं का भी दाय (हक) है इस लिये उन को भी यथोचित भाग देना चाहिये यह संक्षेप से मनु का सिद्धान्त कहा गया है ॥

अथ नवमाध्यायप्रक्षिप्तविचारः ॥

प्रथमं त्रयोविंशं चतुर्विंशं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तमस्ति । द्वाविंश-
पद्ये सिद्धानुवादतया पत्युत्कृष्टापकृष्टगुणाधिक्याद्भार्याया अपि
तादृशमेवोत्कृष्टापकृष्टगुणाधिक्यं सम्भवति । तदेतत्प्रायेणाधमम-
ध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायत इत्यस्यैव सङ्गतिजन्यफलस्य व्या-
ख्यानरूपं कथनमस्ति । एतस्योदाहरणद्वयं तस्मिन्पद्यद्वये वर्णित-
म् । तत्र चोदाहरणस्यापेक्षैव न दृश्यते । कथञ्चिदपेक्षा स्यात्तथा-
पि तादृशार्वाचीनानां स्त्रीणां ततोऽधिकतरप्राचीने मानवधर्मशास्त्रे
कथं वर्णनं सङ्घटेत ? न कथमपीति । नहि पितुर्जन्मसमये पुत्रक-
त्यानां कोऽपि वर्णनं कर्तुं शक्नोति । यदा वसिष्ठेनाक्षमाला मन्द-
पालेन शारङ्गी च भार्यात्वेनाभ्युपगता ततः पूर्वमेवेदं शास्त्रं भृगुणा
प्रोक्तम् । तथाऽक्षमाला चाण्डालीति कैश्चिद्भाष्यकारैरुच्यते । अध-
मयोनिजानां भार्याणां शिष्टसंयुक्तानां यद्युत्कृष्टत्वं स्यात्तदा धर्म-
शास्त्रे शूद्रयाऽन्त्यजया वा सार्द्धं विवाहेन महदनिष्टफलं प्रदर्शितम्—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्ग्रहन्तो द्विजातयः ।

कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥

शूद्रा वेदीपतयत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।

शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥

इत्यादिकथनं विरुध्यते । यद्युत्कृष्टार्थमेतत्कथनं न स्यात्तदा-
पकृष्टाः स्वतएव निरुष्टास्तेषां शूद्रया सार्द्धं विवाहेऽपि नास्त्यनिष्ट-
म् । अतः संसर्गजगुणदोषाणां जातिव्यत्यये तात्पर्यं नास्ति किन्तु
समानजातौ यापकृष्टगुणवती भर्तुरपेक्षया स्यात्सा विद्याशिक्षाद्यु-
त्कृष्टगुणवती शान्तिशीला भवितुमर्हति । न च वसिष्ठसदृशो वे-
दादिधर्मशास्त्रवित्तपस्वी चाण्डाल्या साकमुद्राहं कुर्यादिति कोऽपि
प्रेक्षावान् विश्वासं करिष्यति । तथा मन्दपालेन केनचिद्विषिणा
शारङ्ग्या चटकया साकं विवाहः कृतः । शारङ्गी काचिञ्चटकास्ति ।
विवाहस्ययत्फलं प्रयोजनं वा तच्चटकया कथं निष्पन्नमिति स एव
पथप्रक्षेप्ता प्रष्टव्यो धीमद्भिः किं बहुनात्र प्रलापेन । उक्तप्रकारक-
बहुदूषणानां सत्त्वात्प्रक्षिप्तं तत्पथद्वयम् ॥

अग्रे पञ्चषष्ठितमपद्यादारभ्याष्टषष्ठितमपद्यावधि चत्वारि पद्या-
नि स्पष्टं प्रक्षिप्तानि । कश्चिद्यदि चतुष्षष्टिपद्याग्रे मध्यस्थानि चतुः-
पद्यानि त्यक्त्वोनसह्यतितमं पद्यं पठेत्तदा नास्ति कथमपि प्रकर-
णविरोधः । सङ्गतिश्च तेषु सत्स्वसत्सु वा समानैवास्ति तस्मात्कार-
णात्तानि पद्यानि प्रक्षिप्तानि वेद्यानि । यथा क्रमेण व्यवस्थितमा-
लामध्यादेकमपि विद्रुमं कोपि निस्सारयेत्तदापि सर्वे मालावयवाः
परस्परमसम्बद्धास्सङ्गतिरहिताश्च भविष्यन्ति । तथाऽत्रापि स्यात्
तत्तु नास्ति तस्मात्प्रक्षिप्तानि । नियोगस्य निषेधकपद्येषु सर्वज्ञाना-

रायणभाष्यकृतोक्तम्—“एवमेतत्सर्वमृष्यन्तरमतमुक्त्वा स्वमतमाह
नेति” तच्च नास्ति सम्यक्—यदा प्रतिज्ञातमतः परं प्रवक्ष्यामि
योषितां धर्ममापदीति तदाऽनेन स्पष्टं मनोरेवापदर्थः सिद्धान्त
आगतः स च वेदानुकूल इति स्पष्टम्। वेदे च स्पष्टमेव नियोगक-
रणायाज्ञा दत्ताऽस्ति—यथा—

**उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष-
एहि । हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनि-
त्वमभिसम्बभूय ॥ ऋ० १०।१८।८**

अत्र पत्यन्तरविधायके मन्त्रेऽर्थस्यापि विवादो नास्ति। हे नारि
त्वं गतासुं मृतमेतं पतिमुपशेषे तस्य समीपे शोकेन पतितासि तं
विहायाभिजीवलोकं जीवन्तं प्राणिसमूहमभिमुखीकृत्योदीर्ष्वोत्ति-
ष्ठ। उत्थाय च तव हस्तग्राभस्य पाणिग्रहणकर्तुर्दिधिषोर्हितीयस्य
पत्युरिदं जनित्वं जायात्वं स्त्रीभावमभिसम्बभूय। अस्य मन्त्रस्या-
यमेवार्थः सायणादिवेदभाष्यकारैरप्यभ्युपगतः। तथा मेधातिथिना
भाष्यकारेणापि लिखितम्—“को वा स पुत्रो विषवेव देवरं मया-
नुदोषा कृणुते सधस्थ आ इत्यादि” एवम्प्रकारका मन्त्रा नियोग-
विधायका वेदेष्वपि दृश्यन्त इति मेधातिथेस्तत्त्वार्थम्। उद्दिष्टा
मन्त्राश्च मेधातिथिना पाणिग्रहणसंस्कारस्याभिधायका एवाभ्युप-
गताः। तच्च नास्ति ग्राह्यम्। वेदेषु यदा नियोगस्य कर्तव्यत्वमुक्तं
पुनस्तस्य निन्दका वेदविरोधिना इति स्पष्टमेव सिद्धम्। वेनस्य
राज्ञः समथान्नियोगस्य प्रवृत्तिदर्शनेन निषेधकस्य स्पष्ट एवाशयो-
स्ति यद्देदोको नियोगो नास्ति वेदोक्तस्य पुरातनत्वं सनातनत्वं च

वेदोक्तत्वादेवागच्छेत् । अतस्तेनादौ नियोगस्य वेदोक्तत्वं निराकृत्य
वेनराज्यशासनरूपः प्रवृत्तिसमयः प्रदर्शितः । अतो मेधातिथेरुद्वा-
हिकशब्दस्यार्थान्तरकल्पना न सत्या नियोगश्च पूर्वोक्तप्रकारेण
मेधातिथ्यादिसम्भृत्या च वेदोक्त इति कृत्वा तत्पूर्वोक्तं पद्यचतुष्टयं
प्रक्षिप्तम् ॥

अग्रेऽष्टाविंशं शतमेकोनविंशं शतं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तम् ।
अत्रासङ्गतपुराणाभासनिर्मातृभिः पौराणिककथापुष्ट्यर्थः परकृतिरू-
पोऽर्थवादः पद्यद्वयेन वर्णितः । पुराणेषु च सर्वस्य जगत उत्पत्तिः
कश्यपजायासु त्रयोदशस्वेव प्रदर्शिता सा च यदा मनुसिद्धान्तादेव
विरुद्धा पुनर्मनवधर्मशास्त्रे पश्चाज्जायमानायाः पौराणिककथायाः
कथमनुकूलः प्रवेशः स्यात् । अतः प्रक्षिप्तं तत्पद्यद्वयम् । अग्रे त्रयो-
दशोत्तरत्रिंशत्तमपद्यादारभ्योनविंशावधि षट् पद्यानि प्रक्षिप्तानि
सन्ति । द्वादश पद्ये यहिधिवाक्यं तस्यैवायं पद्यषट्केऽर्थवादः प्रद-
र्शितः स च नास्ति साधुः । कैश्विद्राजकर्मणि प्रवृत्तैः स्वकुलहितेप्सु-
भिः साक्षरब्राह्मणैरिमानि पद्यानि पक्षपातेन धृतानीत्यनुमीयते ।
अत्रापि पौराणिकी कथा असम्भवा एव दर्शिताः । अग्रेः सर्वभक्ष्य-
त्वकरणमित्यादिकं सर्वमसम्भवम् । सर्गारम्भे परमात्मना यादृशो
यः पदार्थो रचितः स तादृग्गुणोऽस्ति । समुद्रस्यापेयत्वं पृथिवीगु-
णकृतम् । अन्यत्राप्यनेककूपेष्वपेयं क्षारतरमुदकं निस्सरति तस्या-
पेयत्वं किंकृतमिति स एव पौराणिकः प्रष्टव्यः । एवमन्यदप्यस-
म्भवम् । यत्र वह्नौ निकृष्टं वस्तु प्रज्वाल्य तेनैव यदि कश्चिद्रोटि-
कादिभक्ष्यं पचेत्तदा वह्निसंसर्गागतेन दोषेण भक्ष्यमपि दुष्यति ।
अतएव श्मशानवह्निना पाको न कार्य इति शिष्टसम्मतम् । यदि

पावको न दुष्येत्तदा तेनापि पाकः कर्तव्यः स्यात् । यदि पापिष्ठा मूर्खाः सर्वगुणकर्मविहीना ब्राह्मणकुलजा ब्राह्मणब्रुवा अपि विद्वत्पूज्या भवेयुस्तिर्हि श्राद्धप्रकरणे येऽपाङ्गेयाः परिगणितास्तेषामपि सत्कारेऽपरिगणनं व्यर्थं स्यात् । तथा—

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।

न वक्रव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।

दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥

यथा काष्ठमयो हस्तीत्यादिनापि गुणकर्मविहीनस्य ब्राह्मणस्य निष्फलत्वं प्रदर्शितम् । यदि सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः स्युस्तदा पूर्वोक्तानि वचांसि व्याहन्येरंस्तस्मात्प्रक्षिप्तानि षट् पद्यानि । एवमस्मिन्नवमेऽध्याये चतुर्दश श्लोकाः प्रक्षिप्ताः शिष्टा द्वाविंशोत्तरास्त्रिंशतश्लोकाः शुद्धाः सन्तीति प्रतिभाति ॥

भाषार्थः—अब नवएँ अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार किया जाता है । पहिले तेईश और चौबीश दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं । बाईशवें श्लोक में सिद्धानुवाद की रीति से लिखा है कि पति के अच्छे बुरे गुणों की अधिकता से उस पति के साथ विवाही गयी स्त्री में भी वैसे ही अच्छे बुरे गुणों की अधिकता होनी सम्भव है अर्थात् धर्मात्मा सुपात्र सुशील पुरुष के साथ विवाही गयी स्त्री भी पुरुष के तुल्य शुभगुणों वाली हो जाती और अधर्मी आदि दुष्ट गुण वाले के साथ विवाही स्त्री भी पापिनी हो जाती है इस सिद्धानुवाद का प्रयोजन यह है कि धर्मात्मा विद्वान् और सुशील पुरुष को कन्या देनी चाहिये । सो “उत्तम मध्यम वा निरुष्ट गुण प्रायः संगति के अनुसार मनुष्य में आते हैं” । इसी संगति से होने वाले फल का व्याख्यानरूप यह कथन है [इस में कोई शङ्का करे कि सङ्गति दोनों की दोनों से होती है जैसे पुरुष के साथ स्त्री का सङ्ग होता वैसे स्त्री के साथ पुरुष का भी सङ्ग रहता है जब स्त्री पुरुष के समान

गुण वाली हो जाती है तो पुरुष स्त्री के तुल्य गुणों वाला क्यों नहीं होता ? । इस का उत्तर यह है कि मुख्य का वा स्वाधीन का गुण गौण वा पराधीन में लग जाता है और प्रायः पुरुष ही मुख्य रहता है । यदि कहीं स्त्री को स्वाधीनता और प्रधानता हो तो वहाँ स्त्री के गुण पुरुष में अवश्य आवेंगे] इसी सङ्गति का फल दिखाने के लिये दो उदाहरण उक्त दोनों पद्य में कहे हैं । सो वहाँ उदाहरण की अधिक अपेक्षा ही नहीं दीखती और किसी प्रकार कुछ अपेक्षा हो भी तो वैसी आधुनिक स्त्रियों का उस से बहुत प्राचीन मानवधर्मशास्त्र में वर्णन कैसे घटे अर्थात् किसी प्रकार नहीं क्योंकि पिता के जन्म समय में आगे होने वाले पुत्र के कर्मों का वर्णन कोई नहीं कर सकता । जब वसिष्ठ ने असमालानामक मेहतारानी के साथ और मन्दपालनामक ऋषि ने शारङ्गी नाम चिड़िया के साथ विवाह किया उस से पहिले ही भृगु ने इस धर्मशास्त्र का निर्माण वा प्रचार किया था । क्योंकि असमाला की कोई भाष्यकारों ने भी भंगिन् कहा है । ऐसी नीच स्त्रियों के साथ ब्राह्मणादि का विवाह होकर यदि वे स्त्रियाँ ब्राह्मणादि उत्तम वर्णस्थ हो जावें तो जो शूद्रा वा अन्त्यज के साथ विवाह करने से धर्मशास्त्रकारों ने बहुत बुरा फल दिखाया है कि “ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य लोग यदि कामी वा अज्ञानी हो कर नीच वा अतिनीच जाति की स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं तो उन के बाल बच्चों सहित सब कुल शूद्र वा नीच हो जाता है । तथा अत्रि और औत्तथ्य ऋषि का मत (राय) है कि शूद्रा के साथ विवाह करने से वेदी पर ही पतित हो जाते, शौनक का मत है कि शूद्रा में सन्तान होने पर पतित होते और भृगु के मत से सन्तान के सन्तान ही जाने पर पतित हो जाते हैं” इत्यादि कथन में विरोध आवेगा । अर्थात् यदि चर्मकारी आदि नीच स्त्रियाँ ब्राह्मणादि के साथ विवाही जाने से उत्तम हो सकती हैं ऐसा धर्मशास्त्र का सिद्धान्त होता तो शूद्रा के साथ विवाह करने में पूर्वोक्त प्रकार दोष नहीं दिखाते । यदि कोई कहे कि समर्थ को दोष नहीं लगता इस लिये वैसे तपस्वी के लिये शूद्रा के साथ विवाह का निषेध नहीं किन्तु सर्वसाधारण की है तो इस का उत्तर यह है कि असमर्थ वा साधारण के लिये भी शूद्रा के साथ विवाह का निषेध नहीं हो सकता क्योंकि असमर्थ तो स्वयमेव निरुष्ट ही हैं उन की शूद्रा के साथ विवाह से भी विशेष हानि नहीं किन्तु बड़े वा प्रतिष्ठितों की ही विशेष हानि है । इस से यह सिद्ध हुआ कि सङ्गति से होने वाले गुण दोष वर्ण वा जाति का भेद वा लौट

पौट नहीं कर सकते किन्तु एक जाति वा वर्ण में जो स्त्री पति की अपेक्षा विद्या-दि उत्तम गुणों में न्यून है वह विद्या शिक्षादि उत्तम गुणों वाली शान्तिशील हो सकती है। और वेदादि धर्मशास्त्र जानने वाला तपस्वी वसिष्ठ के तुल्य विद्वान् पुरुष चाण्डाली के साथ विवाह करे यह कोई बुद्धिमान् विश्वास नहीं करेगा। और मन्दपाल ऋषि ने किसी शारङ्गी नामक चिड़िया के साथ विवाह किया यह भी ठीक नहीं। विवाह करने का जो फल वा प्रयोजन है वह चिड़िया से कैसे सिद्ध हुआ वा कोई कैसे सिद्ध कर सकता है? यह बात उसी श्लोक को बना कर मिलाने वाले से विचारशीलों को पूछना चाहिये। यहां अधिक लिखना व्यर्थ है। उक्त प्रकार के अनेक दोष होने से पूर्वोक्त दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं ॥

आगे ६५-६८ पेंसठ से अरसठ तक चार श्लोक प्रक्षिप्त हैं। यदि कोई बीच के चारों पद्यों को छोड़ कर ६४ से आगे ६९ के पद्य को पढ़े वा सङ्गति मिलाना चाहे तो ठीक मेल मिल जाता है किसी प्रकार का प्रकरण विरोध नहीं है और उन श्लोकों के बीच में रखने न रखने से एक ही सी सङ्गति मिल जाती है इस कारण वे श्लोक प्रक्षिप्त जानने चाहिये। यदि प्रारम्भ से रच कर रखे श्लोक बीच से निकाल दिये जायें तो जैसे माला के बीच से एक दो मूंगा निकाल देने से उन की सङ्गति (सिलमिलारूप एक दूसरे के साथ मिलावट) बिगड़ जाती उन में बीच पड़ जाता है वैसे यहां भी सङ्गति बिगड़ जानी चाहिये थी पर ऐसा नहीं होता इस लिये वे चारो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन नियोग का खण्डन करने वाले चार श्लोकों पर सर्वज्ञानारायण भाष्यकार ने लिखा है कि “इस उक्त प्रकार से अन्य ऋषियों के मतानुसार नियोग का विधान करके मनु जी अपने मतानुसार खण्डन करते हैं” सो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि जब पहिले प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि “अब आगे स्त्रियों को आपत्काल में वर्तने योग्य धर्म कहेंगे” इस से स्पष्ट मनु जी का मिद्वान्त आपत्काल में निर्वाह करने के लिये आता है और वह मिद्वान्त वेद के भी सर्वथा अनुकूल है। वेद में नियोग करने के लिये स्पष्ट ही आज्ञा दी गयी है। जैसे (उदीर्ण ०) ऋग्वेद के इस दूसरे पति की आज्ञा देने वाले मन्त्र में अर्थ का भी विवाद नहीं है। अर्थः—हे (नारि) स्त्रि! तू (गतासुम्, एतम्, उपशेषे) इस मरे हुए पति के समीप शोक में मग्न पड़ी है उस को छोड़ कर (अभिजीवलोकम्) जीते हुए प्राणियों के समूह को देख कर (उदीर्ण) उठ अर्थात् जीते हुए बाल वच्चों आदिकी रक्षा का उपाय कर। और

उठ के अर्थात् सचेत होके (एहि) दूसरी ओर को आ (तव, हस्तग्राभस्य, दिधि-
पोः, पर्युः) तेरे हाथ को ग्रहण करने वाले द्वितीय पति के (इदम्, जनित्वम्,
अभिसम्बभूथ) इस स्त्रीपनरूप सम्बन्ध को सब ओर से प्राप्त हो। इस मन्त्र
का यही अर्थ सायणादि भाष्यकारों ने भी माना था लिखा है। और मेधातिथि
नामक मनु के भाष्यकार ने भी लिखा है कि (को वा०) इत्यादि नियोग विधा-
यक मन्त्र भी वेदों में दीखते हैं। और उद्गाहिक शब्द से वेदी पर पड़े जाने
वाले (गृभ्णामि ते०) इत्यादि मन्त्र लिये जाते हैं यह मेधातिथि का अभिप्राय है।
सो यह विचार ठीक ग्रहण करने योग्य नहीं क्योंकि जब वेद में नियोग का कर्त्त-
व्य होना लिखा है फिर नियोग की निन्दा करने वाले वेदविरोधी स्पष्ट ही सिद्ध
हो गये। इस पर अधिक विचार की कुछ आवश्यकता नहीं। (नोद्गाहिकेषु०)
इत्यादि चार श्लोकों को सत्य ठहराने के लिये जो मेधातिथि आदि की कल्पना
हैं वे सर्वथा निर्बल हैं। विवाहसम्बन्धी मन्त्रों में नियोग नहीं कहा इस से
बुरा है यह कथन ऐसा होगा कि जैसे कोई कह दे कि अग्निहोत्रविधायक मन्त्रों
में नहीं कहा इस लिये वैश्वदेव करना बुरा है। अरे भाई! विवाह द्वितीयप्रक-
रण है उस में आपत्काल का नियोग क्यों कहा जाता?। भिन्न प्रकरण में प्रमा-
ण न देने से कोई विषय बुरा नहीं हो सकता। कदाचित् वेद में नियोग स्पष्ट
रूप से न कहा होता किन्तु ध्वनिमात्र निकलने पर भी प्रमाण माना जा सकता
है और वेद से विरुद्ध होता अर्थात् वेद में नियोग का निषेध किया होता तो
अवश्य खण्डनीय कह सकते थे। राजा वेन के समय से नियोग की प्रवृत्ति दिखा-
ने से नियोग का निषेध करने वाले का तात्पर्य यह है कि नियोग करने की आज्ञा
वेद में नहीं है। क्योंकि नियोग वेदोक्त हो तो उस का प्राचीन वा सनातन
होना वेदोक्त होने से ही आ जावेगा। क्योंकि जब वेद सनातन हैं तो उस में
कहा विषय भी सनातन हुआ। इसी लिये निषेधक ने पहिले नियोग का
वेदोक्त होना खण्डित करके वेन के राज्य से उस के चलने का समय दिखा कर
नियोग को आधुनिक ठहराया है। इत्यादि कारण मेधातिथि की उद्गाहिक
शब्द के अर्थ पर कल्पना करना ठीक नहीं और पूर्वोक्त प्रकार से तथा मेधा-
तिथि आदि की सम्मति से नियोग वेदोक्त है ऐसा सिद्ध हो जाने से पूर्वोक्त
चारों श्लोक प्रक्षिप्त हैं ॥

आगे १२८। १२९ एकसौ अट्ठाइस और एकसौ उन्तीश दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन में असंगत पुराणाभासों के बनाने वाले लोगों ने पौराणिक कथाओं की पुष्टि के लिये परकृतिनामक अर्थवाद दो पद्यों से कहा है। और पुराणों में सब जगत् की उत्पत्ति कश्यप की तरह स्त्रियों से ही दिखायी है। सो जब मनु के सिद्धान्त से ही विरुद्ध है फिर पीछे उत्पन्न हुई पौराणिक कथा का प्राचीन मानवधर्मशास्त्र में अनुकूल मेल कैसे हो सकता है ? इस लिये वे दोनों श्लोक प्रक्षिप्त ही जानो। आगे ३१४-३१९ तीन सौ चौदह से तीन सौ उन्तीश तक छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं। तीनसौ तेरहवें श्लोक में जो विधिवाक्य है कि राजा ब्राह्मणों को कोपित न करे अर्थात् अधिक न सतावे इस का अर्थवाद जो ठीक २ होना चाहिये सो उसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में है। और उसी विधिवाक्य का इन छः श्लोकों में भी अर्थवाद दिखाया है सो ठीक नहीं है। अनुमान होता है कि अपने कुल का हित चाहने वाले संस्कृतज्ञ राजमन्त्री आदि ब्राह्मणों ने पक्षपात से ये श्लोक यहां मिला दिये हैं कि जिस से हमारे कुल के मूर्ख दुष्कर्मी ब्राह्मणों को भी कोई दण्ड न देवे किन्तु सदा दानादि से सन्मान करते रहें। इन छः श्लोकों में भी असम्भव पुराणों की कथा दिखायी हैं। ब्राह्मणों ने अग्नि को सर्वभक्ष्य बनाया इत्यादि। क्या परमेश्वर के रचे अग्नि में सब वस्तु नहीं जल-सकते थे तो ? पहिले की शक्ति गिना देनी चाहिये कि अमुक २ पदार्थों को पहिले अग्नि जला सकता था पीछे सब जलाने की शक्ति ब्राह्मणों ने की इत्यादि सब असम्भव है। सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने जो पदार्थ जैसे गुण वाला रचा है उस में वही गुण सदा रहेगा उस को कोई लौट पीट नहीं कर सकता। समुद्र का जल खारी होने से पिया नहीं जाता यह पृथिवी का गुण है। अन्यत्र भी अनेक कुओं में अत्यन्त खारी जल निकलता है वह पीने योग्य नहीं रहा सो ऐसा किस ब्राह्मण ने किया ? यह उसी पौराणिक से पूछना चाहिये। इसी प्रकार अन्य भी अनेक बातें असम्भव हैं जिस अग्नि में विष्टा मांसादि निरुष्ट वस्तु जलाया हो उसी अग्नि से यदि कोई रोटी आदि पदार्थ को पकावे तो अग्नि के साथ आये दोष से भक्ष्य भी दूषित हो जाता है। इसी कारण सरघट के अग्नि से पाक न बनाना चाहिये यह शिष्टों की सम्मति है। यदि अग्नि में दोष न होता तो उस प्रमशान के अग्नि से भी भोजन बनाना उचित समझा जाता। यदि मूर्ख पापी सब अच्छे गुणकर्मी से रहित ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए नाममात्र

के ब्राह्मण भी विद्वानों के तुल्य पूज्य हो जावें तो आहुप्रकरण में जो श्रेष्ठों की पङ्क्ति में न बैठाने योग्य नीच ब्राह्मण गिनाये हैं जिन को आहु में भोजन न कराना चाहिये उन का परिगणन भी व्यर्थ हो जावे । तथा “ भूषा पकड़ने को जैसे विष्णी ध्यान लगाती वा जैसे मच्छी पकड़ने को वगुला ध्यान लगाता वैसे जो दूसरों के पदार्थ हर लेने के लिये ध्यान लगा के बैठते हैं अवसर पाते ही फट ले लेते हैं और तीसरे वेद को न जानने वा पढ़ने वाले इन तीन प्रकार के ब्राह्मणों का जल से भी सत्कार न करे ॥ धर्मपूर्वक परिश्रम से सञ्चित किया भी धन यदि उक्त तीन प्रकार के ब्राह्मणों को दिया जावे तो उस दान से दाता को वर्त्तमान जन्म में और दान लेने वाले को जन्मान्तर में दुःखरूप फल होता है । और जैसे काष्ठ का हाथी नाम ही मात्र होता हाथी का काम कुछ नहीं दे सकता वैसे ही गुण कर्म वा विद्या से हीन ब्राह्मण को निष्फल जानो इत्यादि” यदि सर्वथा ब्राह्मण पूज्य हों तो पूर्वोक्त वचन सब विरुद्ध पड़ेंगे अर्थात् ये दोनों बातें सत्य नहीं हो सकतीं किन्तु एक ही सत्य हो सकती है इससे उक्त छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इस प्रकार इस नवम अध्याय में १४ चौदह श्लोक प्रक्षिप्त हैं और शेष ३२२ तीनसौ वार्द्धश श्लोक शुद्ध प्रतीत होते हैं ॥

अथ ब्राह्मणादिवर्णविचारः ॥

किं ब्राह्मणादयो वर्णा विद्यादिगुणकर्मविभागमात्रेण मन्तव्या आहोस्विजन्मत एवेत्यस्मिन् विषये मानवधर्मशास्त्रस्य कः सिद्धान्त इति विचारः क्रियते । उभयथा विद्यादिगुणैः कर्मणा जन्मना च ब्राह्मणादीनां पूर्णं ब्राह्मणादित्वं सिध्यतीति मानवधर्मशास्त्रस्यान्यशास्त्रकाराणां च सिद्धान्तः । तथाहि—गुणकर्मभिर्ब्राह्मणादित्वमभ्युपगम्येदमुच्यते—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम विभ्रति ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ इति मन्युः ।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्विज्ञेयमेति च याति च ।

अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥

सत्यं दानं क्षमा शौचमानृशंस्यं तपो वृणा ।

विद्यन्ते यत्र राजेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ इति महाभारते ।

जन्मनापि ब्राह्मणादिवर्णत्वमभ्युपगम्य बीजक्षेत्रयोः प्रधाना-
ऽप्रधानपक्षौ व्याख्यातौ शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
एतदपि नामकरणावसरे कथनं जन्मना ब्राह्मणादित्वे सत्येव
सम्भवति । तत्रायं विशिष्टोऽनुसन्धेयो विचारः । तथा च व्याकरण
महाभाष्यकारेणाप्युक्तम्—

विद्या तपश्च योनिश्च एतद्ब्राह्मणलक्षणम् ।

विद्यातपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥

अत्र योऽसौजातिब्राह्मणपदवाच्यः स एव मनुना ब्राह्मणब्रु-
वशब्देन यथा काष्ठमयोहस्तीत्यादिना च निस्सत्त्वो निष्फलः सूचि-
तः । वस्तुतस्तु सत्येव तस्मिंस्तस्मिन् गुणे स स शब्दस्तस्य तस्य
वाच्यवस्तुनो वाचकः सम्भवति । यथा गन्धवती पृथिवी रूपदाह-
वत्तेजः । नहि गन्धवत्त्वमन्तरा रूपदाहादिगुणाभ्यां च विना पृथिवीत्वं
तेजस्त्वं वाकथमपि वक्तुं शक्यते । अतएव महाभाष्यकारेणाप्यु-
क्तम्—“यस्य गुणस्य भावाद्व्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलादयः”
एवं ब्राह्मणादिपदवाच्येषु ब्राह्मणादित्वे गुणे सत्येव ब्राह्मणादयः
शब्दा वाचकत्वेन स्थितिसम्बन्धमुपलभन्ते । नहि लोकेऽपि रूप-
दाहगुणाभ्यां विहीनं कश्चित्पदार्थं बहूनि वदन्ति जानन्ति वा । एतेन
गुणं त्यक्त्वा द्रव्यं किमस्तीत्यपि वक्तुं न शक्यते यतो गुणेनैव
द्रव्यस्य स्वरूपं प्रतीयते तथापि द्रव्यं किमप्यस्ति यद्गुणविपर्यासे

ऽपि पूर्ववत्तिष्ठति । अतएवोक्तं गुणलक्षणे—“उपैत्यन्यज्जहात्यन्यदृष्टो
द्रव्यान्तरेष्वपि । वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः ॥”
यौवनावस्थायां येषां गुणानामाविर्भावस्ते वार्द्धके न भवन्ति तथापि
स एवात्मा यौवनावस्थास्थगुणान् प्रत्यभिजानाति । अत्रापि ज्ञान-
बुद्धिस्मृत्यादयो गुणा आत्मा ज्ञाता द्रव्यं तेषां ज्ञानादिगुणानां
विपर्यये द्रव्यमात्मा न विपर्यस्यत इति द्रव्यगुणयोर्भेदः । गुणाश्च
केचिन्नित्या अपरे नैमित्तिकाश्च । नैमित्तिकाः स्वस्वव्यञ्जकैस्तिरो
भावकैर्वा हेतुभिः समये समये देशकालवस्तुभेदेन उत्पद्यन्ते नष्टा
भवन्ति वा । नित्या अपि समये समये स्वानुकूलसामग्र्या विरोधि-
न्या वा प्राबल्यं नैर्बल्यं वापन्ना व्यज्यन्ते तिरो भवन्ति वा ।
नैमित्तिका गुणाः शरीरादौ नैत्यिकाऽऽहारविहारादिना विपरिणम्य-
न्ते । नित्यास्तु कारणत एव कार्य आगच्छन्ति । ये गुणाः कारणे कार्ये
चोभयत्र सामान्येन तिष्ठन्ति कारणात्कार्येऽन्विता भवन्ति ते नित्याः ।
यथा काठिन्यं मृत्तिकायां घटादौ चास्ति । एवमत्रापि बहवो गुणाः
सन्ति ये कारणात्कार्यमनुयन्ति । यथा सर्वप्राणिशरीरेषु सत्त्वरज-
स्तमोरूपाः सर्वे गुणा देशकालवस्तुभेदेन तारतम्यमापन्नाः सदैव
तिष्ठन्ति त एव ब्राह्मणादिवर्णत्वसूचका यतो गुणानां सद्भाव एव
ब्राह्मणादित्वम् । एवमेकस्मिन्प्राणिनिकाये चत्वारोऽपि वर्णाः सन्ति ।
अत एव वेदेऽप्युक्तम्—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याथं शूद्रो अजायतेति ॥

अर्थादस्य मनुष्यशरीरसमुदायस्यावयवाश्चत्वार एव प्रधानाः
सन्ति तेषु सर्वप्रधानं वेदादीनामध्ययनाऽध्यापनमननविचारहेतुकं

धर्मोपदेशप्रचारवर्द्धकं शिरोमात्रं मुखं ब्राह्मणो विद्याधर्मप्रचाररूपे प्राधान्येन मुखावयवसाध्ये कर्मणि रतो ब्राह्मण इति मुख्याशयः । दुष्टताडनश्रेष्ठसंरक्षणरूपे बाहुसाध्ये प्रजारक्षणकर्मणि प्राधान्येन तत्परो बाहुरूपः क्षत्रियः । प्राधान्येनोरुसाध्ये पशुरक्षणादिकर्मस्थो वैश्यः पादस्थानीय इतस्ततो धावने प्रेष्यकर्मणि प्रवृत्तः शूद्र इति मन्त्रार्थः । सत्त्वप्रधानो ब्राह्मणो रजःप्रधानः क्षत्रियो रजस्तमसोः साम्ये वैश्यस्तमःप्रधानः शूद्र इति । अर्थादेकैकस्मिन् शरीरे वर्णचतुष्टयधर्मे विद्यमाने यत्र यत्र यस्य यस्य वर्णधर्मस्य प्राधान्यं स स ब्राह्मणादिपदवाच्यो भवति । तत्र सत्त्वादयो गुणा दृष्टान्ता उदाहरणानि वा सन्ति । एवं सति गर्भाधानावसरे मातापित्रोः शरीरे यस्य गुणस्योत्कर्षः स्वाभाविकप्रवृत्त्या नैमित्तिकव्यवहारेण वा भवति तयोरपत्यमपि तादृशमेवोत्पद्यते तथाचोक्तं शुश्रुतायुर्वेदस्य शारीरस्थाने—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ ।

स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥

एतेन सिद्धं कारणत एव कार्ये गुणा आगच्छन्ति । द्विविधो वर्णविचारोऽस्ति लौकिकः शास्त्रीयश्च । लौकिकविचारे गुणकर्मणामभावेऽपि ब्राह्मणादिशब्दाः प्रयुज्यन्त इत्ययं सिद्धानुवादोऽस्ति । शास्त्रसम्मत्या च यत्र यत्र ब्राह्मणादीनां गुणकर्मणि भवेयुस्ते त एव ब्राह्मणादिपदवाच्या भवेयुः । गुणकर्मणां प्राधान्यं च परीक्षानिर्भरमस्ति । यथा ब्राह्मण्यपरीक्षार्थं ये सत्यादयो गुणास्तेषां प्राणसंकट उपस्थिते पुत्रादीनां वधावसरे महति वा धनविनाश उपस्थिते सत्यासत्ययोर्मध्ये यः सत्यमेवाचरेत् स्वजीवनादिकमपि स्वधर्मपालनार्थं

परित्यजेन्नतु धर्मं त्यजेत्स ब्राह्मणः । यत्र विशिष्टौ हानिलाभौ न
स्तस्तत्र तु कस्यापि सत्यभाषणं ब्राह्मण्योपपादकं न भवति । प्रजा-
रक्षणार्थं दुष्टानां हननाय च स्वप्राणस्य योऽर्पणं करोति सङ्ग्रामेषु
च पराङ्मुखो यो न भवति स क्षत्रियः । एवं प्राणादपि प्रियं मत्वा
स्वधर्मं सेवमाना वैश्यादयोऽपि परीक्षोत्तीर्णा भूत्वा तत्र तत्र वर्णं
प्रविष्टा भवितुमर्हन्ति । यदि कश्चिद्देवेवं विधपरीक्षायामुत्तीर्णास्तु
केचिदेव भविष्यन्ति न सर्वे प्रायशो वा । तर्हि ये तादृशास्त एव
पूर्णा ब्राह्मणादयः सन्ति न तु सर्वे । अन्येषु यत्र यादृशस्य गुणस्य
यदपेक्षया प्राधान्यं स तदपेक्षया ब्राह्मणः क्षत्रियो वास्ति । इयं च
शास्त्रीया व्यवस्थास्ति लोके च गुणकर्मानपेक्ष एव ब्राह्मणादीना-
मेकैकः समुदायोस्ति । यस्मिन् यस्मिन् ब्राह्मणादिसमुदाये यस्य
यस्य वर्णस्योत्पत्तिः स स ब्राह्मणादिपदवाच्यः । उभयविधेऽप्यस्मिन्
वर्णविभागे गुणकर्मणामेव प्राधान्यमस्ति यतो हि जातितोऽपि
ब्राह्मणादित्वं कारणात्कार्ये गुणकर्मान्वयादेवास्ति । जात्यपेक्षं गुण-
कर्मणामेव प्राधान्यमभ्युपगम्य महाभारत इत्थमुक्तम्—

ब्राह्मणः को भवेद्राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिर ।

ब्रवीत्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे ॥ युधिष्ठिर उवाच—

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो वृणा ।

दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

सर्प—चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि ।

शूत्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ॥

आनृशंस्यमहिंसा च वृणा चैव युधिरष्ठिर । युधिष्ठिर—

शूद्रे तु यद्भवेद्धर्म द्विजे तच्च न विद्यते ।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥

यत्रैतच्छ्रूयते सर्पं वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।

यत्रैतन्न भवेत्सर्पं तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ सर्प-

यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।

वृथा जातिस्तदायुष्मन् कतिर्यावन्न विद्यते ॥ युधिष्ठिर-

जातिरत्र महा सर्पं मनुष्यत्वे महामते ।

सङ्करात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः ।

वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् ॥

इदमार्थं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि ।

तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ॥

प्राङ्नाभिवर्द्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥

तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्देदे न जायते ।

तस्मिन्नेवं मतिर्द्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ।

सङ्करस्त्वत्र नागेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षितः ॥

यत्रेदानीं महासर्पं संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।

तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम ॥

महाभारते वनपर्वणि । अ० १८० शीलं सच्चरित्रमानुशंस्य-
महिंसात्मकता तपो द्वन्द्वसहनं धृणा दया कृपा । चतुर्षु वर्णेषु यदा
सामान्येनैव सत्यस्य प्रामाण्यं सर्वैश्च सत्यं वक्तव्यमिति विधीयते
वेदादिषु तस्माच्छूद्रस्यापि ब्राह्मणत्वं प्राप्तमिति ब्राह्मणलक्षणे व्य-

भिचारो दोषः । एवं ब्राह्मणपदेन जातिमात्रं विवक्षुः सर्पः शूद्रे
तद्वृत्तं दूषयति । तमोगुणप्रधानेषु निद्रालस्यप्रमादातिमैथुना-
सङ्गेषु रतिः शूद्रस्य लिङ्गं तद्ब्राह्मणे नास्ति सत्त्वगुणप्राधान्यात् ।
एककालावच्छेदेन विरुद्धं धर्मद्वयमेकस्मिन् वस्तुनि नैव तिष्ठति ।
वृत्तमेतत्सत्यादीनां नैरन्तर्येण वर्त्तनमाचरणम् । कृतिः क्रिया स-
त्यादीनामनुष्ठानम् । वाङ्मैथुनं जन्म मरणं च प्राणिनां समं स्वाभा-
विकं तस्माज्जन्मतो ब्राह्मणादीनां परीक्षा दुर्लभा । इदमार्थं वैदिकं
प्रमाणमस्ति येयजामहे-ये वयं ब्राह्मणा अन्ये वा स्मस्ते वयं यजा-
मह इति जातिब्राह्मणत्वेऽनिश्चयं मत्वा यज्ञकर्मणि दृढा प्रीतिः
प्रवृत्तिश्च ब्राह्मणत्वे हेतुरित्यनुमीयते । एवं ब्राह्मणादित्वे गुणकर्मप्र-
धानपरं वैदिकं प्रमाणं दत्त्वा प्राङ्नाभिवर्द्धनादिति स्मार्त्तं मानवं
प्रमाणं दर्शयति । वेदोपदेशानन्तरमेव ब्राह्मण्यमाविर्भवति । यदि
वेदाध्ययनयज्ञोपवीतादिसंस्काराः सत्यादीनामनुष्ठानं च नास्ति तदा
सर्वाः प्रजाः कृतकृत्याः शूद्रतुल्याः सन्ति नास्ति तेषां कर्तव्यम् ।
तथा चास्मिन्नेव वनपर्वणि अ० ३१३ यत्तदुवाच-

राजन्कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।

ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूयेतत्सुनिश्चितम् ॥ युधिष्ठिरः-

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।

कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।

अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।

सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।

योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

अत्रापि वृत्तशब्देन सर्वापेक्षया सत्यादीनामनुष्ठानस्य प्राधान्यं प्रदर्शितम् । सर्पयक्षादिशब्देन हितोपदेशादौ काकादीनां कथनमिव बोध्यम् । यथा तत्र काकादयो वक्तुमशक्तास्तेषां कथने सम्भवासम्भवौ नापेक्ष्येते तथैवात्रापि विज्ञेयमुपदेशमात्रेण तात्पर्यम् । सर्पादीनामितिहासः प्ररोचनार्थः । एवं यदि कश्चित्क्षत्रियवैश्यशूद्रसमुदायेऽप्युत्पन्नः सोऽपि सहृत्प्राधान्याद्ब्राह्मणादित्वमाप्नोति । ब्राह्मणाद्युत्कृष्टकुलजोऽपि निरुष्टकर्मसेवनात्तादृशनीचवर्णो जायते । तथा मनुना दशमाऽध्याये चोक्तम्—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

तथा—धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । इत्यापस्तम्बसूत्रे—एवमन्यत्रापि श्रुतिस्मृतिषु बहुशः प्रमाणानि सन्ति यैर्वर्णविपर्यासः स्पष्टमुपलभ्यते । युक्तितोऽप्येतदेव सम्भवति । ब्राह्मणादयोऽधिकारवाचकाः शब्दा अधिकारणां चोपचयापचयौ भवतएव तत्र ब्राह्मणाद्युच्चवंशस्थानां चाण्डालादिनिरुष्टकर्मोपासनाच्चाण्डालादित्वं सद्यः सम्पद्यत इति प्रायशो जनैरङ्गीक्रियते । यश्च चाण्डालादिभिः सह भोजनाच्छादनादिसम्पर्कं करोति तमुच्चसमुदायतः क्षिप्रं पातयन्तीति दृष्टचरम् । अत्र विशिष्टो विवादो नास्ति । परन्तु यः कोऽपि निरुष्टो वर्ण उच्चकर्मसु रमेत तस्य ब्राह्मणादित्वे बहवो विवादं कुर्वन्ति । स च विवादो

निर्मूलोऽस्ति यदा ब्राह्मणादीनां पातित्यं स्वीक्रियते तदा शूद्रादीना-
मपि ब्राह्मणादित्वं न्यायतः प्राप्तम् । कस्यचिदुपरिष्ठाद्गमनं कस्यचिद-
धस्तादित्युभयं लोके दृष्टवरम् । उच्चानामधस्तादेव पतनं स्यान्नीचा-
नामुच्चत्वं च न स्यादिति विरुद्धम् । तत्रैतावान् विवेकोऽस्ति— यथा
मन्दिरादीनां पतनं पातनं च सद्यः सम्भवति निर्माणं च कालेन
जायते तथैव ब्राह्मणाद्युच्चानां निकृष्टकर्मोपासनात्सद्यः पतनं जायते
शूद्रादीनां च ब्राह्मणादित्वं सद्मादीनां निर्माणमिवातिकालेन सम्भ-
वति । अयमेव सिद्धान्तः साधुर्भाति । विश्वामित्रक्षत्रियादयोऽपि
बहुकालं तपस्तप्त्वा ब्राह्मणादित्वं प्राप्ता अत्रोदाहरणभूता विज्ञेयाः ।
उच्चानां सद्यः पतनं च लोकएव प्रसिद्धम् ॥

केचिज्जातितएव वर्णव्यवस्थामिच्छन्ति तेषां नये मृद्ववकादी-
नामपि गोत्वादिकं प्राप्नोति तेऽपि गवाकृतिं पुरस्कृत्य निर्मायन्ते ।
यथाकाष्ठमयोहस्तीत्यादि धर्मशास्त्रस्थानि वचनानि तथा—स्थाणुरयं
भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थमित्यादिवेदवा-
क्यानि च व्याहन्येरन् । गुणकर्मभिरेव सर्वं विज्ञायत इदमित्यं
भूतमिति । मृद्ववकादीनां च गुणकर्मभ्यां विना गोत्वादिकं नास्ती-
ति दर्शयितुमेव यथाकाष्ठमयो हस्तीत्यादीनि वचांसि धर्मशास्त्रका-
रैरुक्तानि । तस्मात्केवलजात्या ब्राह्मणादित्वं नास्ति ॥

केचिच्च सर्वथा जातिं त्यक्त्वा केवलैर्गुणकर्मभिरेव ब्राह्मणादित्व-
मिच्छन्ति । वदन्ति च यदि जात्या ब्राह्मणादित्वं स्यात्तदा वर्णे श्वे-
तादौ शरीरस्थरुधिरादिषु धातुषु च भेदो लक्ष्येत स च भेदो नोप-
लभ्यते तस्माज्जात्या ब्राह्मणादित्वं नास्ति । एवं मन्यमानानां मते
ब्राह्मणादित्वबोधकगुणानामनित्यत्वं प्राप्नोति वीर्यप्राधान्याप्राधान्या-
भ्यामुत्कर्षापकर्षप्रदर्शनपराणि धर्मशास्त्रस्थानि—

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।

जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्यइति निश्चयः ॥

इत्यादीनि वाक्यानि व्याहन्येरन् ।

ब्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला मापास्तथा यवाः ।

यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।

उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥

इत्यादिवाक्यानामप्ययमेवाशयो यद्ब्राह्मणादित्वद्योतका गुणा गर्भाधानदशायां वीर्यतएवायान्ति । मनुष्यवीर्यात्पश्वादीनां निषेधपराण्युक्तवाक्यानि नैव योज्यानि । यतः प्राप्तौ सत्यां निषेधः कर्तुं शक्यते । अत्र च बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते— इत्यादिना बीजस्य प्राधान्यं प्रदर्शितम् । स च बीजप्रधानपक्षो लोके स्पष्टमुपलभ्यते । यादृशवृषभेण गौः संयुज्यते तादृश एव वत्स उत्पद्यते—तथा केचिदश्वः स्वजातावुत्कृष्टा अवान्तर्भेदभिन्ना विशिष्टगुणवन्तश्च भवन्ति तादृशाश्वेन वडवायाः संयोगाद्यादृशा उत्पद्यन्ते न तादृशाः सामान्याश्वसंयोगाज्जायन्ते । कदाचिद्विशिष्टाश्वसंयोगेनापि सामान्या जायन्ते तदा सामान्याश्वो वडवया दृष्टस्तस्य छायापतितेति वदन्ति । एवंविशिष्टापवाददशायामपि सामान्यनियमस्य विघातो न भवति । ब्राह्मणादिवर्णानां रुधिरादिधातुभेदस्त्ववश्यं मन्तव्यएव । सत्त्वशुद्धितारतम्यएव वर्णभेदस्य कारणम् । स च धातुभेदः सूक्ष्मदर्शिभिरेव ज्ञातुं शक्यते सात्त्विकाहारसेवनात्तादृशाः शुद्धा रसादयो धातव उत्पद्यन्ते । धातुभेदं पुरस्कृत्यैव बीजप्रधानपक्षस्य व्याख्यानं युज्यते । तस्माद्ब्राह्मणादिवर्णानां जातितो

गुणकर्मतश्च व्यवस्था स्वीकार्या । शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्यादिकथनं तु लोकप्रसिद्धस्य शूद्रसमुदायउत्पन्नस्य ब्राह्मणत्वप्रदर्शनार्थम् । वस्तु-
तस्तु शूद्रसमुदाये जायमानः स पूर्वं गर्भाधानावसरत एव केनापि
प्रकारेण ब्राह्मणसंस्कारवानासीत् । ब्राह्मणेन सह तस्य मातुः संयो-
गात्तस्य पितरि गर्भाधानकाले सत्सङ्गादिसञ्चितब्राह्मणगुणानामुत्कर्षाद्वा । एवं सत्येव वर्णव्यवस्था वेदादिशास्त्रानुकूला सम्भवति । यो
यस्मिन् समुदाये समुत्पन्नस्तस्य तादृशएव ब्राह्मणादिपदेन व्यव-
हारः क्रियते स तु लौकिकः प्रचारः शास्त्रानुकूलं ब्राह्मणादित्वं तन्नास्ति
शास्त्रसिद्धान्तस्तु संक्षेपतउक्तः ॥

भाषार्थः—अब ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था कैसे माननी चाहिये इस का
विचार किया जाता है । क्या ब्राह्मणादि वर्ण विद्यादिसम्बन्धी गुणकर्मों के
विभागमात्र से मानने चाहिये कि जिस में विद्यादि उत्तम गुणकर्मस्वभाव हों
वही ब्राह्मण है अथवा जन्म से ही माने जावें कि जो २ ब्राह्मणादि के कुल में
उत्पन्न हो वह २ ब्राह्मणादि माना जावे इस विषय में मानवधर्मशास्त्र का क्या
सिद्धान्त है सो दिखाते हैं । विद्यादि गुणकर्म और जन्म दोनों से ब्राह्मणादि का
पूरा २ ब्राह्मणादिपद सिद्ध होता है । जैसे गुणकर्म से ब्राह्मणादि की परीक्षा हो
सकना मान कर यह कहा गया कि “ जैसे काठ का हाथी और केवल चाम में
भूसा भर कर बनाया हरिण हाथी और हरिण का काम न दे सकने से व्यर्थ वा
नाममात्र है वैसे ही बिना पढ़ा ब्राह्मण ये तीनों हाथी हरिण और ब्राह्मण नाम
धरानेमात्र हैं किन्तु वास्तव में नहीं । तथा जो द्विज वेद को न पढ़ कर अन्यत्र
ही अम करता है अर्थात् अन्यग्रन्थों को ही पढ़ता रहता है वह अपनी वर्तमान
दशा में ही अपने कुटुम्ब वाल वच्चों सहित शूद्र हो जाता है ” यह मनु का
आशय है । तथा “मनुष्य को अपना आचरण बड़े उद्योग से ठीक रखना चाहिये
और धन तो आता जाता बना रहता है इस लिये धन से निर्बल मनुष्य निर्बल
नहीं किन्तु जिस के आचरण बिगड़े हैं वह वास्तव में बिगड़ा जानो । सत्य,
दान, क्षमा, शुद्धि, अहिंसा, तप और दया ये धर्म के लक्षण जिस में विद्यमान

हों वह ब्राह्मण है" यह महाभारत का लेख है। तथा जन्म से भी ब्राह्मणादि का होना मान कर बीज और खेत के प्रधान वा अप्रधान पक्ष का व्याख्यान किया है तथा शर्मशब्द युक्त ब्राह्मण का और रक्षायुक्त क्षत्रिय का नाम रखे यह भी नामकरणसंस्कार के अवसर पर कथन करना जन्म से ब्राह्मणादिपन होने में ही बन सकता है। सो यह सूक्ष्म और विशेष विचार करने से ज्ञात हो सकता है कि शरीरों के बीच में ब्राह्मणादिपन क्या वस्तु है? इस में मुख्य सिद्धान्त यही है कि अन्तःकरण के साथ वा चेतना धातु के साथ सम्बन्ध रखने वाले ऐसे कई गुण हैं जिन के होने से उस २ व्यक्ति को ब्राह्मणादि कहना बन सकता है। वे गुण प्रकृतिपुरुष के संयोग वाले जड़चेतन शरीर के साथ ही रहते अर्थात् गर्भावस्था से ही उन में होते हैं वात्यावस्था में उन के आविर्भाव प्रकटता का समय नहीं होता इस कारण दबे रहते हैं परन्तु अधिक विचारशील लोग वात्यावस्था में भी परीक्षा कर सकते हैं कि यह आगे ऐसा होगा। इसी विचार के अनुसार व्याकरण महाभाष्यकार ने भी कहा है कि "विद्या तप और योनि अर्थात् उत्पत्ति का कारण ये तीनों ब्राह्मण के चिह्न हैं अर्थात् इन तीनों के ठीक वा उत्तम होने से ब्राह्मण हो सकता है। जो विद्या और तप नाम अपने अध्यापनादि धर्मशास्त्रोक्त ऋः कर्माँ से रहित है वह केवल जातिब्राह्मण है अर्थात् ब्राह्मण का वीर्य होने से ब्राह्मण कहाता है"। इसी जातिब्राह्मण पदवाच्य को मनु जी ने ब्राह्मणब्रुव शब्द से कहा है और जैसे काठ का हाथी वैसा ही गुणकर्म रहित ब्राह्मण है इससे निष्फल दिखाया है। और मुख्य बात यही है कि जिस २ गुण के होने से वह २ शब्द उस २ वस्तु का वाचक ठहराया गया है उस २ गुण के विद्यमान रहने से ही वह २ शब्द उस २ वाच्य वस्तु का वाचक हो सकता है। जैसे गन्ध वाली पृथिवी रूप और दाहगुण वाला अग्नि है यह माना जाता है परन्तु गन्ध और रूप वा दाह गुणों के बिना पृथिवीपन वा अग्नि का होना नहीं कह सकते क्योंकि रूप देखने और स्पर्श में दाह होने से जानते हैं कि यह अग्नि है। इसी आशय को लेकर महाभाष्यकार ने भी लिखा है कि "द्रव्य में जिस गुण के विद्यमान होने से उस २ शब्द को वाचक नियत किया जाता है उसी गुण की प्रधानता कहने के लिये व्याकरण में त्व तल् प्रत्यय होते हैं" इसी प्रकार ब्राह्मणादिपदवाच्यों में उस २ ब्राह्मणादिपन गुण के होने पर ही ब्राह्मणादि शब्द उन २ व्यक्तियों के वाचक होने चाहिये। जैसे लोक में भी रूप और

दाहगुणों से रहित किसी वस्तु को कोई अग्नि नहीं कहता वा न जानता मानता है। इसी प्रकार शास्त्र की मर्यादा के अनुसार जिन २ गुणों के होने से ब्राह्मणादिवर्ण कहे वा माने जाने चाहिये उन के न होने पर उन २ को ब्राह्मणादि कहना वा मानना अनुचित है परन्तु लोक में ऐसा नहीं होता किन्तु गुणहीनों को भी ब्राह्मणादि कहते मानते हैं सो यह शास्त्र की मर्यादा वा विद्वानों की शैली से विरुद्ध है। इस पूर्वोक्त कथन से गुण को छोड़ कर द्रव्य क्या वस्तु है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि गुण ही प्रत्यक्ष होता और गुण से ही द्रव्य के स्वरूप का निश्चय करते हैं। तो भी यह नहीं कह सकते कि द्रव्य कुछ नहीं किन्तु द्रव्य कुछ है कि जो गुण के बदल जाने से वा न रहने पर भी पूर्व के तुल्य बना रहता है। इसी के अनुसार गुण का लक्षण व्याकरण महाभाष्य में ऐसा लिखा है कि “अन्य किसी वस्तु को छोड़ कर अन्य को प्राप्त होता और वही गुण द्रव्यान्तरों में भी दीखता है और तीनों लिङ्ग का वाचक होता ऐसा गुण द्रव्य से भिन्न है”। यौवन अवस्था में जिन गुणों का प्रादुर्भाव होता है वे वृद्धावस्था में नहीं रहते तो भी वही युवावस्था के गुणों वाला जीवात्मा पूर्व बीती बातों का स्मरण करता है। यहां भी ज्ञान बुद्धि और स्मृति आदि गुण आत्मा ज्ञाता और द्रव्यरूप है सो वह आत्मा ज्ञानादि गुणों के विपरीत होने पर भी यथावस्थित रहता है यही द्रव्यगुण का भेद है। गुण भी कोई नित्य और कोई नैमित्तिक होते हैं। नैमित्तिक गुण समय २ पर देशकाल वस्तु भेद से अपने २ प्रकाशक वा नाशक कारणों से उत्पन्न वा नष्ट होते रहते हैं तथा नित्य गुण भी समय २ पर अपने अनुकूल वा विरुद्ध सामग्री के संयोग से प्रबलता वा निर्बलता को प्राप्त हुए उद्वलते दबते रहते हैं। शरीरादि में रहने वाले नैमित्तिकगुण नित्य के आहार विहार से बदलते रहते हैं परन्तु नित्यगुण कारण से ही कार्य में आते हैं और जो गुण कार्य कारण दोनों में रहते हैं अर्थात् कारण से कार्य में अन्वित होते हैं वे ही नित्य हैं जैसे कठिनाई मट्टी और घड़ा दोनों में रहती है। इसी प्रकार यहां भी बहुत गुण ऐसे हैं जो कारण से कार्य में आते हैं जैसे सब प्राणियों के शरीर में स्रक्, रजस् और तमोरूप सब गुण देशकाल वस्तु भेद से न्यूनाधिकता को प्राप्त हुए सदा ही ठहरते हैं। वे ही गुण ब्राह्मणादिवर्ण के सूचक हैं क्योंकि गुणों का होना ही ब्राह्मणादिपन जताता है। अर्थात् जिन गुणों से ब्राह्मणादिवर्णों का विभाग बनता है वे सत्त्वादि कारण से कार्य में आते हैं

इस कारण नित्य हैं। इस प्रकार एक २ मनुष्य के शरीर में चारो वर्ण रहते हैं अर्थात् ब्राह्मणादि चारो वर्ण में चारो का समावेश रहता है। ब्राह्मण में ब्राह्मण का गुण प्रधान और अन्य तीन का गौण रहता तथा ऐसे ही क्षत्रियादि में जानो। इसी के अनुसार वेद में भी लिखा है कि (ब्राह्मणोऽस्य मुख०) अर्थात् इस मनुष्य शरीररूप समुदाय के चार अवयव मुख्य हैं उन में सर्वोपरि उत्तम वेदादि के पढ़ने पढ़ाने मनन वा विचार के हेतु धर्म के उपदेश वा प्रचार को बढ़ाने वाला शिरमात्र मुख ब्राह्मण है अर्थात् विद्या और धर्म के प्रचाररूप मुख्यकर मुख अवयव से सिद्ध होने योग्य कर्म में तत्पर पुरुष ब्राह्मण है। दुष्टों का ताड़न तथा श्रेष्ठों की रक्षा करनेरूप भुजबल से सिद्ध होने योग्य प्रजारक्षणरूप काम में मुख्यकर तत्पर बाहु प्रधान क्षत्रिय कहाता तथा मुख्यकर गोड़ों से सिद्ध होने योग्य पशुओं की रक्षा आदि काम में प्रवीण वैश्य और पगों से सम्बन्ध रखने वाले इधर उधर भागनेरूप दासकर्म में प्रवृत्त शूद्र है। अर्थात् एक २ शरीर में मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय और गोड़े वैश्य तथा पग शूद्र हैं यह मन्त्र का आशय है। सत्त्वगुणी ब्राह्मण, रजोगुणप्रधान क्षत्रिय तथा रजस् और तमोगुण के मेल में वैश्य और तमोगुणप्रधान शूद्र है अर्थात् एक २ शरीर में चारो वर्ण का गुण वा धर्म रहने पर भी जिस २ व्यक्ति में जिस २ वर्ण के धर्म की प्रधानता हो वह २ उसी ब्राह्मणादिपद का वाच्य होता है उस में सत्त्वादिगुण उदाहरण वा दृष्टान्त हैं। ऐसा होने पर गर्भाधान समय माता पिता के शरीर में जिस गुण का जैसा उत्कर्ष स्वाभाविक प्रवृत्ति से हो वा नैमित्तिक सत्सङ्ग आदि व्यवहार से होवे तो उन का सन्तान वैसे ही गुण को विशेष कर धारण करने वाला होगा। सो सुश्रुत के शरीरस्थान में कहा भी है कि जैसे २ आहार आचार और चेष्टा से युक्त हुए स्त्रीपुरुष गर्भाधान करें उस समय उन दोनों के मन की वासना जैसी होगी वैसे ही संस्कारों वाला सन्तान होगा। इसी कारण एक ही पुरुष के सन्तानों में भिन्न २ बुद्धि वा स्वभावादि होते हैं। क्योंकि सब के गर्भाधान में पिता माता की वासना एकसी नहीं रह सकती। इस से सिद्ध होगया कि कारणसे कार्य में गुण आया करते हैं। वर्णविचार दो प्रकार का है एक लौकिक और दूसरा शास्त्रीय लौकिक विचार में गुणकर्मों के अभाव होने पर भी ब्राह्मणादि शब्दों का प्रयोग उन २ व्यक्तियों के साथ किया जाता है यह सिद्धानुवाद है। और शास्त्र की आज्ञा वा सम्मति से जिस २ में ब्राह्मणादि के गुण कर्म हों वे २ ही ब्राह्मणादि

पद वाच्य हों और गुण कर्मों की प्रधानता परीक्षा के आधीन है। जैसे ब्राह्मणत्व की परीक्षा के लिये जो सत्यादि गुण हैं उन का आपत्काल में भी त्याग न करे कितनी ही हानि वा दुःख उठाना स्वीकार कर ले पर जो अपने सत्याचरणादि धर्म को न छोड़े। धर्म छोड़ने से अपना शरीर बचता हो वा धर्मानुकूल वर्तने से पुत्रादि के वध का अवसर आगया हो वा धनादि वस्तुओं की बड़ी हानि होती हो तो भी जो सत्य और असत्य में से सत्य का ही आचरण स्वीकार करे। अपने धर्म की रक्षा के लिये अपने जीवनादि को भी अर्पण कर दे वह ब्राह्मण है। जहां विशेष हानि लाभ नहीं हैं वहां किसी के सत्यभाषण की दृढ़ता भी ब्राह्मणपन को सिद्ध नहीं कर सकती क्योंकि सब समय सब बातों की परीक्षा नहीं होती इसीलिये नीति में कहा है कि [जानीयात्प्रेषणे०] किसी विशेष समय कठिन प्रदेश में विशेष दुःख में भेजने की आज्ञा दे कर भृत्य की परीक्षा करे। व्यसन में कुटुम्बियों की आपत्काल में मित्र की और निर्धनता के समय स्त्री की परीक्षा करे। इत्यादि प्रकार सब बातों की परीक्षा विशेषदशा में हुआ करती है सब समय में सब की परीक्षा नहीं होती। इसी प्रकार प्रजा की रक्षा के लिये दुष्टों को दण्ड देने के अर्थ जो अपने प्राण का भी अर्पण करता है तथा युद्ध के समय जो प्राण बचाने के लिये मुख न मोड़े वह क्षत्रिय है। इसी प्रकार वैश्यादि भी अपने धर्म को प्राण से भी अधिक प्रिय मान कर सेवन करते हुए परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उस २ वर्ण में प्रविष्ट हो सकते हैं। यदि कोई कहे कि ऐसी परीक्षा में उत्तीर्ण तो कोई ही हो सकते हैं सब वा प्रायः नहीं तो उत्तर यही है कि जो परीक्षा में उत्तीर्ण हों वे ही पूरे ब्राह्मणादि हैं सब नहीं। अन्यो में से जिस में जिस की अपेक्षा जैसे गुण की जितनी प्रधानता होगी वह उस की अपेक्षा वैसा ही न्यूनाधिक ब्राह्मणादि होगा वा साना जायगा क्योंकि सब बातें सापेक्ष हुआ करती हैं। परन्तु ब्राह्मणादि पदों का जो मुख्य अर्थ है उस का सर्वथा अभाव होने से उन को ब्राह्मणादि न कहना वा न मानना चाहिये। जैसे ब्रह्मशब्द से ब्राह्मणशब्द बना है यद्यपि ब्रह्मशब्द के कई अर्थ हैं तथापि धर्मशास्त्र के सिद्धान्तानुसार यहां वेद के पर्यायवाचक ब्रह्मशब्द से ब्राह्मणपद बनता है। अर्थ यह है कि ब्रह्मनाम वेद का पढ़ने पढ़ाने जानने तथा उपदेशादिद्वारा प्रचार करने वाला ब्राह्मण है। धर्मशास्त्र में लिखा है कि (शूद्रेण हि समस्ता-वद्यायद्दे न जायते) “तब तक वह शूद्र के ही तुल्य है जब तक यज्ञोपवीत

संस्कार होकर उस का वेद में प्रवेश न हो" वेद के पढ़ने पढ़ाने जानने वा प्रचार-
 रादि करने में जिस का जितना उद्योग वा प्रदंश है उस में उतना ही ब्राह्मणपन
 है। सन्ध्या गायत्री तथा अग्निहोत्रादि पञ्चमहायज्ञों का जानना करना भी कुछ
 वेद के साथ सम्बन्ध रखता वा उस में प्रवेश है इस लिये सन्ध्यादि करने वा जानने
 वाले को भी किसी प्रकार ब्राह्मण कह सकते हैं। प्रयोजन यह है कि सत्यादि
 धर्म के लक्षणों का सेवनमात्र ब्राह्मणत्व का प्रयोजक नहीं किन्तु ब्रह्मनाम वेद
 का जानना और वेदोक्त कर्मों का करना ही ब्राह्मण बनाता है किन्तु केवल सत्या-
 दि के आचरण से ब्राह्मण नहीं होता और दोनों के होने से ठीकर पूरा ब्राह्मण
 हो सकता है। क्षत्र शब्द का अर्थ है कि क्षत नाम घाव वा पीड़ा से बचावे
 अर्थात् बलवान् जीव निर्बलों को दुःख न देने पावे ऐसा उद्योग करने वाला
 क्षत्रिय, व्यवहार ज्ञान में प्रवेश करने वाला वैश्य और कार्यों की सिद्धि के लिये
 शीघ्र भागने वाला शूद्र कहाता है। ये चारो गुण एकर में भी रहते हैं परन्तु
 जिस में विशेष प्रवृत्ति होती उसी २ गुण की प्रधानता से वह यथोचित ब्राह्म-
 णादि कहाने योग्य होता है। यह शास्त्र की व्यवस्था है परन्तु लोक में गुणक-
 मोंदि की अपेक्षा को छोड़ कर केवल जन्म से भी ब्राह्मणादि वर्णों का एक २
 समुदाय माना जाता है। जिस २ ब्राह्मणादि समुदाय में जिस २ वर्ण की उत्पत्ति
 होती है वह २ ब्राह्मणादि पदवाच्य माना जाता है। इस दोनों प्रकार की वर्ण
 विभाग व्यवस्था में गुणकर्मों से ब्राह्मणादि के मानने की प्रधानता है क्योंकि जो
 कुछ जन्म से भी ब्राह्मणादिपन है वह कारण के गुण कार्य में आने से ही बन
 सकता है। सो जाति की अपेक्षा गुणकर्मों की ही प्रधानता को मान कर महा-
 भारत में ऐसा कहा है कि "एक अजगर बोला कि हे राजन् युधिष्ठिर! ब्राह्मण
 कौन हो सकता और जानने योग्य क्या है? तुम्हारे वचन सुन कर मुझे अनुमान
 हुआ कि आप बड़े विचारशील बिद्वान् हैं ॥१॥ युधिष्ठिर बोले कि सत्यबोलना
 मानना वा करना दान देना, सहनशीलता का धारण करना, कोसल स्वभाव,
 अच्छा आचरण, हिंसा का सर्वथा त्याग, निन्दास्तुति आदि द्वन्द्व का सहना
 और सब पर दया रखना ये गुण वा स्वभाव जिस में दीख पड़ें उसे ब्राह्मण
 मानना चाहिये ॥ २ ॥ फिर सर्प बोला कि चारो वर्ण में जब सामान्य कर ही
 सत्य का प्रमाण है क्योंकि वेदादि शास्त्रों में सब को सत्य बोलना चाहिये ऐसी
 आज्ञा दी गयी है। शूद्रों में भी सत्य का आचरण तथा दान और क्षमा हो

सकती और सब में एकता बढ़ाना और हिंसा का त्याग तथा दया करना इत्यादि धर्म के सामान्य लक्षण शूद्र में भी मिल सकते हैं तो क्या शूद्र भी ब्राह्मण होगा ? अर्थात् आप के ब्राह्मणविषयक लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है। युधिष्ठिर फिर बोले कि निद्रा आलस्य प्रमाद अत्यन्त मैथुन में आसक्ति मिथ्या-भाषण में रुचि इत्यादि निकृष्ट कर्मों में रमण करना ही शूद्र का चिह्न है वह ब्राह्मण में नहीं है क्योंकि ब्राह्मण सत्त्वगुणप्रधान होता है इस कारण एक ब्राह्मणादि के शरीर में सत्त्वगुण और तमेगुण की एक काल में एक साथ प्राधान्यता नहीं हो सकती। लोक में जिस को शूद्र और जिस को ब्राह्मण मानते हैं शास्त्र की मर्यादा के अनुसार भी वही शूद्र और ब्राह्मण माना जावे सो नहीं हो सकता क्योंकि अज्ञानी लौकिक लोगों में अन्धे फैल सकता है पर वेदादि शास्त्रों का विचार करने वाले विद्वान् लोग वैसा नहीं मान सकते किन्तु विद्वानों का यही सिद्धान्त है कि जिस में सत्य और दान आदि पूर्वोक्त गुणों का ठीक २ आचरण हो वह ब्राह्मण और जिस में सत्यादि का वर्त्तावरूप चिह्न न दीख पड़े वही शूद्र वा क्षत्रिय वा वैश्य है ॥

सर्प फिर बोला कि हे राजन् यदि तुम केवल गुणकर्मों का आचरण देखने मात्र से ब्राह्मण मानते हो तो जब तक कर्म न हों तब तक जाति वृथा है अर्थात् जाति नाम उन २ कुलों में जन्म होने से ब्राह्मणादि मानना सर्वथा निष्फल हुआ जाता है पर ऐसा होना अनुचित है ॥

इस पर युधिष्ठिर बोले कि जिस जाति को शास्त्रकारों ने भिन्न २ नित्य और सत्य अव्यभिचारिणी माना है वह जाति यहां मनुष्यमात्र की एक लेनी चाहिये अर्थात् मनुष्यजाति सत्य और अव्यभिचारिणी है कभी मनुष्य से पशु पक्षी आदि नहीं बन सकता। और ब्राह्मणादि मुख्यकर जाति नहीं किन्तु वर्ण हैं गुणकर्मों का देख कर उस २ वर्ण का अधिकार वा प्रतिष्ठा दी जाती है इस कारण वर्ण कहते हैं। उन की परीक्षा ब्राह्मणादि के कुल में जन्म होनेमात्र से नहीं हो सकती क्योंकि यद्यपि ब्राह्मणादिपन गुण कर्म से ही कार्य में आता है तथापि व्यभिचार के होने और माता पिता के संस्कार वा आचरण गर्भाधान समय में विपरीत होने से परीक्षा होना दुस्तर है। प्रायः कुलों में गुप्त वा प्रसिद्ध वर्णसङ्कर तथा धर्मसङ्करता का दोष लगता रहता है। सब ब्राह्मणादि लोग सब जंच वा नीच कुल की स्त्रियों में सदा सन्तानों को उत्पन्न करते रहते हैं। वाणी

मैथुन जन्म और मरण आदि सब मनुष्यों का तुल्य ही स्वाभाविक काम है अर्थात् ब्राह्मणादि की स्वाभाविक वाणी आदि में भेद नहीं। जो कुछ नैमित्तिक भेद है वह विद्या पढ़ने आदि से ब्राह्मण और शूद्र में बराबर होगा अर्थात् व्याकरणादि पढ़ने से जैसे ब्राह्मण की वाणी आदि का संशोधन होगा वैसे ही शूद्र की वाणी का भी होगा इस से नैमित्तिक में भी तुल्यता रही। वाणी मैथुन और जन्म मरण ही मनुष्यादि जातियों के भेदक हैं। मनुष्य पशु पक्षी आदि की वाणी भिन्न २ है और जिन में वाणी आदि का भेद नहीं उन का जातिभेद मानना भी ठीक नहीं है। इसी के अनुसार मनुष्यमात्र की वाणी आदि में भेद नहीं इस कारण सब मनुष्य एक जाति हैं॥ तथा (ये यजामहे) यह वेद का प्रमाण है इस का अभिप्राय यह है कि हम लोग ब्राह्मण वा अन्य जो हैं वे यज्ञ करते हैं अर्थात् हम नहीं जान सकते कि हम ब्राह्मण हैं वा कौन इस प्रकार जाति से ब्राह्मण होने में व्यभिचारादि का सन्देह मानकर यज्ञकर्म करने में दृढ प्रीति और प्रवृत्ति होने से ब्राह्मण होने का निश्चय होता है इस लिये हम को यज्ञ करना चाहिये। इस कारण तत्त्वज्ञानी लोग शील अच्छा स्वभाव शुभकर्म में रुचि वा प्रवृत्ति ही को मुख्य कर ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था का हेतु मानते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणादि के होने में गुणकर्म की प्रधानतापरक वैदिकप्रमाण देकर (प्राङ्नाभि०) इत्यादि मनुस्मृति का प्रमाण देते हैं कि मनु जी भी जन्ममात्र से ब्राह्मणादि नहीं मानते। बालक का जन्म होते ही नालच्छेदन करने से पूर्व ही पुरुष का जातकर्म संस्कार कहा है। उस समय वेद के मन्त्रों से मधु और घृत बालक को चटाया जाता है उस वैदिक संस्कार से वह पवित्र किया जाता है यज्ञोपवीतसंस्कार में सावित्री (तत्त्ववितु०) मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना उपासना वतलायी जाती है उस समय माता के तुल्य हितकारिणी गायत्री और गुरु उस शिष्य ब्रह्मचारी का पिता होता है और उत्पादक माता पिता का साथ उस समय छुड़ा दिया जाता है। जब तक यज्ञोपवीतसंस्कार होकर वेदीक्तकर्म करने और वेद के पढ़ने में प्रवेश न हो तब तक ब्राह्मणादि के बालक भी शूद्र के तुल्य जानने चाहिये। इस प्रकार जगत् में दो प्रकार की बुद्धि है कोई जन्म से ब्राह्मणादि जाति मानते और कोई गुण कर्मों के विद्यमान होने से मानते हैं। इस पर स्वायम्भुवमनु ने (जिन की मनुस्मृति है) कहा है कि यदि अपने २ गुण कर्मों का वर्त्ताव नहीं तो वे ब्राह्मणादि नहीं मानने चाहिये। वे अपने कर्त्तव्य

से च्युत हो कर शूद्र तुल्य हो गये उन के लिये कुछ कर्त्तव्य नहीं । इस ब्राह्मणादि वर्णों के पतित वा नीच हो जाने में व्यभिचार वा धर्म के त्याग से संकर हो जाना ही बड़ा कारण माना गया है । जिस व्यक्ति में शूद्र आचरण ठीक धर्मानुकूल हो उस को मैं ने प्रथम ब्राह्मण कहा वा माना है सो यही सिद्धान्तपक्ष है । तथा इसी वनपर्व के ३१३ अध्याय में लिखा है कि “ हे राजन् युधिष्ठिर । कुल गुण कर्म, वेदादि के पढ़ने अथवा बहुश्रुत होने से (इनमें से किस कारण से) ब्राह्मणत्व होता है ? यह निश्चय कर कहो । इस यक्ष के प्रश्न को सुन कर युधिष्ठिर जी बोले कि ब्राह्मण होने में कुल, स्वाध्याय और बहुश्रुत होना ये कोई भी कारण नहीं किन्तु ठीकर सत्यादि का आचरण ही मुख्य कारण है । इस लिये विशेष कर ब्राह्मण को अपना आचरण ठीक रखना चाहिये क्योंकि जिस का आचरण नहीं बिगड़ा वह निर्बल नहीं और आचरण बिगड़ने पर मारा जाता है ॥

पढ़ने पढ़ाने और शास्त्र का विचार करने वाले जितने मनुष्य हैं वे यदि वेदादि शास्त्रों से निषिद्ध अधर्म का सेवन करें तो सब मूर्ख वा शूद्र हैं और जो क्रियायान् अर्थात् वेदोक्तधर्मसम्बन्धी कर्म करने वाला है वही पण्डित नाम ब्राह्मण है । कोई ब्राह्मणादि कुल में उत्पन्न होकर चारो वेद भी पढ़ा हो परन्तु दुराचारी हो तो शूद्र से भी अधिक नीच है तथा जो अग्निहोत्रादि कर्म करता और इन्द्रियों वा मन को यश में रखने वाला है वह ब्राह्मण है । यहां भी अन्य कुल आदि की अपेक्षा सत्यादि के सेवन की प्रधानता दिखायी है । यहां सर्प वा यक्षादि शब्दों से इतिहास का सम्भव असम्भव नहीं देखना चाहिये । जैसे हितोपदेशादि पुस्तकों में बनावटी काक वा मूषक आदि के इतिहास उपदेश करने के लिये कल्पित कर लिये जाते हैं वैसे यहां भी इतिहास कल्पित जानने चाहिये । सर्पादि का इतिहास बना कर ऐसी बातों का उपदेश करना रुचि बढ़ाने के लिये है तथा यह भी दिखाना है कि धर्म वा नीति का वर्त्ताव तिर्यग्योनि में भी किसी प्रकार कुछ होता है तो मनुष्य को अवश्य ही करना चाहिये क्योंकि इस मनुष्य जाति को परमेश्वर ने विचार और धर्म के सेवने से अपने कल्याण कर सकने की सामग्री अन्य पशवादि की अपेक्षा अधिक दी है ॥

इस प्रकार यदि कोई क्षत्रिय वैश्य वा शूद्र के समुदाय में भी उत्पन्न हुआ हो तो वह भी अच्छे आचरणों का ठीकर सेवन करने से ब्राह्मणादि उच्चवर्ण के अधिकार को प्राप्त हो सकता है तथा ब्राह्मणादि उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ भी

नीचकर्मी के सेवन से नीचवर्ण हो जाता है। सो मानवधर्मशास्त्र के दशवें अध्याय में लिखा है कि “शूद्र ब्राह्मण हो जाता तथा ब्राह्मण शूद्र हो जाता है और क्षत्रिय तथा वैश्य भी अपने से निकृष्ट वा उत्तमवर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं” तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्रों में लिखा है कि “धर्म के आचरण से नीच शूद्रादि वर्ण अपने से पूर्व २ वर्ण को प्राप्त होता और अधर्म के सेवन से पूर्व वर्ण अपने से नीच २ वर्ण को प्राप्त होता जाता है अर्थात् शूद्र अच्छे धर्म-सम्बन्धी आचरणों से वैश्य होता, वैश्य क्षत्रिय और क्षत्रिय ब्राह्मण हो जाता है और इसी प्रकार नीचकर्मी से ब्राह्मण क्षत्रिय हो जाता क्षत्रिय वैश्य बन जाता और वैश्य शूद्र हो जाता तथा शूद्र अतिशूद्र हो जाता है। और मनु के पूर्वोक्त वचन का भी यह अभिप्राय नहीं है कि शूद्र क्षत्रिय और वैश्य नहीं बनता वा ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य नहीं बनता किन्तु यह सब होता है ब्राह्मण और शूद्र शब्द उक्त श्लोक में ऊँच और नीच के उपलक्षणार्थ हैं कि ब्राह्मणादि नीचता को प्राप्त होते और शूद्रादि भी ऊँच हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र श्रुति-स्मृतियों में भी बहुत से प्रमाण हैं जिनसे वर्णों की लीट पौट होना स्पष्ट सिद्ध है। और युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मणादि वर्ण लीट पौट हुआ करते हैं क्योंकि ब्राह्मणादि शब्द अधिकारवाचक हैं और अधिकार सदा बढ़ते घटते रहते हैं। इस में ब्राह्मणादि उच्च वंशस्थ मनुष्यों का चाण्डाल आदि के नीचकर्मी के सेवन से शीघ्र चाण्डालादि हो जाना तो प्रसिद्ध है इस को सभी लोग ऐसा ही स्वीकार भी कर लेते हैं। अर्थात् वैसे मनुष्य को उसी चाण्डाल वा ईसाई आदि के समुदाय में छोड़ देते और अपने समुदाय से निकाल देते हैं। जो कोई चाण्डालादि के साथ भोजन वा जलपानादि व्यवहार कर लेता है उस को श्रेष्ठ लोगों की कोटि से शीघ्र ही पतित कर देते हैं यह प्रत्यक्ष है इस में कुछ विशेष विवाद नहीं। परन्तु कोई नीच समुदाय में से अच्छे कर्म करके ऊँचा बनना चाहता है तो उस के ब्राह्मणादि ऊँच बनने में बहुत लोग विवाद करते हैं सो यह विवाद निर्मूल है क्योंकि जब ब्राह्मणादि का पतित होना स्वीकार है तो शूद्रादि का ब्राह्मणादि होना न्याय से प्राप्त है। क्योंकि बनना बिगड़ना दोनों साथ में लगे रहते हैं। जैसे घटपटादि पदार्थ पहिले २ बिगड़ते जाते हैं और नये २ बनते जाते हैं। तथा जो बिगड़ते हैं वे भी पुनः संस्कार होकर साध्य हुए तो शुद्ध हो जाते हैं। परन्तु यह नहीं हो सकता कि पहिले बिगड़ जावें और नये

न बनें। इसी प्रकार जैसे ब्राह्मणादि का बिगड़ना सिद्ध है वैसे शूद्रादि का ब्राह्मणादि बनना भी मानना चाहिये। जगत् में जितने पदार्थ जड़ और चेतन हैं उन सभी में किसी का ऊपरी दशा से नीचीदशा में आना और किसी का नीचीदशा से ऊपरी दशा में जाना ये दोनों बातें प्रत्यक्ष हैं ऊपर वालों का नीचे गिरना ही और नीचों का ऊपर को जाना न ही यह विरुद्ध है। उस में इतना विचार अवश्य होना चाहिये कि जैसे मन्दिर आदि का गिर जाना वा गिरा देना शीघ्र हो सकता है पर उसी घर के बनाने में परिश्रम और काल दोनों अधिक लगते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणादि ऊंच लोग नीचकर्मों के सेवन से शीघ्र ही पतित हो जाते हैं और घर आदि के बनाने के तुल्य शूद्रादि के ब्राह्मणादि होने में बहुत अतिकाल बीतता है। यही सिद्धान्त श्रेष्ठ ज्ञान पड़ता है। विश्वामित्र क्षत्रियादि लोग भी बहुत काल तक तप करके ब्राह्मणादि अधिकार को प्राप्त हुए यहां दृष्टान्तरूप समझने चाहिये। और उत्तम वर्णों का कर्मों से नीच बन जाना तो लोक में भी प्रसिद्ध ही है ॥

कोई लोग जातिमात्र से वर्णव्यवस्था मानते हैं कि जो २ ब्राह्मणादि के कुल में उत्पन्न हुए वे २ ब्राह्मणादि हैं। ऐसा मानने वालों के मत में मट्टी की गौ आदि भी गौ होनी चाहिये क्योंकि वे खिलौना भी गौ आदि की आकृति को लेकर ही बनाये जाते हैं। और धर्मशास्त्र के (जैसे काठ का हाथी वैसा गुण कर्महीन ब्राह्मण) इत्यादि वचन तथा (वह मनुष्य स्थाणुनाम टूट के समान निष्फल है कि जो वेद को पाठमात्र पढ़ के उस के अर्थ को नहीं जानता) इत्यादि वेदवाक्य विरुद्ध होंगे क्योंकि इत्यादि वाक्यों से गुणकर्मों के होने पर ही ब्राह्मणादि का होना सिद्ध किया गया है। और केवल जातिमात्र से ब्राह्मणादि के होने को निष्फल ठहराया है। प्रयोजन यह कि गुणकर्मों के होने से ही सब वस्तुओं की परीक्षा हो सकती है कि यह वस्तु ऐसा है। मट्टी की गौ आदि में गुणकर्मों के न होने से गोत्व नहीं है इस बात को दिखाने के लिये ही “जैसे काठ का हाथी वैसा ही विनपढ़ा ब्राह्मण” इत्यादि वचन धर्मशास्त्रकारों ने कहे हैं। इस कारण केवल जाति से ब्राह्मणादिपन सिद्ध कदापि नहीं हो सकता ॥

कोई लोग जाति को सर्वथा छोड़ कर केवल गुणकर्मों से ही ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग मानते हैं और कहते भी हैं कि यदि जाति से ब्राह्मणादिपन हो तो प्रवेतादि वर्ण और शरीरस्थ रुधिरादि धातुओं में भेद दीख पड़ना

चाहिये शूद्र और ब्राह्मण का रंग वारुधिरादि भिन्न २ हों, सो भेद तो उपलब्ध होता नहीं इस कारण जाति से ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग नहीं मानना चाहिये। ऐसा मानने वालों के मत में प्रथम तो ब्राह्मणादिपन जताने वाले गुणों की अनित्यता वा निर्मूलता प्राप्त होगी। जब गुण कर्म प्रकृति के साथ लगे हैं तो जातिनिर्मूल न हुई किन्तु जन्म से ही जो गुणकर्ममूलरूप से सन्तान में रहते हैं उन्हीं के अनुकूल समय आदि उपयोगी कारण मिलने से वे प्रकट हो जाते हैं। तथा उन के मत में द्वितीय दोष यह भी आवेगा कि वीर्य के प्रधान वा अप्रधान होने से जिन की श्रेष्ठता वा निकृष्टता दिखायी है ऐसे धर्मशास्त्रों के बान्य विरुद्ध हो जायेंगे। जैसे लिखा है कि “श्रेष्ठ आर्यपुरुष से अनार्यास्त्री में उत्पन्न हुआ अच्छे गुणों से आर्य अर्थात् श्रेष्ठ हो सकता है और अनार्यपुरुष से आर्यास्त्री में उत्पन्न हुआ अनार्य होना निश्चित है” तथा “धान, मूंग, तिल, उड़द, यव, लशुन और ईख आदि वस्तु अपने २ बीज के तुल्य उत्पन्न होते हैं। अन्य कुछ बोया जाय और अन्य उत्पन्न हो यह नहीं हो सकता (गेहूं बोने से जौ नहीं उत्पन्न होता) किन्तु जो २ बीज बोया जाता है वह २ ही उत्पन्न होता है” इत्यादि वाक्यों का भी यही आशय है कि जो ब्राह्मणादिपन को सूचित करने वाले गुण हैं वे गर्भाधानदशा में वीर्य से ही गर्भ में आते हैं। यदि कोई कहे कि उक्त वाक्यों का यह अभिप्राय हो कि मनुष्य के वीर्य से पशु नहीं हो सकते तो ठीक नहीं क्योंकि प्राप्ति में निषेध होते हैं। जब मनुष्य के वीर्य से पशु होना प्राप्त ही नहीं तो निषेध कैसे बन सकता है। इस उक्त मनुस्मृति के प्रकरण में बीज और खेत दोनों से बीज उत्तम है ऐसा दिखाया है। सो बीज की प्रधानता का पक्ष लोक में भी स्पष्ट ही दीखता है। जैसे बैल से गौ का संयोग होता है वैसा ही बछड़ा उत्पन्न होता अर्थात् छोटे बैल के साथ संयोग होने से बड़ी-हर बछरा कदापि नहीं हो सकता। इसी कारण बड़ी गौओं के साथ छोटे बैलों का प्रायः संयोग नहीं होने देते। तथा कोई घोड़े अपनी जाति में बड़े प्रबल प्रशंसनीय राशी कहाते विशेष गुणयुक्त होते और वे अश्वजाति में एक अघान्तर भेद भिन्न होते हैं वैसे घोड़े के साथ घोड़ी का संयोग होने से वैसे ही बछेड़ा उत्पन्न होते हैं परन्तु सामान्य मध्यम घोड़े के साथ संयोग होने से वैसे बछेड़ा नहीं होते। कदाचित् कहीं कभी बड़े घोड़े के साथ संयोग होने से भी मध्यम बछेड़ा होते हैं तब मध्यम घोड़ा ऋतुसमय घोड़ी ने देखा हो अर्थात् उस मध्यम

घोड़े की छाया पड़ गयी ऐसा कहते या मानते हैं । पर ऐसी विशेष अपवाद-
दशा में सामान्य नियम का विनाश नहीं होता । जैसे पुरुष से संयोग ही वैसा
बच्चा ही यह बीज के प्रधान होने से सामान्य नियम है और छाया आदि पड़ने
से कहीं अन्यथा होना अपवाद दशा है । यह पूर्वोक्त बीज प्रधानपक्ष जाति को
दृढ़ करता है । जन्म से जो गुण विद्यमान हैं वे ही जाति को सिद्ध करते हैं ।
कहीं क्षेत्रकी भी प्रधानता हो तो भी जाति सिद्ध होगी । वर्णसङ्करों का होना
भी किसी प्रकार जाति को सिद्ध करता है क्योंकि अन्य २ वर्ण के माता पिता
होने से सन्तान वर्णसङ्कर होता है और माता पिता के शरीरों से जो उत्तमता वा
निकृष्टता आती है उसी का नाम जाति है कि जन्म से ही वे उत्तम वा निकृष्ट
माने गये हैं । इस से सिद्ध हुआ कि सर्वथा जाति को छोड़ कर केवल गुणकर्मों
से ब्राह्मणादि वर्णों का विभाग नहीं मान सकते और जहां कहीं केवल गुण कर्मों
से वर्णविपर्यय लोक में हुआ वा दीख पड़ता वा शास्त्रकारों ने माना है वहां
भी पूर्व गर्भाधानदशा से ही उस वर्ण के गुण कर्मों का मूल मानना पड़ेगा कि जो
आगे जाकर वर्ण बनना है । जैसे विश्वामित्र जी क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये यहां
ऐसा समझना चाहिये कि गर्भाधानदशा में उन के पिता माता की बुद्धि आचरण
वा चेष्टा ब्राह्मणत्व की ओर अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान होगी उसी प्रकार का गुण
सन्तान में हुआ उसी गुण ने अवस्था पाकर बल पकड़ा और तप आदि का वि-
शेष सेवन करा कर प्रसिद्ध में ब्राह्मण बना दिया । लोक में ब्राह्मणादि वर्णों का
मान लेना यह एक पृथक् बात है और वास्तव में गुण कर्म और जाति की परीक्षा
से ब्राह्मणादि ठहरना यह दूसरी बात है । जैसे इस समय लोकव्यवस्था के
अनुसार जो ब्राह्मणवर्ण कहाता है उस में सहस्रों क्षत्रिय प्रकृति हो गये उन में
अधिकांश क्षत्रिय के लक्षण पड़ते हैं और वे ग्रामाधिपत्य (जमीन्दारी) आदि
कार करने वाले ब्राह्मण कहाने से घृणा भी करते हैं किन्तु अपने को ठाकुर वा
चौधरी कहाना प्रसन्न करते हैं । तथा अनेक ब्राह्मण अनेक पीढ़ियों से वैसे ही
काम करते २ वैश्य प्रकृति वाले हो गये और अनेक निस्सन्देह शूद्र बन गये
परन्तु लोक में वे सब ब्राह्मण कहाते हैं । यही दशा क्षत्रियादि के समुदायों की
भी है अर्थात् उन में भी एक २ में चारो वर्ण मिले हैं परन्तु गुणकर्म और जाति
ये दोनों साथ लगे हैं । इसी के अनुसार हम कह सकते हैं कि विश्वामित्र जी
जाति से भी ब्राह्मण थे और जो २ ऐसे हुए वा होंगे वे सब जाति और गुणकर्म

दोनों से ब्राह्मणादि मानने चाहिये । विश्वामित्र के मन में जो ब्राह्मणत्व की वासना थी वही ब्राह्मण जाति का चिह्न है उसी की प्रेरणा से तप किया । तप करने के दो प्रयोजन हैं एक तो क्षत्रियकुल की उत्पत्ति और संसर्ग से ब्राह्मणत्व के बाधक जो गुण थे उन को निर्बल करना और लोगों को विश्वास कराना कि हम तप करके ब्राह्मण हुए । अर्थात् बिना तप किये लोक नहीं मान सकते कि ये ब्राह्मण हो गये क्योंकि यह प्रत्यक्ष है और भीतरी वासना की दृढ़ता इसी से प्रकट होती है । और यही दो प्रकार का प्रयोजन सर्वत्र वर्णविपर्यास में होना चाहिये । ऐसे ही लोक में दृष्टि देकर देखा जाय तो सब वर्णों में सब मिले हैं परन्तु बिना तप किये वे उन २ उच्च वर्णों में सामिल नहीं हो सकते कि जिन वर्णों की उन में पूर्ण योग्यता विद्यमान है । इस सब कथन से सिद्ध हुआ कि जाति और गुणकर्म दोनों साथ हैं अर्थात् जो वर्ण बदलते हैं उन में जन्म से ही गुणकर्मों का सूक्ष्मसंस्कार रहता है वही प्रकट हो जाता है ॥

और ब्राह्मणादि वर्णों में रुधिरादि धातुओं का भेद भी होता है जिस के स्वभाव खान पान और आचरण में भेद है उस के शरीरस्थ रुधिरादि धातुओं में अवश्य भेद होगा क्योंकि खान पान और आचरण के अनुसार ही धातु बनते हैं सार्विक आहार से धातुओं में शुद्धि और सत्त्वगुण बढ़ता और रजोगुणी तमो गुणी आहार से धातु भी रजोगुण तमोगुणयुक्त बनते हैं इस से भेद होना सिद्ध ही है । तपा देश और वस्तु के भेद से भेद होगा इस को सभी जान सकते हैं । शरीरों का भिन्न २ होना वस्तु भेद और भिन्न २ अवकाश में होना देश भेद है । इस में सब का रुधिरादि एक नहीं । यद्यपि जलत्व जाति में जल एक वस्तु है उस में जाति भेद नहीं है । तथापि देश भेद और व्यक्ति भेद प्रसिद्ध है अर्थात् इसी देश भेद और व्यक्ति भेद के कारण सब प्रकार के जलों में गुण भेद प्रसिद्ध दीख पड़ता है । कुंआ, तलाब, सरोवर, झील, नदी, नहर आदि के जलों में भिन्न २ गुण हैं । कुओं के और नदियों आदि के जल में भी एक की अपेक्षा दूसरों २ में भिन्न २ गुण वा स्वाद है । इसी प्रकार ब्राह्मणादि वर्णों तथा एक २ शरीर में रुधिरादि धातुओं के गुणभिन्न २ हैं । वर्णभेद भी ब्राह्मणादि में हो सकता है । ब्राह्मण वर्ण के गुणकर्म जिन २ में मिलेंगे वे अधिकांश में गौराङ्ग होंगे । सामान्य प्रकार से संख्या करके देखा जावे तो अन्य की अपेक्षा ब्राह्मण-समुदाय में गौराङ्ग अधिक निकलेंगे । किन्हीं २ द्वीप वा प्रदेशों में असुर वा

दस्य जाति के लोग वा क्षत्रियादि देश के जल वायु के कारण सभी गौराङ्ग होते हैं तो वे सब ब्राह्मण होंगे ? अर्थात् नहीं। वास्तव में यह अतिव्याप्ति दोष इस लिये नहीं है कि हम गौराङ्ग होनेमात्र को ब्राह्मणत्व का प्रयोजक हेतु नहीं मानते कि गौराङ्ग होने से ब्राह्मण होना है किन्तु (ब्राह्मणत्वे सति गौराङ्गत्व-सपि तस्य प्राशस्त्यप्रतिपादकं भवति) अन्य पूर्वोक्त मुख्य गुणों से ब्राह्मणपन के सिद्ध होने पर गौराङ्ग होना भी किसी प्रकार ब्राह्मणपन की प्रशंसा बढ़ाने वाला है। यह दोष तब आ सकता जो हम गौराङ्ग होनेमात्र से ब्राह्मण मानते कि जो २ गौराङ्ग हो वह २ ब्राह्मण है। सो ऐसा तो हम मानते नहीं इस लिये कोई दोष नहीं। अन्य भी कोई दोष इस पक्ष में आवे तो इसी प्रकार समाधान कर लेना चाहिये। शारीरिक अवयवों की शुद्धि की न्यूनाधिकता होना ही वर्ण भेद का कारण है। सो इस ब्राह्मणादि के शरीरों में रुधिरादि धातुओं के भेद को सूक्ष्मदर्शी बड़े २ विद्वान् लोग ही जान सकते हैं। सात्त्विक आहार के सेवन से वैसे ही गुण वाले रमादि धातु उत्पन्न होते हैं। और धातु भेद को लेकर ही बीज के प्रधान होने का व्याख्यान हो सकता है। इस कारण ब्राह्मणादि वर्णों की जाति और गुणकर्म से व्यवस्था माननी चाहिये। शूद्र ब्राह्मण हो जाता वा ब्राह्मण शूद्र हो जाता है इत्यादि कथन तो शूद्रसमुदाय में उत्पन्न हुए लोक में शूद्र करके प्रसिद्ध पुरुष को ब्राह्मणत्व दिखाने के लिये है। वास्तव में तो वह शूद्र समुदाय में उत्पन्न हुआ पूर्व गर्भाधान समय से ही किसी प्रकार ब्राह्मण के संस्कार वा गुणों से युक्त था। अर्थात् उस की माता का ब्राह्मण के साथ विवाह होने अथवा गर्भाधान के समय उस के पिता के शरीर में सत्सङ्गादि से प्राप्त हुए ब्राह्मणसम्बन्धी गुणों में उत्तेजना होने आदि से वह ब्राह्मण गुणधारी था। ऐसा ही मानने से वेदादिशास्त्रों के अनुकूल वर्णव्यवस्था हो सकती है। जो जिस समुदाय में उत्पन्न हुआ उस का वैसे ही ब्राह्मणादि पद से व्यवहार करना लोक की रीति है। वह शास्त्र के अनुकूल ब्राह्मणादिपन नहीं है। शास्त्र का सिद्धान्त जो कुछ है पूर्व संक्षेप से लिख दिया है ॥

अथ वर्णसङ्करविचारः—

तत्रायमाद्यः श्लोकः—व्यभिचारेण वर्णनामवेद्यावेदनेन च ।

स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥

वर्णसङ्करत्वे त्रीण्येव कारणानि वर्णानां ब्राह्मणादीनामित-
रेतरं व्यभिचारः—अन्यस्य भार्याया अन्येन साकं संयोगस्तेन
जायमानमपत्यं वर्णसङ्करत्वमापद्यते । अवेद्यावेदनं विवाहेन प्रा-
प्तुमयोग्यास्तस्मादयस्ताभिः सार्द्धं विवाहस्तेन, स्वकर्मणामध्ययना-
ध्यापनादीनां त्यागेन च वर्णसङ्करा जायन्ते । व्यभिचारोऽन्यस्त्री-
गमनं स्वसमानजातीयानूढाभिः साकं संयोगः । समानजातीयनि-
पिद्धाभिः सार्द्धं विवाहेन संयोगस्त्ववेद्यावेदने सङ्गृहीतो भविष्यति ।
तथाऽन्यवर्णानामनुलोमप्रतिलोमानामूढानूढाभिः साकं संयोगोऽपि
व्यभिचार एवास्ति । तादृशव्यभिचारेण जायमानाः सर्वे वर्णसङ्करा
एव भवन्ति । सङ्करत्वं द्वैविध्यं विरुद्धगुणयोर्द्वयोस्संयोगेन जातः
सङ्करः । यथा दुग्धेन साकं लवणस्य संयोगोऽनिष्टगुणोत्पादक-
स्तथैव शास्त्राज्ञया युक्त्या च यस्य येन साकं संयोगोऽनुचितस्तस्य
तेन साकं संयोगो व्यभिचारस्तेन जायमानः पुरुषो लोके सङ्कर
इत्युच्यते । स्वकर्मणां त्यागेन ये वर्णसङ्करा भवन्ति तेषां स जीव-
न्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छतीत्यादिना वर्णनं यथावसरमस्मिन् मानवध-
र्मशास्त्रे कृतम् । वर्णानां व्यभिचारेणावेद्यावेदनेन च जायमानाना-
मत्र दशमाध्याये विशिष्टं व्याख्यानं तत्र कृतम् । ते सङ्करा द्विविधाः
प्रतिलोमजा अनुलोमजा वा तत्र ब्राह्मणादिभ्यः स्वस्वापेक्षया निकृ-
ष्टवर्णस्त्रीषु जायमाना अनुलोमजाः । स्वस्ववर्णापेक्षयोत्कृष्टवर्णस्त्रीषु
शूद्रादिभ्यो जायमानाः प्रतिलोमजाः । बीजप्रधानपक्षं पुरस्कृत्य
प्रतिलोमजापेक्षयाऽनुलोमजाः श्रेष्ठतमा गण्यन्ते । अम्बुष्ठादयोऽनु-
लोमजाः शूनादयश्च प्रतिलोमजाः । पुंजरपि द्विविधा एव वर्णस-
ङ्कराः । आद्यावस्तुर्णमेव वर्णानामितरेतरं व्यभिचारेण जाताः

प्रतिलोमानुलोमजाः । सङ्करस्त्रीषु सङ्करपुरुषैरेव जाता द्वितीयाः ।
ते च व्यभिचारबाहुल्येन सदाऽवान्तरभेदैर्भिन्ना नूतना वर्द्धन्ते ।
तेषां कर्मानुकूलानि नामानि पूर्वजैः कृतानि क्रियन्ते च । यैर्वेदो-
क्तरीत्या ब्राह्मादयो विवाहा भार्यया सार्द्धं गार्हस्थ्यधर्मसेवनाय
क्रियन्ते तत्रैव ब्राह्मणादय उत्तमा वर्णा भवन्ति । ये च धर्माऽध-
र्मविवेकं विहाय कामासक्तचेतस्त्वादयः कयापि साकं संयुज्यन्ते
तेषामेव कुत्सितसंस्कारैर्जायमानास्सङ्करा अपि नृशंसा अनृतवा-
दिनो ब्रह्मधर्मद्वेष्टारो भवन्ति । गुप्तव्यभिचारेण गुप्ता अपि वर्णस-
ङ्करा भवन्ति तथा केचित्स्वस्य वर्णसङ्करत्वं जानन्तोऽपि स्वस्य
प्रतिष्ठारक्षणेन स्वार्थसाधनाय गोपयन्ति । तदर्थमेतदुक्तम्—

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।

पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।

न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्थ स्याद्योनिःसङ्करः ।

संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥

एवं द्विविधानामपि सङ्कराणां परीक्षा कर्तुं शक्यते । अस्मिन्
मानवधर्मशास्त्रे ब्राह्मणादिवर्णैर्भ्यो वर्णसङ्कराणां पृथक्त्वं प्रदर्शितं
तेनानुमीयते पुरा स्वकर्मत्यागिनो गुप्तव्यभिचारादिना जाता वा
ब्राह्मणादिषु मिलिता नासन् तदैव शुद्धा वर्णव्यवस्थाऽप्यासीदि-
दानीं चार्यराज्ञामसत्त्वात्तत्सर्वं विनष्टमिति ॥

भाषार्थः—अब वर्णसङ्करविषयक विचार किया जाता है जिस के विषय में
यह मुख्य वा प्रथम श्लोक है कि “ ब्राह्मणादिवर्णों का परस्पर व्यभिचार होने

अर्थात् किसी वर्ण की स्त्री का किसी अन्य वर्ण के पुरुष से गुप्त वा प्रसिद्ध संयोग होने से तथा जिनके साथ विवाह न करना चाहिये उन भगिनी आदि के साथ विवाह कर लेने और अपने वर्ण के कर्मों को छोड़ कर अन्य वर्ण के कर्मों का सेवन करने लगने से मनुष्य वर्णसङ्कर हो जाते हैं। अर्थात् पहिले दो कर्मों से उत्पन्न होने वाले आगे वर्णसङ्कर बनते और उन के पिता माता वर्णसङ्कर नहीं होते किन्तु कुत्सित कर्म से निन्दित अवश्य हो जाते हैं। और तृतीय अपने कर्मों के त्याग से वे ही त्यागने वाले वर्णसङ्कर हो जाते हैं। वर्णसङ्कर होने में ये ही तीन कारण हैं। " ब्राह्मणादिवर्णों के अपने कर्म पढ़ने पढ़ाने आदि धर्मशास्त्रोक्त हैं। व्यभिचार यहां दो प्रकार का लेना है। एक तो अपने २ वर्ण की उन स्त्रियों से संयोग करना जिन के साथ विवाह नहीं हुआ। और द्वितीय अपने से भिन्न वर्णों की उन दोनों प्रकार की स्त्रियों से संयोग करना जिन के साथ उस पुरुष का विवाह हुआ वा न हुआ हो ऐसी अनुलोम प्रतिलोम दोनों वर्ण की स्त्रियों से संयोग करना भी व्यभिचार ही है। ऐसे व्यभिचार कर्म से उत्पन्न होने वाले सब वर्णसङ्कर कहाते हैं। सङ्कर नाम दो प्रकार के मेल का है विरुद्ध गुण वाले दो वस्तुओं वा प्राणियों के संयोग से उत्पन्न हुआ सङ्कर कहाता है। न्यायशास्त्र में लिखा है कि जैसे गुण कारण में होते हैं वैसे ही कार्य में आते हैं। इसी के अनुसार व्यभिचार करने वाले स्त्री पुरुषों में धर्म का लेश नहीं होता किन्तु चोरी लम्पटता कामासक्ति लज्जा शङ्का भय कामवश होकर झूठ विश्वासघात और हिंसादि करने में तत्पर होते हैं। इस कारण वैसे ही गुण सन्तान में आते हैं इस से वह सन्तान द्विरङ्गा वा वर्णसङ्कर कहाता है। जैसे दूध के साथ लवण का संयोग होने से अनिष्टगुण उत्पन्न होता है वैसे ही शास्त्र की आज्ञा और युक्ति से जिस का जिस स्त्री के साथ संयोग होना अनुचित है उस पुरुष का उस स्त्री से संयोग होना व्यभिचार है उस व्यभिचार से उत्पन्न हुआ पुरुष लोक में सङ्कर कहा जाता है। अपने कर्मों के त्याग से जो वर्णसङ्कर होते हैं उन का वर्णन "जो वेद को न पढ़ के अन्य शास्त्रों में परिश्रम किया करता है वह जीवित ही अपने कुटुम्ब सहित शूद्र हो जाता है" इत्यादि प्रकार का मान्य कर इस मानवधर्मशास्त्र के सभी अध्यायों में किया गया है। तथा वर्णों के व्यभिचार और विवाह न करने योग्य स्त्रियों के साथ विवाह करने से उत्पन्न होने वाले सङ्करों का इस दशमाध्याय में विशेष कर वर्णन

किया गया है। वे सङ्कर दो प्रकार के हैं एक अनुलोमज अर्थात् ब्राह्मणादि उत्तम वर्णस्यपुरुषों का अपने से निरुष्ट २ वर्णों की स्त्रियों से विवाह वा व्यभिचार होकर उत्पन्न हुए अनुलोमज कहाते और शूद्रादि नीच वर्णस्य पुरुषों का अपने से ऊँच २ वर्णों की स्त्रियों से व्यभिचार होकर उत्पन्न हुए प्रतिलोमज सङ्कर कहाते हैं। बीज के प्रधान पक्ष को आगे लेकर प्रतिलोमज सङ्करों की अपेक्षा अनुलोमज संकर अतिश्रेष्ठ माने जाते हैं। और ये अनुलोमज किसी प्रकार शुद्ध संस्कारी होने से कुछ काल तक शुभ कर्मों का सेवन कर के द्विजों में संख्यात हो सकते हैं। अश्वत्थ आदि अनुलोमज और सूतादि प्रतिलोमज हैं। तथा अन्य प्रकार से भी वर्णसंकरों के दो भेद हैं एक तो चारों वर्ण के परस्पर व्यभिचार से उत्पन्न होने वाले और द्वितीय संकर पुरुषों से भिन्न २ संकरों की स्त्रियों में उत्पन्न हुए। इन दोनों के साथ प्रतिलोम अनुलोम दोनों भेद बने रहते हैं। वे संकरजातिस्थ लोग व्यभिचार बढ़ते जाने से नवीम २ अवान्तर भेदों से बढ़ते जाते हैं उन के कर्मानुकूल नाम पूर्वजों ने किये और करते हैं।

जहां लोग स्त्री के साथ धर्मानुकूल गृहस्थ धर्म के सेवन के लिये ब्राह्म आदि विवाह वेदोक्त रीति से ठीक २ करते हैं वहाँ ब्राह्मणादि उत्तम वर्ण होते हैं। और जो धर्म अधर्म के विचार को छोड़ कर चित्त से कामासक्त हो कर जिसकिसी जाति की स्त्री के साथ संयोग करते हैं उन्हीं के निन्दित संस्कारों से हुए संकर लोग भी हिंसक मिथ्यावादी और वैदिक धर्म के द्वेषी होते हैं। गुप्त व्यभिचार से उत्पन्न हुए अच्छे २ घरों में गुप्त भी वर्णसङ्कर हो जाते हैं। कोई लोग अपने को वर्णसङ्कर जानते हुये भी छिपाते हैं। इस लिये मानवधर्मशास्त्र के दशवें अध्याय में यह कहा है कि—“द्वेष वा ईर्ष्या करने में तत्पर होना वा नास्तिकता का धारण करना कि जन्मान्तर वा परलोक में शुभाशुभ फलदाता कोई ईश्वर नहीं इस लिये जो मन में आवे सो धर्म वा अधर्म करना चाहिये कि जिस से हम अभी सुखी रहें ऐसी बुद्धि वाला पुरुष अनार्य कहाता और इससे विपरीत आर्य है। निष्ठुरता—कठोर बोलना वा कुछ काम न करना, क्रूरता—निष्ठप्रयोजन हिंसा करना तथा निष्क्रियात्मता—धर्मसम्बन्धी काम से विमुख रहना ये बातें पुरुष का नीच वा वर्णसङ्कर होना प्रकट करती हैं। अर्थात् कोई बड़ा प्रतिष्ठित भी बनता हो परन्तु उपरोक्त लक्षण मिलते हों तो जान लो कि वह नीच वा वर्णसङ्कर है। व्यभिचार से उत्पन्न हुआ पुरुष पिता के जैसे गुणकर्मों वाला हो

वा साता के तुल्य अथवा दोनों के लक्षण उस में मिलेंगे परन्तु वह नीचों से उत्पन्न हुआ सङ्कर अपने स्वभाव को कदापि छिपा नहीं सकता । भले ही मुख्य प्रशंसित कुल में उत्पन्न हुआ हो पर जो किसी नीच पुरुष के वीर्य से होगा तो उस नीच के स्वभाव को थोड़ा वा बहुत अभ्यर्थ ही वह सङ्कर मनुष्य धारण करेगा,, ऐसे दोनों प्रकार के गुप्त सङ्करों की परीक्षा करनी चाहिये । इस मानव धर्मशास्त्र में ब्राह्मणादि वर्णों से वर्णसंकरों का पृथक् होना दिखाया है तिस से अनुमान होता है कि पहिले इस देश में अपने कर्मों को छोड़ देने वाले ब्राह्मणादि और गुप्त व्यभिचार से हुए संकर लोग ब्राह्मणादि वर्णों में मिले नहीं रहते थे किन्तु बीच २ में परीक्षा कर २ के निकाल दिये जाते थे तभी वर्णव्यवस्था भी शुद्ध थी । और अब आर्य राजाओं के न रहने से वे सब नियम टूट गये इस से कोई वर्ण ठीक २ शुद्ध नहीं रहा इसी कारण आर्यावर्त्त देशकी बड़ी हानि हुई और होती जाती है । यही एतद्देशीय मनुष्यों को महादुःख का कारण है ॥

अथापद्धर्मविचारः ॥

धर्मो द्विविधः सनातनधर्मः आपद्धर्मश्च स्वस्थदशायां सेव्यो वेदादिशास्त्रेषु कर्तव्यत्वेनोपदिष्टः सनातनो धर्मः । यदा सनातनधर्मसेवनेन निर्वाहः कर्तुं न शक्यते तस्मिन् काले येन प्रकारेण निर्वाहकरणाय धर्मशास्त्रकारैराज्ञा दीयते स आपद्धर्मः । यस्य यस्य ब्राह्मणादिवर्णस्य ये येऽध्यापनादिधर्मा धर्मशास्त्रे प्रकीर्तितास्तेषां सेवनं यदि कथञ्चिद्देशकालवस्तुभेदेनासम्भवं स्यात्तदाऽपि सर्वथाऽज्ञानान्धरूपेऽधर्मगते न पतेत्किन्तु स्वल्पधर्मसेवनेनापि निर्वाहकरणं वरम् । यथोत्सर्गे कृते स्वयमेवापवादः प्रवर्तते तस्य निरोधः कर्तुं न शक्यते तथैवापदोऽपि स्वत एवायान्ति तदानीं कर्तव्यमेवापद्धर्मः सनातनधर्मस्य बाधक आपद्धर्मः स्यादिति न शङ्कनीयम् । यथा सवर्ण्यैकया सार्द्धं वेदोक्तरीत्या द्विजादीनां विवाहः सनातनो धर्मः । विधवानामापदि निर्वाहाय नियोग

आपद्धर्मः । तस्य नियोगस्य व्यभिचारेण भ्रूणहत्यापवादप्रचाराद्य-
पेक्षया प्राशस्त्यं धर्मत्वं चास्ति यदेकया सह नियोगेन सन्तानोत्प-
त्त्या द्वयोरपि नियुक्तयोरपत्ये प्रीतिर्वर्द्धते । विवाहापेक्षया तु नियोग-
स्य प्राशस्त्यं नास्ति । अतएव यो या वा विवाहेन निर्वाहं करोति
तदर्थो नियोगो नास्ति । यदि नियोगं करिष्यामीति मत्वा काचि-
त्स्वपतिं घातयेत्तदापि नियोगकरणं दूषितं न भवति यदि नियोगो
न स्यात्तदाऽन्यपुरुषेण साकं धावनमत्यापि पतिं घातयितुं शक्नो-
ति । कदाचिद्वूषणमेव स्यात्तदापि नियोगस्याकर्तव्यत्वं न सम्भव-
ति । यथा मृगभक्षणादिभयेन यवगोधूमादीनां वपनं न निरुध्यते
तथैवात्रापि दोषनिवृत्तयेऽन्ये उपायाः कर्तव्या आपद्धर्मास्तु विप-
त्समये सेव्या एव नियोगस्त्वत्र दृष्टान्तरूपोऽस्ति । ब्राह्मणादयो
वर्णा यदा स्वस्वकर्मभिर्जीविकां कर्तुमशक्तास्तदा तैः स्वस्मान्निकृष्ट-
वर्णस्य कर्मभिर्जीविका कार्या । जीवेत् क्षत्रियधर्मेण सह्यस्य प्रत्य-
नन्तरः । उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृषिगोर-
क्षमास्थाय जीवेद्दृश्यस्य जीविकाम् ॥

कृषिं यत्नेन वर्जयेदिति तु कस्यचिन्मतं न मनोः । एवमन्यैः
क्षत्रियादिभिरपि वैश्यादिवृत्त्याऽऽपदि निर्वाहः कार्यः ॥

आपत्कालविषये महाभारत आपद्धर्मानुशासननामकमेकं शा-
न्तिपर्वान्तर्गतमवान्तरं पर्वोस्ति तत्र आपद्धर्माः स साधनाः सोदा-
हरणदृष्टान्ताः प्रायशो विस्तरेण व्याख्याता दृश्यन्ते । तत्रायं सारः
आपत्काले निर्वाहाय मनुष्यो नीतिज्ञो लोकव्यवहारकुशलः स्या-
त्तदा स स्वस्य सुखेन निर्वाहं कर्तुं शक्नोति । यस्मिन् यथा वर्तते
यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः । मायाचारो मायया

वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ अयमप्यापद्धर्म एवास्ति
ब्राह्मणादिवर्णैः परधनहरणमन्यायेन कस्यापि दुःखदाननिष्ठां च
सदा विहाय वेदोक्ते पञ्चमहायज्ञादौ नित्ये गर्भाधानादौ नैमित्तिके
च कर्मणि प्रीतिं पालयद्भिर्मानसवाचिककायिकान् दशदोषान् वि-
हाय दशलक्षणकं धर्मं च नित्यं सेवमानैः केनापि जीविकाहेतुना
न्यायेनैवापदि निर्वाहः कार्यः ।

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।

धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दशजीवनहेतवः ।

अत्र दशसुजीवनहेतुषु सर्वे धर्मानुकूला न सन्ति किन्तु—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।

प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥

भृतिः क्रयान्तर्गतत्वाद्धर्म्या । शिल्पं गोरक्ष्यं कृषिश्च कर्मयोगे-
ऽन्तर्भवन्ति । तस्मात्तेषामपि धर्म्यत्वम् । सेवा धृतिर्भैक्ष्यं चेति त्रयं
धर्मविरुद्धमतएतत्त्रयं यथासम्भवमापद्यपि ब्राह्मणादिभिर्न सेव्यम् ।
शिल्पकृष्यादिकं केचिद्ब्राह्मणादीनामकर्तव्यं कथयन्ति तच्च न स-
म्यक् पूर्वोक्तप्रकारेण तेषां धर्म्यत्वप्रतिपादनस्य मनुना स्वयमेव
कृतत्वात् । यदि केचिद्विद्याभ्यासादिकर्मणि हानिं दृष्ट्वा शिल्पकृ-
ष्यादिकस्याकर्तव्यत्वं प्रतिपादयन्ति तेन च शिल्पादीनामधर्मत्वं
नायातम् । अनापदि विद्याभ्यासादिना यदा ब्राह्मणादिभिर्निर्वाहः
कर्तुं शक्यते तदा तैः शिल्पादिकं न सेव्यमिति तु सर्वानुमतम् ।
आपत्काले तु जीवनार्थं ब्राह्मणादिवर्णैः सत्याद्याचरणपुरस्सरं ।
शिल्पादिकसेवनमपि धर्म्यमेवास्तीति सिद्धान्तः ॥

भाषार्थः—अब आपद्धर्मविषय का विचार किया जाता है । धर्म दो प्रकार
का है एक सनातन धर्म और दूसरा आपद्धर्म कहाता है । स्वस्थदशा में सेवने

योग्य वेदादि शास्त्रों में कर्त्तव्य मानकर मनुष्यों के लिये कहा गया सनातनधर्म है। जब सनातनधर्म के सेवने से मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता वा सनातन धर्म के सेवन में असमर्थ हो जाता है उस समय में जिस प्रकार निर्वाह करने के लिये धर्मशास्त्रकारों ने आज्ञा दी है वह आपद्धर्म है। जिस २ ब्राह्मणादि वर्ण के जो २ अध्यापनादि धर्म सम्बन्धी कर्म धर्म शास्त्र में कहे हैं उन का सेवन करना यदि किसी प्रकार देश काल वा वस्तु के भेद से असम्भव हो तो भी सर्वथा अज्ञानान्धकाररूप अधर्म के गढ़े में न गिरना चाहिये किन्तु आपद्धर्मरूप स्वल्पधर्म के सेवन से भी निर्वाह करना अच्छा है। जैसे उत्सर्ग करने पर अपवादस्वयमेव प्रवृत्त होता है अर्थात् सामान्यकर किसी बात के कहने पर विशेषता स्वयमेव खड़ी हो जाती है जैसे धर्मशास्त्र वा वैद्यकशास्त्र में सब काल में सब के लिये सामान्य कर दिन में सोने का निषेध है। परन्तु अपवादरूप से विधान करने पड़ा कि रात को जागने की दशा में ग्रीष्म ऋतु और अजीर्णतादि रोगों में नियत काल तक मनुष्य को दिन में सोना चाहिये। ऐसे अपवादों को कोई रोक नहीं सकता अर्थात् जहां सामान्य की प्रवृत्ति होना दुस्तर हो जाती है वा हो सकने पर उस से विशेष हानि होना सम्भव होता है तब अपवाद दशा खड़ी की जाती है वा करने पड़ती है। वैसे ही आपत्काल स्वयमेव आया करते हैं उस समय जो कर्त्तव्य है वही आपद्धर्म है। सनातनधर्म में बाधा डालने वाला आपद्धर्म हो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। जैसे अपने वर्ण की एक स्त्री के साथ द्विजों का विवाह होना सनातनधर्म है और विधवाओं का आपत्काल में नियोग होना आपद्धर्म है। उस नियोग की गर्भवत्या वा लोक में व्यभिचार द्वारा बुराई फैलने आदि की अपेक्षा उत्तमता और धर्म मानना हो सकता है कि जो एक स्त्री के साथ नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति होने से नियुक्त दोनों स्त्रीपुरुषों की एक सन्तान में प्रीति बढ़ती है। विवाह की अपेक्षा वा विधवा स्त्री को ब्रह्मचर्य (पातिव्रत) धर्म धारण करके जन्मव्यतीत कर देने की अपेक्षा नियोग की उत्तमता नहीं है। इसी कारण जो स्त्री वा पुरुष सनातनधर्म के सेवन से निर्वाह कर सकता है उस के लिये नियोग नहीं है। यदि नियोग कर लूंगी ऐसा मान कर कोई स्त्री अपने पति को मार डाले तो भी नियोग करना दूषित नहीं होता क्योंकि जिस बुराई से बचने और इष्ट की प्राप्ति के लिये जो काम किया जाता है उस से वैसा प्रयोजन सिद्ध न करके कोई विरुद्ध काम करे तो वह करने वाले

का दोष है। जैसे बाल काटने के लिये क्षुरा बनाया गया है उस से कोई हाथ आदि काटले तो यह क्षुरा के बनने में वा बनाने वाले का दोष नहीं किन्तु यह उसी काटने वाले कर्त्ता का दोष है। इसी प्रकार नियोग जिस प्रयोजन के लिये है उस से विरुद्ध करे तो यह नियोग का दोष नहीं किन्तु उस स्त्री का दोष है। क्योंकि यदि नियोगरूप अवलम्ब्य उस को ज्ञात न हो तो वह अन्य पुरुष के साथ भाग जाने आदि बुद्धि से भी पति को मार सकती वा उस से विरोध कर सकती है। और कदाचित् नियोग करने में कोई दोष ही हो तो भी नियोग की अकर्त्तव्यता नहीं सिद्ध हो सकती। जैसे हरिण चर जाने के भय से जो गेंहूँ आदि का बोना नहीं रोक दिया जाता वैसे यहां भी दोष के भय से नियोग को नहीं रोक सकते किन्तु जैसे हरिणों से खेत बचाने के अनेक उपाय किये जाते हैं वैसे नियोग आदि आपत्काल के धर्म में भी जो २ दोष जान पड़े उस को हटाने का उपाय करना चाहिये और विपत्ति के समय में आपदुर्म का तो सेवन अवश्य करना चाहिये नियोग यहां केवल आपदुर्म के उदाहरण में दृष्टान्तरूप से लिखा है। ब्राह्मण दिवर्ण जब अपने २ कर्माँ से जीविका करने में असमर्थ होते हैं तब उन को अपने २ से नीचे वर्ण के कर्माँ से जीविका करनी चाहिये यह भी आपदुर्म है सो लिखा भी है कि “ब्राह्मण आपत्काल में क्षत्रिय के धर्म से जीविका करे क्योंकि यही उस का समीपी है। यदि अपने और क्षत्रिय के दोनों धर्म से जीविका न कर सके तो खेती और गोरक्षा आदि वैश्य की जीविका से निर्वाह करे।” और खेती को ब्राह्मण यत्न से छोड़दे यह कहना किसी अन्य का मत है किन्तु मनु से का नहीं। खेती करना ऐसा बुरा नहीं कि जैसा लोग मानते हैं पाराशर स्मृति में खेती का विधान लिखा है। तथा अन्य क्षत्रियादि को भी वैश्यादि की वृत्ति से आपत्काल में निर्वाह करना चाहिये। आगे आपत्काल के विषय पर महाभारत में शान्तिपर्वान्तर्गत आपदुर्मानुशासन नामक एक अवान्तरपर्व है वहां आपत्काल में सेवने योग्य धर्माँ का साधन और दृष्टान्तों के सहित प्रायः विस्तार से व्याख्यान किया है। उस में सारांश यह है कि आपत्काल में निर्वाह के लिये मनुष्य को नीतिज्ञ और लोक के व्यवहार में चतुर होना चाहिये तब वह अपना सुख से निर्वाह कर सकता है। उसी आपदुर्म के प्रकरण में यह भी लिखा है कि “जिस के साथ जो मनुष्य जैसा वर्त्ताव करता है उस के साथ वैसा ही वर्त्ताव करना धर्म है। अर्थात् खली कपटी वा दुष्ट मनुष्य के साथ खल कपट और

दुष्टता करना तथा श्रेष्ठ सज्जन धर्मात्मा पुरुषों से धर्मानुकूल वर्तना यह दोनों प्रकार का धर्म है । " यद्यपि छल कपटादि करना वास्तव में धर्म नहीं तथापि छल कपटादिरूप काटों से धर्माङ्कुर की रक्षा होती हो तो वे धर्म के सहकारी कारण होने से धर्म मानें जायेंगे । यह भी आपत्काल में ही धर्म है सदा नहीं । "पराया धन हर लेना और अन्याय से किसी की दुःख देने की निष्ठा को सदा छोड़ कर वेदीक्त पञ्चमहायज्ञादि नित्य कर्म और गर्भाधानादि नैमित्तिक कर्म में प्रीति रखते हुए मन वाणी और शरीर सम्बन्धी दश दोषों को छोड़ कर दश लक्षण वाले दयादि नामक धर्म का भित्त्य नियम से सेवन करते हुए ब्राह्मणादि वर्णों को श्यायपूर्वक ही किसी प्रकार की जीविका से आपत्काल में निर्वाह करना चाहिये" । विद्या, शिल्पकारी, नौकरी, सेवा, गोरक्षा, किसी प्रकार की दुकान करना, खेती, सन्तोष, भिक्षा मांगना, व्याज सूद लेना ये दश काम जीविका अर्थात् अन्न धनादि की प्राप्ति के हेतु हैं । इन दश जीविका के हेतुओं में से सब धर्मानुकूल नहीं हैं किन्तु—दायनाम अपना भाग वा हिस्सा दुकान आदि का लाभ तथा बेचना, लड़ाई में जीतना, सूद लेना, कृषि गोरक्षा और शिल्पकारी ये तीनों कर्मयोग में लिये जायेंगे, अच्छा दान लेना ये ही सात प्रकार की प्राप्ति धर्मानुकूल हैं । क्रय के अन्तर्गत होने से भृति भी धर्मानुकूल है । सेवा, सन्तोष कर बैठ रहना और भिक्षा मांगना ये तीनों धर्मानुकूल नहीं किन्तु धर्म से विरुद्ध हैं । यद्यपि सेवा और भिक्षा मांगने की अपेक्षा धैर्य रख कर बैठ रहना अच्छा है तथापि निकम्मापन से लेकर किसी के वस्तु को भोगना अच्छा नहीं । इसी कारण आपत्काल में भी ब्राह्मणादि को इन तीनों का सेवन नहीं करना चाहिये । शिल्पकारी और खेती आदि कर्मों को कोई लोग ब्राह्मणादि के करने योग्य नहीं कहते सो ठीक नहीं क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से मनुजी ने स्वयमेव उन का धर्मानुकूल होना स्वीकार किया है । अर्थात् इन कर्मों का करना अधर्म नहीं । यदि कोई लोग ब्राह्मणादि के विद्याभ्यासादि बड़े २ कर्मों में हानि देख कर शिल्प वा खेती आदि के न करने का प्रतिपादन करते हैं तो ठीक है जो बड़ा काम कर सकता है जिस से अपना वा संसार का बड़ा उपकार होता है तो उस को छोटा काम न करना चाहिये । परन्तु बड़े काम से निर्वाह करना किसी कारण नहीं हो सकता तो छोटे से निर्वाह करना चाहिये इस से शिल्पकारी वा खेती आदि का अधर्म होना सिद्ध नहीं होता । स्वस्थ दशा में जब ब्राह्मणादि लोग विद्याभ्यास

और अध्यापनादि अपने २ कर्मों में निर्वाह कर सकते हैं तब उन को शिल्पशास्त्र खेती आदि में जीविका नहीं करनी चाहिये यह सर्व सम्मत है और आपत्काल में खेती आदि करना भी धर्मानुकूल ही है यह सिद्धान्त पक्ष जानो । भिक्षा मांगना किसी की नौकरी करना सन्तः पर कर बैठ रहना, गाड़ी या इक्का चलाना अनेक प्रकार के छल प्रपञ्च रचना इत्यादि की अपेक्षा खेती और शिल्पादि से निर्वाह करना बहुत ही उत्तम है । कोई लोग खेती करने में जीवहिंसा मानते हैं परन्तु खेती की अपेक्षा गाड़ी इक्का चलाने आदि में हिंसा अधिक है । तथा नौकरी की अपेक्षा खेती में स्वतन्त्रता और प्रसन्नता भी अधिक है ॥

अथ दशमाध्यायस्यप्रक्षिप्तश्लोकसमीक्षणम्

प्रथमं तावत् षडशीतितमपद्यादारभ्य चतुर्णवतितमपद्यावधि नव पद्यानि प्रक्षितानि भान्ति । मिष्टादिरसयुतगुडादिद्रव्याणां गवा-
श्वादिपशूनां रक्तवस्त्राणां शाणक्षौमाविकानामरक्तानामपि विक्रये कोदोषइति कारणं न दृश्यते । श्वेतवस्त्राणामारण्यपशूनां विक्रये च किमर्थं दोषो नास्ति ? इति सएव श्लोकनिर्माता प्रष्टव्यः । यदा चारण्याश्च पशून् सर्वानित्यादिना वन्यगुर्विक्रयेऽपि दोषो दर्शितस्तदा पशवो ये च मानुरा इत्यत्र मानुषविशेषणस्य वैयर्थ्यमापन्नम् । अयं च पारस्परिको विरोधोऽप्येषां पद्यानां प्रक्षिप्तत्वं द्योतयति । कस्यचिद् वस्तुन उपार्जनमेवाधर्मात्कर्तुं शक्यते तस्य विक्रयणमवश्यमधर्मजनकं तद् विक्रयेण स्वजातितः पतनमपि संगतं भवति यथा मांसस्य । लाक्षालवणयोर्विक्रये कोऽसौ महान्दोषो येन सद्यः पततीति न पश्यामः । यदि कस्यचिद्वस्तुनो विक्रये शरीरस्य मालिन्यं स्वकर्मणां च विशिष्टस्यागो जायते तर्हि तस्य वस्तुनस्तैलादेर्विक्रयो यावच्छक्यं न वार्जः । परन्तु तिलानां विक्रये कोऽपि दोषो न लक्ष्यते । महाभाष्ये पृक्तम्—“तैलं न विक्रेतव्यं मांसं

न विक्रेतव्यमिति व्यपवृत्तं च न विक्रीयतेऽव्यपवृत्तं गावः सर्प-
पाश्व विक्रीयन्ते । ” यद्यप्यत्र तिलविक्रयस्य विधानं नास्ति तथापि
गवां विक्रयो विधीयते स च पशवो ये च मानुषा इत्यादिना सार्द्धं
विरुध्यते । तेनानुधीयते महाभाष्यनिर्माणकाले तानि पद्यानि मा-
नवधर्मशास्त्रे नासन्नपितु तदनन्तरं केनचित्प्रक्षिप्तानीति । एवमि-
मानि सर्वाणि पद्यानि विरुद्धान्यसंगतानि च सन्ति तस्मात्प्रक्षि-
प्तानीति चिन्त्यं बुधैः ॥

तदग्रएकशततमपद्यादारभ्याष्टौ पद्यानि प्रक्षिप्तानि प्रतीयन्ते ।
अत्र च निन्दितप्रतिग्रहस्य प्रशंसा प्रदर्शिता सा च पूर्वापरतो वि-
रुध्यते । प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति । प्रतिग्रहः
प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः । इत्यादिरीत्या शुद्धप्रतिग्रहांऽपि दू-
षितः । पुनरत्रोच्यते-पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते । इत्ये-
तत्कथनं कथमुपपद्येत । यदि ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यतीति सत्यं तदा
पवित्रं दुष्यतीति मन्तव्यम् । ब्राह्मतेजसो विघातएव पवित्रस्य
दूषेतत्वम् । एवं पवित्रं दुष्यति तदा निषेधो व्यर्थः । यदि पवित्रं
न दुष्यति तर्ह्यपवित्रं तु दूषितमेव पुनः किं दुष्यति ? । युक्तिवि-
रुद्धं चैतत् । वस्तुतः पवित्रमेव दुष्यति यच्चापवित्रं तदेव पवित्रं
सम्पद्यते । यदि पवित्रं न दुष्येततदा ब्राह्मणाद्युच्चवर्णानां स्वजाति-
तो दुष्कर्मादिना पातित्यमपि न स्यात् । तदा च शुभाशुभकर्मवि-
शेषसेवनाद् ब्राह्मणादिवर्णानामुत्कर्षापकर्षप्रतिपादनपराणि “शूद्रो
ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्” इत्यादीनि धर्मशास्त्रवचांसि
व्यर्थानि स्युः । तस्मात्प्रक्षिप्तानि तानि पद्यानि । पौराणिका इति-
हासा अप्यत्रासंगताः । आपत्काले येन केन प्रकारेण प्राणरक्षा मनु-

ष्येण कर्तव्येति कथनं कथमपि संगच्छते न सर्वथा । किमपि कर्म तादृशं सम्भवति यत्करणापेक्षया प्राणत्यागस्यैव प्राशस्त्यं शास्त्र-
कारैरुक्तं युक्त्या च सम्भवति । मनुष्यमांसभक्षणापेक्षया प्राणत्या-
गएव वरः । न धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोरित्यादिप्रकारेण धर्म-
शास्त्रेषूक्तम् । तस्मादापत्कालेऽपि मनुष्येण विशिष्टाधर्मस्योपार्जनं
न कार्यमपितु तदानीं स्वल्पधर्मसेवनेन निर्वाहः कार्यइत्याशयः ।
एवमिमान्यप्यष्ट पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति । अस्मिन्नध्याये एकत्रिं-
शद्वत्तरशतं पद्यानि सन्ति तेषु सप्तदश प्रक्षिप्तान्यवशिष्टानि ११४
चतुर्दशोत्तरशतं पद्यानि शुद्धानि ज्ञातव्यानीति शम् ॥

भाषार्थः—अब दशमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा करते हैं । प्रथम
छपाशी से चौरानवे तक नव श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । सींठे आदि रस से
युक्त गुड़ादि द्रव्यों गौ आदि पशुओं रंगे वस्त्रों और टसरी रेशमी और ऊनी
वस्त्रों के वेंचने में क्या दोष है ? इस का कुछ कारण नहीं दीखता । श्वेतवस्त्र
और वन के पशु वेंचने में दोष क्यों नहीं है ? यह उसी श्लोक बनाने वाले से
पूछना चाहिये ॥ जब वन के पशु वेंचने का भी निषेध किया तो जो मनुष्य
सम्बन्धी पशु हैं जैसे गौ घोड़ादि । यहां मानुष विशेषण व्यर्थ पड़ता है । यह पर-
स्पर का विरोध भी इन श्लोकों के प्रक्षिप्त होने का प्रकट करता है । किसी वस्तु
का उपार्जन अधर्म से कर सकते हैं उस का वेंचना अवश्य अधर्म का उत्पादक
होगा उस वस्तु के वेंचने से अपनी जाति से पतित होना भी ठीक संगत हो
जाता है जैसे मांस का वेंचना जाति से पतित होने का हेतु है । परन्तु लाख
और लवण के वेंचने में ऐसा बड़ा दोष कौन है ? जिस कारण शीघ्र पतित हो
जाता हो यह नहीं दीखता । यदि किसी वस्तु के वेंचने में शरीर की मलीनता
और अपने वेदोक्त सन्ध्यादि कर्मों का विशेष त्याग वा हानि होती हो तो
उस तेल आदि वस्तु को यावच्छक्ष्य नहीं वेंचना चाहिये । परन्तु तिल वेंचने में
कोई दोष नहीं दीखता । व्याकरण महाभाष्य में भी कहा है कि “तेल और
मांस न वेंचना चाहिये सो पृथक् निकाला हुआ तेल और मांस ही नहीं वेंचा

जाता परन्तु जिस में तेल और मांस व्यापक वा मिला है ऐसे तेल के उपादान सरसों वा गी आदि पशुओं के बेंचने में वह दोष नहीं माना जाता अर्थात् सरसों वा गी आदि के बेंचने से तेल और मांस का बेंचना नहीं लिया जाता । यद्यपि यहां तिलों के बेंचनेकी आज्ञा स्पष्टतः नहीं है तथापि तेल के बेंचने का निषेध दिखाने और जिस से तेल निकलता है उस का विधान जताने से तिल के बेंचने का विधान आ जाता है । जैसा निरुष्ट तिल का बेंचना यहां कहा है वैसा महाभाष्यकार को भी इष्ट होता तो तिल के बेंचने का भी निषेध करते । यदि कोई कहे कि यह व्याकरण है उस में धर्मशास्त्र की व्याख्या क्यों होगी सो नहीं । हमारे यहां सब ऋषियों ने जिस २ विषय के पुस्तक बनाये हैं उन सब में प्रसंगवशात् धर्म अधर्म का भेद वा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार अवश्य दिखलाया है । और गौओं के बेंचने की तो स्पष्ट आज्ञा है सो (पशवो ये च०) ग्राम के पशु न बेंचने चाहिये इत्यादि कथन के साथ विरुद्ध पड़ता है । इस से अनुमान होता है कि महाभाष्य बनने के समय वे उक्त श्लोक मानवधर्मशास्त्र में नहीं थे किन्तु पीछे किसी ने मिलाये हैं । इस प्रकार ये उक्त नौ श्लोक विरुद्ध और असंगत होने से प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं बुद्धिमानों को विचारना चाहिये ॥

तिस के आगे एकसी एकवें श्लोक से लेकर आठ श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं । इन श्लोकों में निन्दित प्रतिग्रह अर्थात् दान लेने की प्रशंसा दिखाई है सो पूर्वापर से विरुद्ध है । चतुर्थाध्याय में लिखा है कि “ उचित दान लेने से भी ब्राह्मण का ब्रह्मतेज घट जाता है ” तथा इसी दशवें अध्याय में लिखा है कि “ दान लेना नीच वा निरुष्ट काम है और दान लेने वाले ब्राह्मण का परलोक बिगड़ जाता है ” इत्यादि प्रकार अनेक स्थलों में अनेक बार कहने से शुद्ध प्रतिग्रह को भी दान न लेने की अपेक्षा दूषित ठहराया है । फिर यहां लिखा है कि “ पवित्र को दोष लगता है यह धर्मानुकूल नहीं बनता ” यह कहना कैसे ठीक होवे ? । यदि निरुष्टदान लेने आदि दुष्टकर्मों से ब्राह्मण का तेज घट जाना सत्य है तो पवित्र दूषित होता है यह मानना चाहिये क्योंकि दुष्टकर्मों से ब्राह्मणपन का बिगड़ना ही पवित्र का दूषित होना है । इस प्रकार जब पवित्र दूषित होता है तो यह कहना कि “ पवित्र को दोष नहीं लगता ” व्यर्थ वा निरर्थक हो गया । यदि पवित्र को दोष नहीं लगता तो किस को लगता है ?

क्योंकि अपवित्र तो स्वयमेव दूषित ही है फिर कौन दूषित होता है ? । और यह युक्ति से भी विरुद्ध है कि जो पवित्र को दोष न लगे। वास्तव में पवित्र ही दूषित होता और जो अपवित्र है वही पवित्र बन जाता है। यदि पवित्र दूषित न हो तो ब्राह्मणादि ऊँच वर्णों का दुष्टकर्मादिके सेवन से अपने ऊँच अधिकार वा जाति से पतित होना भी न बन सके और ऐसा होने पर शुभ अशुभ विशेष कर्मों के सेवन से ब्राह्मणादि वर्णों की उत्तमता निरुप्यता जताने में तत्पर "शूद्र ब्राह्मण हो जाता और ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है" इत्यादि धर्मशास्त्र के वाक्य व्यर्थ हो जावेंगे। इस कारण वे उक्त श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकों में पौराणिक इतिहास भी असंगत हैं क्योंकि यद्यपि आपत्काल में जिस किसी प्रकार प्राण की रक्षा मनुष्य को करनी चाहिये यह कहना किसी प्रकार ठीक है किन्तु सर्वथा ठीक नहीं है। कोई कर्म ऐसा हो सकता है कि जिस को करने की अपेक्षा प्राण का त्यागदेना ही शास्त्रकारों ने उत्तम कहा और युक्ति से भी ठीक जान पड़ता है। आपत्काल में भी मनुष्य का मांसभक्षण करने की अपेक्षा प्राण-त्याग करके मर जाना ही अच्छा है। तथा महाभारतादि में लिखा है कि "अपना जीवन बचाने के लिये भी धर्म को न त्यागे अर्थात् शरीर भले ही नष्ट हो जावे मर जाना स्वीकार कर ले पर धर्म का त्याग कदापि न करे" इत्यादि प्रकार धर्मशास्त्रों में प्रायः प्रमाण मिलते हैं। वेदधर्मानुयायी आर्य लोगों का सनातन काल से यही सिद्धान्त दृढ़ चला आता है कि शरीर तो वैसे भी घटादि के समान अनित्य हैं पर धर्म नित्य है जो मरने पश्चात् जीवात्मा के साथ जाकर जन्मान्तर में भी सुख पहुँचाता है फिर अनित्य वस्तु की रक्षा के लिये नित्यधर्म का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये। और जो ऐसा करता है उस से अधिक मूर्ख वा नास्तिक और कौन होगा ? । वेदविरोधी मनुष्यों का प्रायः यही सिद्धान्त रहता है कि किसी प्रकार का अधर्म क्यों न हो पर प्राण की रक्षा सर्वोपरि है इसी लिये उन का नाम असुर है इस लिये आपत्काल में भी मनुष्य को विशेष अधर्म का उपार्जन न करना चाहिये किन्तु उस समय थोड़े धर्म के सेवन से निर्वाह कर्तव्य है। इस प्रकार ये आठ श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं। इस दशवें अध्याय में सब एकसौ इकत्तीस श्लोक हैं जिन में सत्रह प्रक्षिप्त और एकसौ चौदह ११४ श्लोक शुद्ध जानने चाहिये ॥

अथ प्रायश्चित्तविवेचनम् ॥

प्रायश्चित्तमिति कर्मविशेषस्य नामास्ति यच्चेतसि दुष्कर्मसे-
वनाज्जायमानवैषम्यस्य निवृत्त्यर्थं वेदविदां विदुषामादेशाज्जनैरनु-
ष्ठीयते तत्प्रायश्चित्तं कर्म । प्रायस्य चित्तिचित्तयोरिति वार्तिकेन
सुडागमे कृते शब्दोऽयं निष्पद्यते । तथा चोक्तम्—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।

तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥

प्रायश्च समं चित्तं चारयित्वा प्रदीयते ।

पर्वदा कार्यते यत्तु प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥

अत्र पर्वदा कार्यत इति वचनाद्राजसभयेव वेदविद्विद्वत्सभ-
या देशकालवस्तूनि समीक्ष्य कर्तुमाज्ञाप्यमानं कर्म प्रायश्चित्तमिति
निश्चीयते । राजदण्डवत्प्रायश्चित्तमप्येकविधो दण्डभोग एवास्ति ।
अतएव यथा न्यायेन प्रापितराजदण्डभोगानन्तरं तस्य दुष्कृतक-
र्मणः पुनरस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा फलं न प्राप्यते किन्तु
तस्मात्पापात्स कर्ता मुच्यते । तथैव प्रायश्चित्तेऽपि यथार्थतयाऽनुष्ठिते
तदपराधात्स प्राणी विमुच्यते । ये तस्करदण्डवादयः पापानि कृत्वा
दण्डभोगं नेच्छन्ति तेभ्यो बलात्कारेण राजा दण्डं दत्वा निर्वला-
न्धार्मिकान् रक्षेत् । ये च धर्मात्मानः सन्ति ते कथञ्चिदज्ञानादु-
सङ्गादा पापं कुर्युरनन्तरं तस्य पापकर्मत्वमालोच्य यदि मनो ग्लान-
यात्तर्हि विद्वत्सम्मत्या तैः स्वयमेव दण्डभोगरूपं प्रायश्चित्तमाचर-
णीयमिति प्रायश्चित्तराजदण्डयोर्भेदः ।

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।

प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥

इत्थं त्रय एव प्रकाराः प्रायश्चित्तार्हाणाम् । तस्य च द्वौ भेदौ यदकामतोऽज्ञानाद्वा दुष्कृतं सेव्यते कर्तव्यं वा त्यज्यते तत्रेतरापेक्षया प्रायश्चित्तं स्वल्पमेव क्रियते यच्च कामतो ज्ञानाद्वा क्रियते तत्र पूर्वापेक्षया प्रायश्चित्तबाहुल्यं शास्त्रकारैः प्रतिपाद्यते । ज्ञात्वा क्रियमाणं कर्म यादृशं संस्कारदूषकं भवति न तादृशमज्ञानात्कृतं भवितुमर्हति । इदमेव तयोः प्रायश्चित्तभेदस्य कारणम् । यत्रैकैकस्य महापातकस्योपपातकस्य वाऽनेके प्रायश्चित्तभेदाः प्रदर्शितास्तत्राधिकारिभेदो देशभेदः कालभेदश्च कारणम् । सर्वावस्थासु सर्वस्मिन् काले सर्वस्मिन् देशे वा सर्वैरेकविधं प्रायश्चित्तं कर्तुं न शक्यते । यथा यादृशं दुःखं यूना षोढुं शक्यते न तादृशं वृद्धेन । एवं देशकालयोरपि भेदो व्याख्येयः । दीर्घरोगिणापि स्वस्थवन्निर्बलेन बलवद्वा दुःखं षोढुमशक्यम् ॥

मनुष्येण यादृशं कर्म सेव्यते तादृश्यैवान्तःकरणे वासनाः सञ्चीयन्ते तासामेव सञ्चितपापपुण्यत्वमस्ति । अर्थान्मन एव पापपुण्ययोरधिष्ठानमस्ति । यथौषधसेवनेन रोगाणां निवृत्तिः कर्तुं शक्यते तथैव प्रायश्चित्तेन निकृष्टसंस्काररूपपापानां निवृत्तिर्जायते । यथा वा दीपेनान्धकारस्य रागेण द्वेषस्य विद्ययाऽज्ञानस्य निवृत्तिर्भवति तथैव प्रायश्चित्तेन पापानाम् । तथा चोक्तं योगभाष्ये—

“यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयीगतिः कृतस्याविपक्वस्य नाशः प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति । यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य । योगभा० पा० २।१३।” इत्थमनियतविपाकस्यैव दुष्कर्मणो दण्डभोगरूपौषधेन निवारणाय विशेषेण प्रायश्चित्तानि

सन्ति । यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं नियतविपाकं कर्म तदसाध्यरोगव-
त्प्रायश्चित्तेनापि नैव निवर्तते । तत्रापि क्रियमाणं प्रायश्चित्तं निष्फलं
न भवति । यथा तदेव दुःखं बलवन्तं निर्बलं च भेदेन दुःखयति ।
यथा वा यादृशं दुःखमविद्वांसं व्याप्नोति न तादृशं विद्वांसम् । तथैव
कृतप्रायश्चित्तस्य प्रबलं मनो दुःखं षोढुं शक्नोति । अन्यच्च पुण्य-
सञ्चयरूपप्रायश्चित्तस्य शुभं फलं भविष्यतीत्यनुसन्धाय यथावसरं
सर्वैः प्रायश्चित्तं सेव्यम् । अयमेव धर्मशास्त्रकाराणामाशयः । तच्चै-
तत्प्रायश्चित्तं दण्डभोगरूपमेवास्ति । यदि कानिचिदीदृशानि नवानि
कर्माणि कश्चित्कुर्याद्येषां प्रायश्चित्तं धर्मशास्त्रे विशिष्टं नोक्तं तदा-
सामयिकविद्वद्भिः प्रायश्चित्तं देशकालवस्त्वनुकूलं प्रकल्पनीयम् ।
तथा चोक्तम्—मनुनैवैकादशाध्याये—

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।

शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥

एतदर्थमेव द्वादशाध्याय उक्तम्—

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।

त्रयवरा वापि तृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ इत्यादि ॥

यच्च यस्मिन्नपराधे प्रायश्चित्तं धर्मशास्त्रकद्विरुक्तं तदपि वि-
द्वत्सभासम्भृत्यैव सर्वैरनुष्ठेयम् । जलस्थलादीनां दर्शनस्नानादिकं
मानवधर्मशास्त्रानुकूलं प्रायश्चित्तं नास्ति किन्तु शास्त्रविरुद्धं नूतनं
कल्पनं तत् । अत्र संक्षेपेण प्रायश्चित्तविषय उक्तं विशिष्टं व्या-
ख्यानं भाष्ये द्रष्टव्यम् ॥

भाषार्थः—अब संक्षेप से प्रायश्चित्तविषय का विवेचन किया जाता है ।
प्रायश्चित्त यह शब्द कर्म विशेष का नाम है कि दुष्टकर्मों के सेवन से उत्पन्न हुई

व्याकुलता वा विषमता की निवृत्ति के लिये वेदवेत्ता विद्वानों की आज्ञा से मनुष्य जिस का सेवन करते हैं वह प्रायश्चित्त कर्म कहाता है । प्राय शब्द से परे चित्त को सुट् का आगम होकर यह प्रायश्चित्त शब्द बनता है सो इस का ऐसा ही विद्वानों ने लाक्षणिक अर्थ भी माना है कि “प्रायनास तप और चित्त नाम निश्चय करके युक्त कर्म का नाम प्रायश्चित्त है । चित्त को सम करने के लिये अर्थात् चित्त की विषमता मेटने के लिये जो दिया वा बताया जाता और जिस का सेवन विशेष आन्दोलन के साथ विद्वानों की सभा कराती है वह कर्म प्रायश्चित्त कहाता है ।” इन श्लोकों में सभा के कराने की आज्ञा दिखाने से ज्ञात होता है कि राजसभा के तुल्य वेदवेत्ता विद्वानों की सभा ने देश कालादि का विचार करके करने को कहा कर्म प्रायश्चित्त कहाता है । अर्थात् राजदण्ड के तुल्य प्रायश्चित्त भी एक प्रकार का दण्डभोग है । इसी कारण यदि म्यायपूर्वक अपराधानुकूल ही दुष्टकर्म का फल राजदण्ड भोग लिया हो तो पीछे इस जन्म वा जन्मान्तर में दुष्टकर्म का बुरा फल नहीं मिलेगा । किन्तु वह अपराधी उस पाप से फिर छूट जाता है । वैसे ही यथार्थ रीति से प्रायश्चित्त कर लेने पर वह अपराधी उस पाप से छूट जाता है जो खोर डाकू आदि पापकर्म करके उस का दुःखफल भोगना नहीं चाहते उन को राजा बलपूर्वक दण्डादि द्वारा वश में रख कर निर्बल धर्मात्माओं की रक्षा करे । और जो धर्मात्मा हैं वे किसी प्रकार अज्ञान वा दुःसङ्ग में पड़ के भ्रम से पाप कर लें अर्थात् उन से बुरा काम बन पड़े तो पीछे उस की बुराई को शोचने से यदि सन ग्गानि को प्राप्त हो तो विद्वानों की सम्मति से उन को स्वयमेव दण्डभोगरूप प्रायश्चित्त का सेवन कर लेना चाहिये वा यों कहिये कि धर्मात्मा लोग बुरा काम बन जाने से स्वयमेव उस का दुःख फल भोग कर शुद्ध होना प्रसन्न करते हैं । यही प्रायश्चित्त और राजदण्ड में भेद है ॥

प्रायश्चित्त किस दशा में वा क्रिम को करना चाहिये सो दिखाते हैं कि “वेदादिशास्त्रों में ब्राह्मणादि वर्णों के जो सन्ध्यादि कर्म विहित हैं उन को न करने वाला तथा निन्दित वा जिन के लिये वेदादि में निषेध किया है कि ऐसा काम न करना वैसे पापकर्म का आवरण करने वाला और इन्द्रियों के भोगविषय में लम्पट वा आसक्त ये तीन प्रकार के मनुष्य ही विशेष कर प्रायश्चित्त करने योग्य होते हैं । इस प्रायश्चित्त के दो भेद हैं एक तो बिना इच्छा किये स्वभाव से वा अज्ञान से दुष्टकर्म का सेवन किया जाता अथवा कर्तव्य का त्याग

किया जाता है वहां द्वितीय ज्ञानपूर्वक किये की अपेक्षा प्रायश्चित्त थोड़ा किया जाता है। और जो इच्छापूर्वक वा जान कर बुरा काम किया जाता है उस में पूर्व की अपेक्षा शास्त्रकारों ने अधिक प्रायश्चित्त कहा है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानपूर्वक किया कर्म जितना संस्कार को बिगाड़ने वाला होता है वैसा अज्ञान से किया कर्म नहीं हो सकता। क्योंकि अज्ञान से किये काम का हृदयादि के साथ वैसा पूरा प्रवेश नहीं होता जैसा कि ज्ञान से किये का होता है। इसी कारण इन दोनों प्रकार के कर्मों में भिन्न २ प्रायश्चित्त कहा है सो ठीक ही मन्तव्य है॥

इस मानवधर्मशास्त्र के इसी ग्यारहवें अध्याय में एक २ ब्रह्महत्यादि महापातक वा उपपातक के अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त दिखाये हैं। उस में अधिकारियों का भेद देश का भेद और काल का भेद भी कारण हैं। सब अवस्थाओं, सब काल वा सब देश में सब लोग एक प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं कर सकते। ज्यान् बलवान् और स्वस्थ मनुष्य जैसा दुःख सह सकता है वैसा वृद्ध निर्बल और रोगी वा बालक नहीं सह सकता इस कारण इन के प्रायश्चित्त वा दण्ड में भेद होना चाहिये। लक्षाधीश मनुष्य पर एक सहस्र मुद्रा का दण्ड जितना उस को दुःखदायी होगा उतना ही सहस्र पति की दश मुद्रा के दण्ड से क्लेश हो जायगा और सर्वथा निर्धन दरिद्री मनुष्य को एक मुद्रा का दण्ड भी लक्षाधीश की अपेक्षा विशेष दुःखदायी होगा इसी प्रकार लोक में अनेक प्रकार के अधिकारी हैं उन की योग्यता देख कर जैसे राजदण्डादि की न्यूनाधिक व्यवस्था करनी चाहिये वैसे ही प्रायश्चित्त में भी जानो परन्तु यह काम सामयिक विद्वानों का है। सब देशों और सब कालों में भी सब काम नहीं हो सकते इस कारण भी प्रायश्चित्तों में भेद किया है और करना ही चाहिये। जहां ब्रह्महत्या वा सुरापानादि महापातकों में आत्मघातरूप बध दण्ड ही प्रायश्चित्त लिखा है वह उत्सर्ग है। कहीं किसी ब्रह्महत्या करने वाले के शरीर का बसा रहना कई कारणों से अत्यन्त उपयोगी वा उचित है तो वहां बधदण्डरूप प्रायश्चित्त न कर के अन्य प्रकार का प्रायश्चित्त करा लेना चाहिये। इत्यादि प्रकार एक २ अपराध पर अनेक प्रायश्चित्त कहना मार्थक ही है॥

मनुष्य जैसे कर्म का सेवन करता है वैसी ही उस के हृदय में वासना सञ्चित होती है उन्हीं वासनाओं का नाम सञ्चित पाप वा पुण्य है अर्थात् पाप पुण्यों का आधार मन ही है। जैसे ओषधि के सेवन से रोगों की निवृत्ति हो सकती है

वैसे ही प्रायश्चित्त से निरुष्टसंस्काररूप पापों की निवृत्ति हो जाती है। अथवा जैसे दीपक से अन्धकार की, राग से द्वेष की, और विद्या से अज्ञान वा मोह की निवृत्ति होती है वैसे प्रायश्चित्त से पापों की निवृत्ति जानो। सो योगभाष्य में कहा भी है कि—“जिस जन्मान्तर में फल देने वाले सञ्चित कर्म का फल नियत नहीं कि अमुक देश, काल वा अवस्था में ऐसा फल अमुक पुरुष को अवश्य होगा। वैसे अनियतविपाककर्म की तीन दशा होती हैं। एक तो फलीभूत होने से उस सञ्चितकर्म का नाश हो जाना द्वितीय अपने साथी प्रधान पाप वा पुण्य के साथ मिल जाना और तृतीय नियत जिस का फल है ऐसे सञ्चितकर्म के साथ दबा रहना इन के उदाहरण ये हैं कि जैसे विद्याध्ययन कर लेने से जड़ता वा मूर्खता छूट जाती है विद्वत्ता और मूर्खता दोनों एक काल में एक शरीर में नहीं ठहर सकती वैसे जब प्रायश्चित्तादिरूप शुभ पुण्य सूर्य का उदय हृदय में होता है तब अन्धकाररूप पाप का तत्काल नाश हो जाता है। द्वितीय जैसे जी आदि अन्न के साथ घास के दाने पड़े रहते हैं परन्तु जी बोया जी काटा जी धरा है इत्यादि व्यवहार जी का ही होता है उस में घास के दाने मिल कर पड़े रहने पर भी कुछ हानि नहीं करते इसी प्रकार थोड़ा पाप वा पुण्य अपने विरोधी पुण्य वा पाप के साथ मिला पड़ा रहता है कुछ हानि नहीं कर सकता केवल प्रधान का ही भोग वा व्यवहार होता है। तथा तृतीय प्रधान अपने विरोधी कर्म से तब तक दबा पड़ा रहे जब तक विरोधी की निर्बलता और उस की प्रबलता देश काल वस्तु भेद से न हो। इस प्रकार अनियतफल वाले दुष्टकर्म की ही विशेष कर प्रायश्चित्त से निवृत्ति हो सकती है। और जो जन्मान्तर में नियत फल देने वाला सञ्चितकर्म है उस की असाध्य रोग के तुल्य प्रायश्चित्त से भी निवृत्ति नहीं हो सकती। पर वहां भी प्रायश्चित्त करना इस कारण निष्फल नहीं कि जब शुभकर्मरूप प्रायश्चित्त से उस के मन का सन्तोष वा दृढ़ता होजाने से पाप का फल भोगने के समय में दुःख कम व्यापेगा। जैसे वही दुःख निर्बल और बलवान् को न्यूनाधिक व्यायता है। अथवा जैसे बिद्वान् अविद्वान् दो पुरुषों पर एक ही दुःख आकर पड़े तो अविद्वान् की अपेक्षा बिद्वान् बहुत कम क्लेशित होता है वैसे ही जिसने प्रायश्चित्त कर लिया है उसका मन प्रबल वा दृढ़ हो जाने से बड़े २ दुःखों को छोटा २ मानकर सहज में भोग कर पार हो जाता है ॥

तथा पाप न छूटने में प्रायश्चित्त करना इस लिये भी सार्थक है कि पुण्यकर्म के साथी प्रायश्चित्त के संवित हो जाने से शुभफल होगा ऐसा विचार कर यथावसर सब को प्रायश्चित्त करना चाहिये यही धर्मशास्त्रकारों का आशय है । सो यह प्रायश्चित्त दण्डभोगरूप ही है । यदि कोई पुरुष किन्ही ऐसे नवीन दुष्ट कर्मों को करे जिन का प्रायश्चित्त धर्मशास्त्र में विशेष कुछ नहीं कहा तो वहां सामयिक विद्वानों की चाहिये कि देश काल और वस्तु के अनुकूल नवीन प्रायश्चित्त की कल्पना कर लें । इसी लिये इस मानवधर्मशास्त्र के ग्यारहवें अध्याय में कहा भी है कि “जिन के प्रायश्चित्त नहीं कहे गये ऐसे पापों से मुक्त होने के लिये शक्ति और पाप को देख कर प्रायश्चित्त की व्यवस्था बांध लेनी चाहिये” । इसी लिये बारहवें अध्याय में कहा है कि “दश वा तीन वेदेवता सदाचारी धर्मात्मा विद्वानों की सभा जिस को निश्चित करे उस को प्रायश्चित्तादिरूप से सभी लोग कर्तव्य निश्चित धर्म मानें कोई भी उस का उल्लङ्घन न करे इत्यादि “और धर्मशास्त्रकारों ने जिस अपराध में जो प्रायश्चित्त कहा हो वह भी विद्वानों की सभा की सम्मति से ही सब को सेवना चाहिये इस प्रकरण में यह कोई न समझे कि प्रायश्चित्त से पाप छूटने का सिद्धान्त खड़ा करने से बिना भोग किये पाप छूट जायं गे तो “अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्” यह सिद्धान्त कट जावे क्योंकि प्रायश्चित्त भी एक प्रकार का दण्डभोग है यह लिख चुके हैं इस लिये कर्म का फल अवश्य भोगने पड़ता है यही सिद्धान्त ठीक है । जल और स्थलादिक में स्नान वा दर्शन करना मानवधर्मशास्त्र के अनुकूल प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु वह शास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध नवीन कल्पना है । यहां संक्षेप से प्रायश्चित्त के विषय में कहा गया है इस की विशेष व्याख्या भाष्य में देखनी चाहिये ॥

अथैकादशाध्यायप्रक्षिप्तसमीक्षणम् ॥

तत्रादौ चत्वारिंशत्तमं पद्यं प्रक्षिप्तम् । अल्पदक्षिणो यज्ञो मनुष्येण नैव कार्य इत्यस्य विधिवाक्यस्यार्थवादोऽयम् । स चासम्भवः सम्भवरूपेण चार्थवादेन भाव्यम् । नहि यज्ञो जडत्वादिन्द्रियादीन् हन्तुं समर्थोऽस्ति । यशःकीर्तिशब्दौ पर्यायवाचकौ तयोरुपादाने पुनरुक्तिदोषस्तु स्पष्ट एवास्ति । ऋत्विगादिभ्यो दक्षिणादानं च परिश्रमस्य

फलं तद्दानमन्तरा तस्य कार्यस्य पूर्तिस्तस्मात्फलप्राप्तिश्चासंभवा-
स्ति । यदि कश्चित्सम्प्रति प्राङ्निवाकादिभ्यस्तावद्द्रविणं न दद्याद्या-
वत्तेभ्यो राजद्वारि कार्यसाधनाय दातव्यं तदा तस्य तत्कार्यं सिध्ये-
दिति न सम्भवति यादृश्या यावत्या च सामग्र्या येन कार्येण
सिद्धेन भवितव्यम् । तथाऽपूर्णया तत्कार्यं कदापि सम्यक् सिद्धं
न भवति तथैवाल्पदक्षिणो यज्ञोऽपि सम्यक् सुफलो न भवति ।
तस्मादल्पदक्षिणो यज्ञो नाचरणीय इत्यर्थवादः सम्यग्विज्ञेयः ।
तथा सति स न सम्भवति ॥

तदग्रे द्विचत्वारिंशत्तमं त्रिचत्वारिंशत्तमं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तं
प्रतीयते । शूद्रादिनिरुष्टेभ्योऽपि धनमुपादायाग्निहोत्रं सेवनीयम्
नैतन्निन्द्यं कर्मास्ति किन्तु यदुक्तमूनविंशे पद्ये योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय
साधुभ्यः सम्प्रयच्छति । स कृत्वा कृत्वमात्मानं सन्तारयति तावुभा-
वित्येतस्मात्तद्विरुध्यते । असाधुः शूद्रस्तस्माद्धनमादायाग्निहोत्रे साधु-
कर्मणि संयोजनं शुभकर्मास्ति । सर्वोपकारकं चाग्निहोत्रं महत्कर्म
तत्र संयोज्यमानं वित्तं कथं निकृष्टं स्यात् ? । यो यस्माद्वित्तादिकं
याचनादिद्वारा ग्रहीत्वा कार्यं करोति तत्कार्यं तस्यैव भवति न तु
द्रव्यदातुः । यदा च दाता स्वयं धनादिना भृत्यैरिव ऋत्विक्पुरोहि-
तादिभिर्यज्ञाग्निहोत्रादिकं कार्यं कारयति । तदा ते शूद्राणामृत्विजो
भवितुमर्हन्ति । अस्ति चेत्तत्र द्रव्यदातुरपि कश्चित्फलांशस्तर्हि का नो
हानिः ? । अन्यस्य सुखोदयमसह्यमाना एव मात्सर्यदोषग्रस्ता
भवन्ति । शूद्रधनेन यज्ञेऽनुष्ठिते शूद्रस्यापि कल्याणमस्तु ॥

तदग्रे ११८ । ११९ । १२१ एवं सङ्ख्याकानि त्रीणि पद्यानि
प्रक्षिप्तानि सन्ति । यदाऽवकीर्णिनो लक्षणमेकविंशोत्तरशततमपद्ये-

ऽभिहितम् । पुनरसम्बद्धं तस्य व्रतं कथम्परस्तादेव स्यात् ? । अव-
कीर्णितो वास्तविकं प्रायश्चित्तं च १२२।१२३ एतत्पद्यद्वय उक्तमेव
सामान्यनियमास्तु सर्वत्र वक्ष्यमाणा एव ग्राह्यास्तत्र जपहोमादिकं
यद्यत्कर्तव्यं तदुक्तमेव । काणं गर्दभं हत्वा तन्मांसस्य होमकरणं तु
राक्षसनामेव कृत्यं वेदानुयायिभिस्तु सदैव त्याज्यम् ॥

अग्रे १७४ पद्यं प्रक्षिप्तं प्रतीयते प्रायश्चित्ताभावात् । स्नानं
नैत्यिकं कर्मास्ति तत्तु मनुष्येण कर्तव्यमेव सामान्यतया विहित-
मैथुनसेविन उक्तम् । स्नानं मैथुनिनः स्मृतमिति तदर्थं चेदं कथनं
पुनरुक्तं यच्चाविहितं महन्निरुद्धं शास्त्रविरुद्धं पुंसिमैथुनादिकं तस्य
च स्नानमात्रेण निष्कृतिरसम्भवा । अस्माच्च पूर्वपद्येऽयोनिष्विति
पदेन पुंसिमैथुनादेः सम्भवितं प्रायश्चित्तमुक्तमेव । अतः सर्वथा
प्रक्षिप्तमेवेदम् ॥

अग्रे १८२।१८३ पद्ये प्रक्षिप्ते स्तः । अत्राशौचस्य प्रकरणं
नास्ति पूर्वं परं च प्रायश्चित्तस्य प्रकरणमस्ति । अशौचप्रकरणं च
पञ्चमाध्यायेऽस्ति तत्र यथासम्भवं सर्वमुक्तमेव पतितानां जीवद-
शायामेव मृतवत्क्रियाकरणमपि सम्यङ् नास्ति पतिता यदि स्वे-
च्छया प्रायश्चित्तं नाचरन्ति तदा राजदण्डमर्हन्ति तेन राजदण्डे-
नापि ते चिह्निता भविष्यन्ति तथा चोक्तम्—

चिह्निता राजशासनैरिति । एवं प्रकरणविरुद्धत्वासम्भवत्वा-
दिकारणादिदं पद्यद्वयं प्रक्षिप्तमस्ति ।

अग्रे २०६।२०७ इति पद्यद्वयमपि प्रक्षिप्तमेवास्ति । अस्यै-
वाशयस्य द्वे पद्ये चतुर्थाऽध्याये स्तस्तेऽपि मया क्षिप्त एवोक्ते । अयं
चान्यायो यत्कश्चिद्बालिप्रदानस्य बधदण्डमादिशेत् । तद्ददत्राप्य-

तिस्त्वल्पस्य पापस्याधिकतरदण्डप्रतिपादनमयुक्तम् । अत्रैव २०८ पद्ये तस्यैवापराधस्य सम्भवं प्रायश्चित्तमुक्तं तस्मात्तत्पद्यद्वयं प्रक्षिप्तमस्तीति ॥

तदधो २६१ पद्यं क्षिप्तम्प्रतीयते । असम्भवं कथनमिदं यदि सर्वहत्यानामृगवेदाध्ययनमेव प्रायश्चित्तं स्यात्तदा ब्रह्महत्यादीनां बाहुल्येन पृथक् प्रायश्चित्तकल्पनं व्यर्थं स्यात् । असम्भवं च कथनमिदं तस्मात्प्रक्षिप्तमेव मन्तव्यम् । एवमस्मिन्नध्याये पञ्चपण्ड्युत्तरद्विशतपद्येषु द्वादश पद्यानि प्रक्षिप्तानि शिष्टानि त्रिपञ्चाशदुत्तरद्विशतपद्यानि शुद्धानि सन्तीति ॥

भाषार्थः—अब ग्यारहवें अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार किया जाता है । इस में पहिले चालीशवां श्लोक प्रक्षिप्त है । इस पद्य में बहुत धन के व्यय से पूरा होने योग्य यज्ञ का थोड़े धन से आरम्भ नहीं करना चाहिये इस विधिवाक्य का अर्थवाद कहा है । सो असम्भव है और अर्थवाद सम्भव होना चाहिये । क्योंकि यज्ञ कोई चेतन पदार्थ नहीं किन्तु जड़ है इस से इन्द्रियादि का नाश नहीं कर सकता और इस अर्थवाद में कहा यही है कि इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्त्ति, प्रजा-सन्तान और पशुओं को थोड़ी दक्षिणा वाला यज्ञ नष्ट कर देता है सो ठीक नहीं । यद्यपि यज्ञादि कर्मों में जो दक्षिणा ऋत्विजादि को दी जाती है वह परिश्रम का फल (मेहनताना) है उस का लेन देन नियमानुसार होना चाहिये । जैसे वकील आदि का मेहनताना उस काम और वकीलादि की योग्यानुसार नियत होता है किन्तु यह दान में नहीं गिना जायगा । दान में दान लेने वाले से दाता का उपकार कुछ भी अपेक्षित नहीं किन्तु दक्षिणा में पूरा अपेक्षित है इसी से जहां २ ब्राह्मण को दान लेना बुरा कहा है उस से दक्षिणा का निषेध नहीं हो सकता । इसी कारण जिस कार्य में परिश्रम का फल ठीक नहीं दिया जाता उस में विघ्न होते हैं तथापि वह यज्ञादि कर्म जड़ होने से यजमान की कुछ हानि नहीं कर सकता किन्तु जिन को परिश्रम का फल ठीक नहीं मिलता वे ही विघ्न करते और कर सकते हैं । तथा उक्त श्लोक में यश और कीर्त्ति दोनों पर्यायवाचक पद एक साथ पड़े हैं इस पुनरुक्ति दोष से भी

उक्त श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होता है । यद्यपि इस पुनरुक्ति का समाधान कुल्लूकभट्ट ने किया है तथापि वह सन्तोषजनक नहीं । और जब ऋत्विज् आदि को दक्षिणा देना उन के परिश्रम का फल है तो उस के दिये बिना उस कार्य की पूर्ति वा उस से फलप्राप्ति होना भी असम्भव है । यदि कोई वर्तमान समय में वकीलादि को इतना द्रव्य न देवे जितना उन को राजद्वार (अदालत) में कार्यसिद्ध होने के लिये देना चाहिये तो उस पुरुष का वह कार्यसिद्ध हो जावे यह सम्भव नहीं है । अर्थात् जैसी और जितनी सामग्री वा व्यय से जो कार्यसिद्ध हो सकता है तो उस अधूरे सामान वा व्यय से वह कार्य कदापि ठीक सिद्ध नहीं हो सकता । इसी प्रकार अल्पदक्षिणा वाला यज्ञ भी ठीक सुफल नहीं होता है इस कारण अल्पदक्षिणा वाला यज्ञ नहीं करना चाहिये यही अर्थवाद ठीक है । और जब यह अर्थवाद ठीक है तो वह इन्द्रियादि के नाश का अर्थवाद विरुद्ध हो गया इसी से वह श्लोक प्रक्षिप्त है । इस के आगे ४२ । ४३ दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इन श्लोकों में शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र करने वाले की निन्दा है । परन्तु ध्यान देकर देखा जावे तो घनाभाव में अग्निहोत्र न करने की अपेक्षा शूद्रादि नीच पुरुषों से भी धन लेकर अग्निहोत्र का सेवन करना चाहिये यह निन्दित काम नहीं किन्तु जो इस ग्यारहवें अध्याय के १९ उन्नीशवें श्लोक में कहा है कि “जो नीचों से धन लेकर और श्रेष्ठों को देता है वह अपने को पवित्र करके उन दोनों को दुःख के पार कर देता है” इस कथन से भी यह विरुद्ध है । अर्थात् शूद्र भी असाधु है उस से धन लेकर अग्निहोत्ररूप श्रेष्ठकर्म में लगाना शुभ काम है । अग्निहोत्र सब का उपकारक होने से महोत्तम कर्म है उस में लगाया धन क्यों नीच वा निन्दित काम हुआ । जो कोई जिस से मांगने आदि द्वारा घनादि को लेकर कार्य करता है वह काम उसी कर्ता का होता है किन्तु द्रव्यदाता का नहीं । और जब धनदाता पुरुष घनादि देकर भृत्यों के तुल्य पुरोहितादि से काम कराता है तब वे पुरोहितादि शूद्रों के ऋत्विज् हो सकते हैं । शूद्र से धन लेकर यज्ञ करने में यदि धनदाता शूद्र को भी कुछ थोड़ा फल प्राप्त हो तो हमारी क्या हानि है ? । अर्थात् अन्य की सुख सामग्री का उदय नहीं सह सकने वाले ही मत्सरता के दोष से दूषित होते हैं । शूद्र के धन से यज्ञ करने में शूद्र का भी कल्याण हो तो और भी अच्छा है कि एक काम से दो फल हुए ॥

आगे ११८ । ११९ । १२१ ये तीन श्लोक प्रसिद्ध हैं । अवकीर्णों का लक्षण ही जब एकसौ बीशवें श्लोक में कहा है फिर उस का असम्बद्ध व्रत करना पहिले से ही कैसे हो जावे ? । जिस ब्रह्मचारी ने जान कर व्यभिचार कर लिया हो उस को अवकीर्ण कहते हैं उस का मुख्य प्रायश्चित्त १२२।१२३ श्लोकों में ठीक २ कहा है । और होम करने आदि के सामान्य नियम तो आगे इसी ग्यारहवें अध्याय में कहे अनुसार मानने चाहिये वहां जो २ जप होमादि प्रायश्चित्त में कहे हैं वे ग्रहण करने चाहिये । काने गदहे को मार कर उस के मांस का होम करना तो राजसेा का ही काम है उस का वेदमतानुयायियों को सदा ही त्याग कर देना चाहिये ॥

आगे १७४ श्लोक प्रसिद्ध जान पड़ता है । क्योंकि स्नान करना नित्य का काम होने से प्रायश्चित्त नहीं है सो स्नान तो मनुष्य को करना ही चाहिये सामान्य कर शास्त्र की आज्ञानुसार अपनी स्त्री से मैथुन करने वाले को चाहिये कि मैथुन के पश्चात् स्नान करे तभी शुद्धि होती है इसी प्रयोजन से यदि यह भी श्लोक हो तो पुनरुक्त है । और जो महानीच शास्त्रविरुद्ध वा जिस के लिये शास्त्र में विधान नहीं ऐसा पुंसिमैथुनादि दुष्टकर्म है उस की स्नान कर लेने मात्र से शुद्धि नहीं हो सकती । और इस १७४ श्लोक से पूर्व १७३ श्लोक में अयोन्यि पद करके पुंसिमैथुनादि का सम्भव प्रायश्चित्त कहा ही है इस से वह श्लोक प्रसिद्ध ही है । आगे १८२ । १८३ दो श्लोक प्रसिद्ध हैं । यहां शुद्धि करने वा मानने का प्रकरण नहीं है किन्तु आगे और पीले केवल प्रायश्चित्त का प्रकरण है । शुद्धिप्रकरण पञ्चमाध्याय में है वहां यथाम्भव सब कहा ही है । पतितों की जीवितदशा में ही मरे के तुल्य क्रिया करना ठीक नहीं क्योंकि महापातकी आदि पतित लोग यदि अपनी इच्छा से प्रायश्चित्त का आचरण नहीं करते तो वे राजदण्ड भोगने योग्य हैं अर्थात् राजा उन को बलात्कार दण्ड देवे उस राजदण्ड से जब वे चिह्नयुक्त हो जावेंगे तो उन को मरा समझना नहीं हो सकता सो कहा भी है कि “राजा के शासन से दण्ड के चिह्न को प्राप्त होकर सर्वत्र घूमा करें” इस प्रकरणविरुद्ध और असम्भव होने आदि कारण से ये उक्त दोनों श्लोक प्रसिद्ध हैं । आगे २०६ २०७ ये दो पद्य प्रसिद्ध हैं इसी आशय के दो श्लोक चतुर्थाध्याय में हैं उन को भी हम ने प्रसिद्ध ही ठहराया है । और यह अन्याय है कि जो किसी के गाली देने पर मारडालने का दण्ड दिलाना वैसे यहां भी अतिसूक्ष्म अपराध का अधिक दण्ड कहा है । इसी अध्याय में २०८ श्लोक में उसी अपराध का सम्भव प्रायश्चित्त

कहा है । इस लिये उक्त दोनों पद्य प्रक्षिप्त हैं । आगे २६१ पद्य प्रक्षिप्त है यह विषय जो इस में कहा है असम्भव है । यदि सब हत्या का ऋग्वेद पढ़नामात्र प्रायश्चित्त हो जावे तो ब्रह्महत्यादि महापातकों के अधिक कर बड़े २ पृथक् प्रायश्चित्त कहना व्यर्थ हो जावे । और यह कहना असम्भव वा असंगत भी है कि वेद पढ़ लेने से सब पाप छूट जावें । इस लिये उक्त पद्य प्रक्षिप्त ही है । इस प्रकार इस ग्यारहवें अध्याय के दोसौ पैंसठ श्लोकों से १२ श्लोक प्रक्षिप्त हैं और शेष दो सौ त्रेपन श्लोक शुद्ध जानने चाहिये ॥

अथ कर्मफलविचारः समासत उच्यते—

कर्माणि शुभाशुभानि धर्माधर्मसंचयहेतुकानि शास्त्रेषु कर्तव्यत्वेन विहितानि निषिद्धानि वा तेषां फलान्यपितादृशान्येव शुभाशुभादिरूपाणि भवन्ति । तेषां च कर्मणां त्रैविध्यं मनोवाग्देहसम्भवात् । मानसकर्मणां फलं मनसा वाचिकानां वाचा कायिकानां च कायेनैव दृष्टजन्मन्यदृष्टजन्मनि वा मनुष्यो भुङ्क्ते । ससाधनस्य साधिष्ठानस्य च क्षेत्रज्ञस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रेक्षावद्भिरभ्युपगम्यते । केवलस्य चात्मनः भोक्तृत्वं प्रतिषिध्यते । नाशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति । न च केवलानां शरीरादीनामधिष्ठानत्वं साधनत्वं वास्ति । शरीरं करणानि चादृष्टजन्मनि तारतम्येन सुखदुःखसाधनरूपाणि कर्मभेदादेवोत्पद्यन्ते । धर्मबाहुल्येन स्वर्गाख्यं विशिष्टं सुखमुपलभतेऽधर्मस्याधिकतया सेवनेन नरकाख्यं विशिष्टं दुःखमुपलभते । कर्मभिरेव प्राणिदेहेषु प्रधानास्सत्त्वादिगुणास्तदवयवास्तेषामवान्तरभेदाश्च प्रतिशरीरं भिन्नाभिन्ना एवोपलभ्यन्ते । तथा चोक्तम्—

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।

एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥

कर्मभेदादेवोच्चावचेष्वधिकारेषु निकृष्टोत्तमयोनिषु च सलिङ्गशरीराः क्षेत्रज्ञा आत्मानः प्रतिक्रियं भ्रमन्ति । अतएवोक्तम्—

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव कर्मणा ।

धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मन इति ॥

यानियानि शुभाऽशुभानि कर्माणि मनुष्येण दृष्टजन्मनि से-
व्यन्ते तेषां यदि तस्मिन्नेव शरीरे फलं न भुज्यते तदा तद्विपाको
जात्यायुर्भोगा अदृष्टजन्मनि भवन्ति तेषामेव जात्यादीनां फलरूपा-
णां विशिष्टो विस्तारः स्वानुभवेन मन्वादिमहर्षिभिरुक्तः । महान्तो
बुद्धिपारङ्गता वाचस्पतयः परिडिता ज्ञानचक्षुषा वर्तमानदेहेषु का-
निचिच्छक्षणानि दृष्ट्वाऽनुमिन्वन्ति—यदयं जीवात्माऽतः पूर्वजन्म-
न्यमुकयोनावीदृशममुकं कर्माचरितवान् तस्येदं फलं जात्यादिरूपं
सम्प्रति प्राप्तम् । योगिन एवैवम्भूतान्विषयान्याथातथ्येनानुभवितु-
मर्हन्ति । कर्माणि कानि चिन्नित्यानि ब्रह्मयज्ञादीन्यध्यापनादीनि च
गर्भाधानादीनि च नैमित्तिकानि । तत्र नैत्यिककर्मणा चुन्नितृत्यु-
पायवत्फलमपि नित्यमेवास्ति । नैमित्तिकगर्भाधानादिकर्मणां पु-
त्रायुत्पत्तिर्नैमित्तिकमेव फलमनुसन्धेयम् । उत्तममध्यमनिरुष्टानां
त्रिविधकर्मणां त्रिविधमेव फलम् । उत्तमकोटिस्थस्य कर्मणः स्वर्गफलं
निरुष्टस्य नरकफलम् । मध्यमस्य च मध्यममेव सुखदुःखमिश्रितं
फलं रजोगुणप्रायं भवति । तमोगुणप्रधानाः कृमिकीटादयो नारकाः
सत्त्वगुणस्थाश्च प्रायशः स्वर्गीयाः प्राणिनो बौद्धव्याः । केचिज्जना
नरकस्वर्गौ विलक्षणौ परोक्षावदृश्यावेव स्त इति मन्यन्ते वयं च
तेषां परोक्षत्वमनिवारयन्तः प्रत्यक्षत्वमप्यभ्युपगच्छामः । यथा बह-
वो लोकास्तेषां विशिष्टस्थानानि च परोक्षाणि सन्ति तत्र सुखवि-
शिष्टहेतूनि स्वर्गस्थानानि दुःखविशेषहेतूनि च नरकाणि सन्ति ।
तथा प्रत्यक्षभूतायां भूमावपि स्वर्गनरकस्थानानि सन्ति स्वर्गरूपसु-

खानुभवकाः सर्वसुखभोगसाधनसम्पत्तिसम्पन्नेषु स्थानेषु निवसन्तो
विद्याबुद्धियुताः पुरुषा देवा इत्युच्यन्ते । अतएवोक्तम्—

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥

एतेन ज्ञातव्यम्—यत्सात्त्विकमध्यावस्थायां वर्तमाना एव दे-
वादयः । मुक्तिरपि कर्मभिरेव निष्पद्यते तदर्थमपि मनुष्येण फलभो-
गोत्कण्ठाराहित्येन धर्मएव सेवनीयः । यद्यपि तत्र दुःखप्रतियोगिनः
कस्यचित्सुखस्योपभोगो नास्ति तथापि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयो-
गस्य सत्त्वान्मुक्तस्यात्यन्तं सुखमिति वक्तुं शक्यते । यथा वस्त्रादेर्म-
लनिवृत्तिः स्वच्छत्वसम्पत्तिश्च प्रक्षालनादिरूपस्य कर्मण एव फल-
मिति शिष्टैरभ्युपगम्यते । तथैवान्तःकरणस्थदुष्कृतवासनानां तज्ज-
न्यस्य दुःखस्य च विशिष्टा निवृत्तिरपि मानवादिधर्मशास्त्रोक्तस्य व-
र्णाश्रमधर्मस्य निर्व्याजतया निष्कामतया चानुष्ठानेनैव सम्भवति ।
इमामेवानतिशयामवस्थां ध्यायिनो मुक्तिमाचक्षते । तथा चोक्तम-
स्यैव धर्मशास्त्रस्य द्वादशाध्याये—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥१॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।

निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥२॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।

निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥३॥

एवं सति मुक्तेः कर्मफलत्वं निराकुर्वाणाः प्रत्युक्ता भवन्ति ।

वेदाभ्यासे च यत्नवानिति वदता तदशोपयोगिनां कर्मणां कर्तव्यत्वं

सूच्यते । इदञ्च कर्मफलविवेचनं संक्षेपेणैवोक्तम् । ये विषया म-
योपोद्घातारम्भ उद्दिष्टास्तेषां तेनैव क्रमेण संक्षेपतो विचारः कृत
इदानीमुपोद्घातः समाप्यते । द्वादशाध्याये च किमपि पथं प्रक्षि-
प्तं न दृश्यते । अतोऽग्रे प्रतिज्ञानुसारेण मानवधर्मशास्त्रस्य भाष्यं
विधास्यामः ॥

भाषार्थः—अब संक्षेप से कर्मफलों का विचार किया जाता है । धर्म वा अ-
धर्म का सञ्जय कराने वाले शास्त्रों में कर्त्तव्य बुद्धि से विधान किये वा छोड़ने के
लिये निषिद्ध किये शुभ अशुभ अच्छे बुरे दो प्रकार के कर्म हैं उन के फल भी वैसे
ही शुभ अशुभरूप होते हैं । वे कर्म मन वाणी और शरीर से उत्पन्न होने से तीन
प्रकार के हैं । मानस कर्मों का फल मन से वाचिकों का वाणी से और शरीर से
होने वाले कर्मों का फल शरीर से ही इस जन्म में वा जन्मान्तर में मनुष्य भो-
गता है । इन्द्रियादि साधन और भोग के आधार शरीर के साथ रहने पर ही
जीवात्मा का कर्त्ता भोक्ता होना विद्वान् लोग स्वीकार करते हैं और इसी से
केवल आत्मा के भोक्ता होने का निषेध भी करते हैं । वात्स्यायन ऋषि ने न्या-
यभाष्य में लिखा है कि “ शरीररहित आत्मा को कुछ भोग नहीं होता ” और
केवल शरीरादि भी सुखदुःखादि के साधन नहीं हो सकते अर्थात् इन्द्रिय और
शरीर के द्वारा मनुष्य को सुख दुःख का भोग प्राप्त होता है । जब धर्म का अ-
धिक सेवन करता है तो सर्वोत्तम स्वर्गनामक सुख को प्राप्त होता और अधर्म
के अधिक सेवन से नरकनामक विशेष दुःख पाता है । कर्मों से ही प्राणियों के
शरीरों में प्रधान सत्त्वादि गुण और उन के अवयवरूप अवान्तर भेद प्रत्येक
शरीर में भिन्न २ प्रतीत होते हैं इसी लिये मनु के १२ अध्याय में कहा है कि
“ ज्ञानरूप सत्त्वगुण अज्ञानस्वरूप तमोगुण और रागद्वेषरूप रजोगुण माना है ।
अर्थात् इस शरीर में कर्मभेद से न्यूनाधिकभाव को प्राप्त हुए सत्त्वादिगुण व्याप्त
रहते हैं । ” कर्म के भेद से ही ऊँच नीच अधिकारों और ऊँच नीच योनियों में
लिङ्गशरीर के सहित जीवात्मा प्रतिक्षण भ्रमते रहते हैं । इसी लिये मनु० अ० १२
में कहा है कि “ इस जीवात्मा की अपने कर्म से ही अनेक प्रकार की दशा संसार
में देख तथा धर्म और अधर्म के मेल को छोड़ कर केवल धर्म में मन को धारण
करे ” जिन २ शुभ वा अशुभ कर्मों का सेवन मनुष्य वर्तमान जन्म में करता है ।

उन कर्मों का यदि उसी शरीर में फलभोग नहीं होता तो उस को जाति कि कैसे कुल में जन्म होना, अवस्था कितनी और कैसा भोग हो यह तीन प्रकार का फल जन्मान्तर में होता है। इन्हीं फलरूप जाति आदि का विशेष विस्तार मनु आदि महर्षियों ने अपने अनुभव से किया है कि ऐसा २ कर्म करने से जन्मान्तर में अमुक २ जाति वा योनि में जन्म होता है। सो यह बुद्धि के पार पहुंचे ज्ञान से देखने वाले लोकोत्तर पण्डित लोगों को वर्तमान प्रत्यक्ष शरीरों में किन्हीं लक्षण वा चिन्हों को देख कर भूतपूर्व उन के कारणों का यथार्थ अनुमान कर लेना कुछ आश्चर्य नहीं है कि यह जीवात्मा इससे पूर्वजन्म में अमुक योनि वा जाति में रह कर अमुक कर्म करता रहा उस कर्म का यह जाति आदि रूप इस समय फल प्राप्त हुआ है। ऐसे परोक्ष विषयों का ठीक २ अनुभव योगी लोग ही कर सकते हैं। कोई सन्ध्या वा पढ़ाने आदि ब्राह्मणादि के नित्य कर्म हैं और कोई गर्भाधानादि नैमित्तिक हैं। भोजन से नित्य क्षुधा की निवृत्ति के समान नित्य कर्म का फल भी नित्य २ ही प्राप्त होता जाता है और नैमित्तिक गर्भाधानादि कर्मों का पुत्रोत्पत्ति आदि नैमित्तिक ही फल होता है। उत्तम मध्यम निकृष्ट इन तीन प्रकार के कर्मों का फल भी वैसा ही त्रिविध होता है। उत्तम कोटि के कर्मों का फल स्वर्गनामक, निकृष्ट का नरक और मध्यम का सुखदुःख मिला हुआ रजोगुणसम्बन्धी फल होता है। तमोगुण में पड़ने वाले कमिकीटादि नीचकर्मों के नरक फल गामी होते और सत्त्वगुणी प्राणियों का प्रायः स्वर्गसुख के भागी वा निवासी जानना चाहिये ॥

कोई लोग संसारी प्रत्यक्षदशा से विलक्षण अदृश्य और परोक्ष नरक स्वर्ग हैं अर्थात् किसी निज स्थान का नाम नरक और स्वर्ग है ऐसा मानते हैं। हम लोग उन नरक स्वर्गों के परोक्ष होने का खण्डन न करके प्रत्यक्ष भी नरक स्वर्गों का ग्रहण करते हैं। वैसे बहुत लोक और उन के विशेष स्थान परोक्ष हैं वहां सुखविशेष के हेतु स्वर्गस्थान और दुःख विशेष के हेतु नरकस्थान भी हैं कि जैसे पृथिवी पर स्वर्गनाम सुख विशेष के हेतु और नरकनाम दुःख विशेष के भोग-स्थान प्रत्यक्ष दीखते हैं इसी प्रकार अन्य सब परोक्ष लोकलोकान्तरों में भी स्वर्ग नरक होना बन सकता है परन्तु यह नहीं हो सकता कि स्वर्ग नरक किसी एक ही स्थल में हों और सर्वत्र न हों। जैसे सम्प्रति प्रत्येक नगर वा जिलों में बन्धागार (जाहिलखाना) बनाये जाते हैं वैसे ही सुखदुःख की सामग्री सर्वत्र जानो। सब सुखों के भोगों की सामग्री जहां विद्यमान है ऐसे स्थानों में बसते

स्वर्गरूप सुख का अनुभव करने वाले विद्याबुद्धिसम्पन्नपुरुष देव कहाते हैं। इसी से कहा है कि यज्ञ करने वा वेद पढ़ने वाले ज्ञानी लोग जो कि सत्त्वगुण की मध्यावस्था में रहते हैं वे ही देवता हैं। मुक्ति भी कर्मों से ही सिद्ध होती है इस से मुक्ति पाने के लिये भी मनुष्य को फलभोग की आशा छोड़ कर धर्म का ही सेवन करना चाहिये। फल प्राप्ति की इच्छा छोड़ कर सेवन किये कर्मों से उत्पन्न होने पर भी मुक्ति कर्मफल से पृथक् नहीं रह सकती क्योंकि अकस्मात् भी कर्मों का फल मिलता है चाहना का बन्धन मानें तो घुरे कर्म के दुःखफल की चाहना कोई नहीं रखता। यद्यपि मुक्ति में दुःख के विरोधी किसी सुख का भोग नहीं है तो भी दुःख के अभाव का नाम सुख होने से मुक्त को अत्यन्त सुख होना कह सकते हैं। जैसे प्रक्षालन धोने आदि कर्म से वस्त्रादि के मल की निवृत्ति और निर्मलता की प्राप्ति कर्म का ही फल है ऐसा शिष्ट लोग मानते हैं। वैसे ही अन्तःकरण में रहने वाली पाप की वासना और उन से होने वाले दुःख की विशेष निवृत्ति भी मनु आदि धर्मशास्त्र में कहे वर्णाश्रम धर्म का बहाना और कामना को छोड़ कर सेवन करने से हो सकती है। इसी सर्वोत्तम मनुष्य की दशा को विचारशील मुक्ति कहते हैं। सो इसी धर्मशास्त्र के बारहवें अध्याय में कहा है कि “वेदोक्त कर्म दो प्रकार का है—संसार में वा जन्मान्तर में जिस के फल की इच्छा हो जिस से देवाधिकार प्राप्त हो सके वह प्रवृत्त कर्म और द्वितीय केवल निष्काम ज्ञानपूर्वक ईश्वर की उपासनादि कर्म निवृत्त कहाता है इसी का फल मुक्ति है” ऐसा होने पर जो लोग मुक्ति को कर्म का फल नहीं मानते उन का उत्तर आ जाता है वेद का अभ्यास करने में यत्न करता रहे इस कथन से उस संन्यासदशा के उपयोगी कर्मों के करने का विधान और अतिवृद्ध होने वा गृहादि के न होने से अग्निहोत्रादि कर्मों का त्याग सूचित किया है। यहां कर्मफलों का विवेचन संक्षेप से किया गया और विद्वानों को थोड़ा कथन ही बहुत होता है। जो विषय हम ने उपोद्घात के आरम्भ में उद्देशमात्र गिनाये हैं उन सब का क्रमानुसार संक्षेप से विचार किया अब उपोद्घात समाप्त किया जाता है। बारहवें अध्याय में प्रक्षिप्त श्लोक कोई नहीं दीखता। इस भूमिका में भ्रम से वा छपने आदि के दोष से कोई अशुद्धि रह गयी थी उन का शुद्धिपत्र बनादिया है वहां से शोध लेना चाहिये। अब आगे प्रतिज्ञा के अनुसार मानवधर्मशास्त्र के भाष्य का प्रारम्भ किया जायगा ॥

इति भीमसेनशर्मकृतो मानवधर्मसीमांसाभाष्यस्योपोद्घातः समाप्तः ॥

अथ मानवधर्ममीमांसीपोद्घातस्यशुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पं०	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१४	१७	वेवरसाहवः	व्यूतरसाहवः
”	२५	माविभवति	माविर्भवति
१५	२	श्चतुर्वेद	श्चतुर्वेद
१७	३	निष्ठम् ।	निष्ठम् ।
१८	१५	वेवर	व्यूतर
”	२१	वेवर	व्यूतर
२०	१६	प्रका	प्रक
२५	६	दिखा	दिखाया
२७	२३	पुस्तकाकृ०	पद्याकृति०
२८	१६	पुस्तकाकारेण	पद्यकारेण
२८	२०	प्रक्षिप्र	प्रक्षिप्त
३२	१७	ससय	समय
३३	११	आवश्ययकता	आवश्यकता
३८	११	वैदिङ्कर्म	वैदिकङ्कर्म
३८	२१	कर्तु	कर्तुं
४६	८	क्वचिञ्	क्वचिज्
५०	२	तिरोहित	तिरोहित ही
५५	१४	प्रजयते	प्रसजयते
६३	२१	चिदानृशं	चिदानृशं
७०	८	धर्म	धर्म
”	२०	दम्भ	दम्भ
७३	२१	इन्द्रियो	इन्द्रियों
८१	७	नाछष्टे	नाचष्टे
८६	८	जानाना	जानना
८७	७	विरुद्ध	विरुद्ध
८८	१५	व्यूतर	व्यूतर
९१	२	मित्यं	मित्यं

पृष्ठ	पं०	अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१०३	१९	शुश्रुत	सुश्रुत
”	२५	”	”
१०९	८	शब्दस्य स्पर्श ।	शब्दस्पर्श
११०	१२	मवयविव्यो	मवयवविव्यो
११७	१९	त्खण्डद्वयेन	त्खण्डद्वयेन
११८	१४	मापन्ना	मापन्नास्त्री
११८	१८	प्राणब्दा	प्राणशब्दा
१२०	८	क्यशते	शक्यते
१२२	२२	कियेउ नमें	किये उन में
१२९	२४	सकसा	सकता
१३१	२२	मानमर्थ	मानमर्थ
१४०	७	पुरुषेणे	पुरुषेणै
१४०	१६	नेकामिः	नेकाभिः
१४३	२१	सादृश	तादृश
१४६	१९	द्विचन	द्विवचन
१४६	२०	होती है	होता है
१५०	३	घोड़े	घोड़े
१५३	५	आहुभुक्त	आहुंभुक्त
१५४	१६	सेव्यते	सेव्यन्ते
१५९	२९	केराने	कराने
१६२	११	अन्तत्य	अत्यन्त
१६४	२	आहु	आहु
१६६	५	ब्राह्मणा	ब्राह्मणा
”	८	वृत्तं	प्रवृत्तं
१६८	३	नामां	नां
”	९	ध्यादि	ध्यायादि
१७२	८	तच्छिष्याः	तच्छिष्याः

मानवधर्मनीमांसीपोद्घातस्य शुद्धिपत्रम् ॥

पृ पं० अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
१७३ ७ प्रत्याप्यते	प्रत्याप्यते
१८२ २४ सञ्चित	सञ्चित
” ” वर्त्तमान	वर्त्तमान
१८९ २० साप्तातै	साप्तास्तै
” २३ सम्भवन्ति	सम्भवन्ति
२०३ ५ चाहिजे	चाहिजे
२०८ ५ दुःखसागर	दुःखसागर में
२१२ ८ चिन्तन	चिन्तन
२१२ १८ आनन्दस्वरूप	आनन्दस्वरूप
२१३ ८ हेतुं	हीतुम्
२१८ ३ षट्क्यु	षट्यु
२२४ १२ आहारा	आहाराः
२२६ १३ गुणो	गुणी
२४३ २९ वस्त्राहि	वस्त्रादि
२४५ २२ पद्यात्रयो	पद्यात्त्रयो
२४६ २१ निषिद्धि ।	निषिद्धम् ।
२४८ १२ दुर्षित	दूर्षित
२६८ १ वानस्थ	वानप्रस्थ

पृ० पं० अशुद्धम् ।	शुद्धम् ।
२७१ ४ धर्मा-	धर्मात्मा
२७४ १ पद्यपि	यद्यपि
” १५ रर्षिताः	दर्षिताः
” १६ ता	तां
२७५ ७ समक्ष	समीक्ष्य
२८४ ६ त्तितीयं	द्वितीयम्
२८९ २४ सापिण्ड	सपिण्ड
३०० १८ तिथिना	तिथिना
३०७ २६ मन्युः	मनुः
३१० १२ शुश्रुता	सुश्रुता
३११ २२ युधिरष्ठिर	युधिष्ठिर
३१४ ११ प्रचेति	प्रचैति
३१६ १४ अवान्तर्मे	अवान्तरमे
३४० २० मनु से का	मनु का
३४४ ८ शदुत्तर	शदुत्तर
३५५ ५ राक्षस	राक्षसा
३६३ २९ (जाहिलखाना)	(जेलखाना)

सूचना ॥

सब वेदमत के मानने वाले विचारशील महाशयों को ध्यान देना चाहिये कि आज कल वेदानुयायियों के धर्म और धर्मशास्त्रों के ऊपर महान् आपत्तिकाल आगया है इस वैदिकसिद्धान्त के अनेक प्रबल शत्रु खड़े हो गये हैं जिन से बचाकर इस वैदिकसिद्धान्त को हरा भरा रखना आप लोगों का काम है । जब इस भारतवर्ष में वैदिकसिद्धान्त का शत्रुरूप कोई प्रबल अन्य द्वीपादिका वा बौद्धादि मत नहीं था तब वेदमत निर्बिवाद माना जाता था परन्तु अब वह समय नहीं रहा अब हम को कारणवाद देकर वेद और धर्मशास्त्रों के सिद्धान्त को प्रबल ठहराने की आवश्यकता पड़ गई है इसी लिये मैंने मनुस्मृति भगवद्गीता और उपनिषदादि पुस्तकों पर भाष्य करना प्रारम्भ किया है जो लोग इन भाष्यादि को देखेंगे वे बौद्ध वा ईसाई आदि मतों से न दब कर अर्थात् उन्हीं को परास्त करके वैदिक-सिद्धान्त की निस्सन्देह रक्षा कर सकेंगे । इसी लिये निम्नलिखित प्रकार से उन पुस्तकों के मूल्य आदि का व्योरा देख कर पुस्तक मंगाने चाहिये । जो महाशय पुस्तकादि के विषय में कुछ अधिक पूछना चाहें तत्काल लिख कर पूछ लें शीघ्र ही उत्तर दिया जाता है

अथ वैदिकसिद्धान्त के पुस्तक ॥

वाजसनेय (ईश) ॥ तलबकार (केन) ॥ कठ १) प्रश्न ॥ मुण्डक ॥—
 माण्डूक्य ॥ तैत्तिरीयोपनिषद् १) ये सात उपनिषद् संस्कृतभाषावृत्ति सहित
 एकट्ठे लेने वालों को ३॥) ही में दिये जायेंगे । डाकव्यय पु० ७ का ॥ ईश, केन
 कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य छः उपनिषद् मूल ॥ सद्भिचारनिर्णय (व्यंकटगिरि
 के उत्तर) ॥ ब्राह्ममतपरीक्षा (ब्राह्मसमाजियों के उत्तर) ॥ तीर्थविषय ॥
 विवाहव्यवस्था ॥ द्वैताद्वैतसंवाद ॥ अष्टाध्यायीमूल अधिकारादिसंकेतसहित
 अर्थात् प्रकरणबद्ध ॥ न्यायदर्शन मूल सूत्रपाठ ॥ देवनागरी की वर्णमाला ॥
 तथा एक रुपये में १०० सौ प्रति । आर्यसिद्धान्त १ । २ । ३ । ४ भाग ४८ अङ्क
 जिल्दसहित ३) आर्यसिद्धान्त प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ भाग ४८ अङ्क बिना
 जिल्द २॥) यज्ञोपवीतशङ्कासमाधिः — मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका २) जो
 एक २ मँगावेंगे उन को आर्यसिद्धान्त मनुभूमिका तथा उपनिषद्छोड़ के प्रत्येक
 पर ॥ डाकव्यय देना होगा ॥

आर्यसिद्धान्त अर्थात् वैदिकमतप्रचारक २० पृष्ठ ८ पेजा रायल मासिक पत्र
 वार्षिकमूल्य १॥) गीताभाष्य संस्कृत तथा भाषा टीका युक्त अङ्क ३२ पृष्ठ अठपेजा

हिमाचल मासिकपत्र वार्षिक मूल्य २) इन्हें के छः रुपये देने से पूरा भाग्य मिलेगा।
समुद्रनिषाण ३२ पृष्ठ अठपेजा रायल मासिकपत्र वार्षिक मूल्य हाकव्यवहित २॥

मन्यनङ्गीत ॥ कुमारीभूषण ॥ शास्त्रार्थसुजा ॥ सत्यधर्मरत्नमाला ॥
आर्य समाजपरिचय ॥ स्वधर्मरक्षा ॥ वेदान्तप्रदीप ॥ छन्दरत्नावली ॥ सदु-
पदेश ॥ मञ्जुदेशहितैषी के गुणों पर एक व्याख्यान ॥ संस्कृतप्रदेशिका ॥
संस्कृत का प्रथम पुस्तक ॥ संस्कृत का द्वितीय पुस्तक ॥ इन पुस्तकों का
हाक महसूल पृथक् हाक को देना होगा ॥

प्रस्तवर्षदर्पण ॥ नारीसुदशप्रवर्तन भागधारो १॥ गोरक्षार्थदीपिका ॥ आर्य-
तत्त्वदर्पण ॥ करपल्लवी ॥

ये सब पुस्तक बाहर के हैं इन पर कमीशन नहीं मिलेगा ॥

विशेष नियम—

जो महाशय मासिक पुस्तक प्रक्रिया से भिन्न स्वतन्त्र बिकने वाले उपनि-
षद् आदि पुस्तकों की ६—१० रुपये तक के लेंगे उन को पचाश कमीशन मिले
गा। १०—२५ का पंचमांश, २५—५० तक पर चतुर्थांश और ५०—१०० के भीतर
तृतीयांश तथा पूरे १०० से आगे पुस्तक रोक दाम पर लेने से आधे मूल्य पर
दिये जावेंगे। इन सब कमीशन की दशाओं में दाम रोक (नगद) लिया
जायगा। और सब हाकव्यव हाक को देना होगा। जिन की इच्छा हो सेंगार्वे
पर इस दशा में सात उपनिषदों के समुदाय पर चतुर्थांश कम ३॥) न होमा ॥

संगाने का पता—

ॐ भीमसेन शर्मा

सरस्वतीयन्त्रालय भण्डारीपुल

प्रयाग